सेपियन्स के लेखक की ओर से

युवाल नोआ हरारी

21वीं सदी के लिए 21 सबक़

अनुवाद : मदन सोनी

सेपियन्स के लेख

युवाल नो

21 वीं सदी
के लिए
21 सबक़

मंजुल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित युवाल नोआ हरारी
की अन्य पुस्तकें

सेपियन्स : मानव-जाति का संक्षिप्त इतिहास

होमो डेयस : आने वाले कल का संक्षिप्त इतिहास

युवला नोआ हरारी

21 वीं सदी के लिए 21 सबक़

अनुवाद : मदन सोनी

MANJUL
मंजुल पब्लिशिंग हाउस

मंजुल पब्लिशिंग हाउस

कॉरपोरेट एव संपादकीय कार्यालय

• द्वितीय तल, उषा प्रीत कॉम्प्लेक्स, 42 मालवीय नगर, गोपाल-462 003

विक्रय एवं विपणन कार्यालय

• 7/32 , अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

वेबसाइट : www.manjulindia.com

वितरण केन्द्र

अहमदाबाद, बेंगलुरू, भोपाल, कोलकाता, चेन्नई, हैदराबाद, मुम्बई , नई दिल्ली, पुणे

मूल अंग्रेजी संस्करण जॉनाथन केप द्वारा 2018 में प्रकाशित

युवाल नोआ हरारी द्वारा लिखित मूल अग्रेजी पुस्तक
ट्वेन्टी वन लेसन्स फ़ॉर द टवेन्टी फ़र्स्ट सेन्चुरी का हिन्दी अनुवाद

21 Lessons for the 21st Century by Yuval Noah Harari - Hindi Edition

कॉपीराइट © युवाल नोआ हरारी, 2018

हिन्दी अनुवाद कॉपीराइट © 2020 , मंजुल पब्लिशिंग हाउस
सर्वाधिकार सुरक्षित

यह हिन्दी संस्करण 2020 में पहली बार प्रकाशित

ISBN 978-93-89647-31-0

हिन्दी अनुवाद : मदन सोनी

डिज़ाइन © सुज़ैन डीन
कवर पेन्टिंग वी शेयर अवर केमिस्ट्री विद द स्टार्स, मार्क क्विन,
ऑइल ऑन केनवस श्रंखला से © एवं सौजन्य मार्क क्विन स्टूडियो

ओल्डस हक्स्ली कृत ब्रेव न्यू वर्ल्ड से कोटेशन विन्टेज क्लासिक्स द्वारा प्रकाशित, द रैन्डम हाउस ग्रुप लिमिटेड © 1932 की अनुमति से पुन: मुद्रित

यह पुस्तक इस शर्त पर विक्रय की जा रही है कि प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इसे या इसके किसी भी हिस्से को न तो पुन: प्रकाशित किया जा सकता है और न ही किसी भी अन्य तरीक़े से, किसी भी रूप में इसका व्यावसायिक उपयोग किया जा सकता है । यहि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जाएगी।

असीम विश्वास और प्रतिभा के लिए मेरे पति इत्ज़िक के प्रति, हमेशा देखभाल करने और सहारा देने के लिए मेरी माँ नीना के प्रति,

और सदा भरपूर तथा स्वार्थरहित ख़ुशी देने के लिए मेरी नानी फ़ैनी के प्रति स्नेह के साथ समर्पित

विषय-सूची

भूमिका

भाग I : प्रौद्योगिकीय चुनौती

1 . मोहभंग

इतिहास का अन्त स्थगित हो गया है

2 . काम

जब आप बड़े होंगे, तो हो सकता है आपके पास कोई रोज़गार न हो

3 . आज़ादी

बिग डेटा आप पर निगाह रखे हुए है

4 . समानता

जिनके हाथों में डेटा है, उनके हाथों में भविष्य है

भाग II : राजनीतिक चुनौती

5 . समुदाय

मनुष्यों के शरीर होते हैं

6 . सभ्यता

दुनिया में मात्र एक ही सभ्यता है

7 . राष्ट्रवाद

वैश्विक समस्याएँ वैश्विक जवाबों की माँग करती है

8 . मज़हब

ईश्वर अब राष्ट्र की सेवा करता है

9 . अप्रवास

कुछ संस्कृतियाँ दूसरी संस्कृतियों से छोड़ता हो सकती है

भाग III : हताशा और उम्मीद

10 . आतंकवाद

घबराइए मत

11 . युद्ध

मनुष्य की मूर्खता को कभी भी कम करके मत आँकिए

12 . विनयशीलता

आप दुनिया के केन्द्र नहीं हैं

13 . ईश्वर

व्यर्थ ही ईश्वर का नाम न लें

14 . धर्मनिरपेक्षता

अपनी परछाईं को स्वीकार कीजिए

भाग IV : सत्य

15 . अज्ञानता

आप उससे कम जानते हैं, जितना आप सोचते हैं कि आप जानते हैं

16 . न्याय

हमारा न्याय-बोध शायद पुराना हो गया है

17 . सत्य के बाद का युग

कुछ झूठी ख़बरें हमेशा के लिए बनी रहती हैं

18 . विज्ञान-कथा

भविष्य वह नहीं है, जो आप फ़िल्मों में देखते हैं

भाग V : लचीलापन

19 . शिक्षा

परिवर्तन एकमात्र स्थायी चीज़ है

20 . अर्थ
जीवन कोई कहानी नहीं है
21 . ध्यान
सिर्फ़ अवलोकन कीजिए
आभार

भूमिका

अप्रासंगिक सूचना के सैलाब में डूबी इस दुनिया में स्पष्टता एक बड़ी शक्ति है। सिद्धान्ततः, मनुष्यता के भविष्य की बहस में कोई भी व्यक्ति हिस्सा ले सकता है, लेकिन एक स्पष्ट दृष्टि बनाए रखना बहुत मुश्किल है। अक्सर तो इस ओर हमारा ध्यान तक नहीं जाता कि कोई बहस चल रही है, या यह कि निर्णायक महत्त्व के सवाल क्या हैं। जाँच-पड़ताल की विलासिता पालना हम में से अरबों लोगों के वश की बात नहीं है, क्योंकि इससे कहीं ज़्यादा ज़रूरी काम हैं, जो हमें करने पड़ते हैं : हमें अपने काम पर जाना होता है, बच्चों का पालन-पोषण करना होता है, या अपने बूढ़े माँ-बाप की देखभाल करनी होती है। बदक़िस्मती से, इतिहास कोई छूट नहीं देता। अगर मनुष्यता के भविष्य का फ़ैसला आपकी ग़ैरमौजूदगी में होता है, क्योंकि आप अपने बच्चों का पेट भरने और तन ढँकने के काम में बेहद व्यस्त हैं, तो इसका मतलब यह नहीं कि आप और वे इसके नतीजों से बचे रहेंगे। यह बहुत ही अन्याय की बात है, लेकिन कौन कहता है कि इतिहास न्यायपूर्ण होता है?

एक इतिहासकार के रूप में मैं लोगों को भोजन और वस्त्र मुहैया नहीं करा सकता, लेकिन मैं थोड़ी-बहुत सुस्पष्टता की पेशकश करने की कोशिश ज़रूर कर सकता हूँ, और इस तरह एक ऐसी वैश्विक परिस्थिति रचने में मदद कर सकता हूँ, जिसमें सभी के लिए समान अवसर हों। अगर इससे मुट्ठीभर अतिरिक्त लोग भी हमारी प्रजाति के भविष्य की बहस में शामिल होने में सक्षम हो पाते हैं, तो मैं अपने कर्तव्य को पूरा हुआ समझूँगा।

मेरी पहली पुस्तक *सेपियन्स* ने मानव के अतीत का सर्वेक्षण करते हुए इस बात का परीक्षण किया था कि एक निहायत ही मामूली-सा वानर किस तरह पृथ्वी ग्रह का शासक बन गया।

मेरी दूसरी पुस्तक *होमो डेयस* जीवन के सुदीर्घ भविष्य की पड़ताल करती हुई इस सम्भावना पर विचार करती है कि किस तरह मनुष्य अन्ततः देवता बन सकता है, और बुद्धि तथा चेतना की नियति अन्तिम रूप से क्या हो सकती है।

इस पुस्तक में मैं लम्बी अवधि के परिदृश्य को खोए बिना अभी को ज़्यादा क़रीब से देखना चाहता हूँ। दूरस्थ भूतकाल और दूरस्थ भविष्य के बारे में हमारी अन्तर्दृष्टियाँ वर्तमान प्रासंगिक घटनाओं और मानव समाजों की तात्कालिक दुविधाओं का अर्थ समझने में हमारी मदद कैसे कर सकती हैं? ठीक इस वक़्त क्या हो रहा है? आज की सबसे बड़ी चुनौतियाँ और विकल्प क्या हैं? हमें किस चीज़ पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए? हमें अपने बच्चों को क्या पढ़ाना चाहिए?

निश्चय ही, 7 अरब लोगों के पास 7 अरब एजेंडे हैं, और जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि एक बड़े परिदृश्य के बारे में सोचना एक अपेक्षाकृत दुर्लभ विलासिता है। मुम्बई की झुग्गी में दो बच्चों को पाल रही एक अकेली माँ का ध्यान अगले जून के भोजन के इन्तज़ाम पर लगा हुआ है, भूमध्य सागर के बीच नाव में सवार शरणार्थी ज़मीन के किसी संकेत की तलाश में क्षितिज पर टकटकी लगाए हुए हैं, और क्षमता से ज़्यादा लोगों से भरे लन्दन के एक अस्पताल में मरता हुआ आदमी एक और साँस लेने की ख़ातिर अपनी बची-खुची सारी ताक़त लगा देता है। इन सबके सामने भूमण्डल के बढ़ते हुए तापमान या उदार लोकतन्त्र के संकट के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा तात्कालिक समस्याएँ हैं। कोई भी पुस्तक इस सबके साथ न्याय नहीं कर सकती, और इस तरह की परिस्थितियों में फँसे लोगों को सिखाने लायक़ कोई सबक़ मेरे पास नहीं हैं। मैं सिर्फ़ उनसे सीखने की ही उम्मीद कर सकता हूँ।

मेरी कार्यसूची यहाँ वैश्विक है। मेरी निगाह उन बड़ी शक्तियों पर है, जो सारी दुनिया में हमारे समाजों को आकार देती हैं, और जिनके द्वारा कुल मिलाकर हमारे ग्रह के भविष्य पर प्रभाव डाले जाने की सम्भावना है। जो लोग जीवन-मृत्यु के संकट के बीच फँसे हैं, जलवायु परिवर्तन उनके सरोकारों से बहुत दूर की चीज़ हो सकती है, लेकिन यह चीज़ अन्ततः मुम्बई की झुग्गियों को रहने के लिहाज़ से असुरक्षित बना सकती है, भूमध्य सागर के पार शरणार्थियों की विशाल नई लहरें पैदा कर सकती है, और स्वास्थ्य-सेवाओं के क्षेत्र में विश्वव्यापी संकट का कारण बन सकती है।

वास्तविकता बहुत से धागों से मिलकर बुनी गई होती है, और यह पुस्तक, परिपूर्ण होने का दावा किए बग़ैर, हमारी वैश्विक संकटावस्था के विभिन्न पक्षों को समेटने की कोशिश करती है। *सेपियन्स* और *होमो डेयस* से भिन्न, इस पुस्तक के पीछे मेरा इरादा इसे एक ऐतिहासिक आख्यान की शक्ल देने का नहीं, बल्कि सीखों के एक चयन की शक्ल देने का है। ये सबक़ निष्कर्ष के तौर पर किन्हीं आसान जवाबों के साथ समाप्त नहीं होते। इनका उद्देश्य इससे आगे के सोच-विचार को उत्प्रेरित करना, और हमारे वक़्त की कुछ महत्त्वपूर्ण चर्चाओं में भागीदार बनने में पाठकों को मदद पहुँचाना है।

यह पुस्तक वास्तव में जनता के साथ वार्तालाप की प्रक्रिया में लिखी गई थी। इसके कई अध्याय उन सवालों के जवाब के तौर पर लिखे गए थे, जो मुझसे पाठकों, पत्रकारों

और मेरे सहकर्मियों ने पूछे थे। कुछ हिस्सों के शुरुआती संस्करण विभिन्न रूपों में पहले ही प्रकाशित हो चुके थे, जिससे मुझे पाठकों की प्रतिक्रियाएँ जानने और अपने तर्कों को पैना करने का अवसर मिला। कुछ हिस्से प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलॉजी) पर, कुछ राजनीति पर, कुछ मज़हब पर, और कुछ कला पर केन्द्रित हैं। कुछ अध्याय मानवीय प्रज्ञा का उत्सव मनाते हैं, तो कुछ दूसरे अध्याय इंसानी मूर्खता की निर्णायक भूमिका को रेखांकित करते हैं, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल वही का वही है : आज की दुनिया में क्या हो रहा है, और इन घटनाओं का गहरा अर्थ क्या है?

डोनाल्ड ट्रम्प का उत्थान किस चीज़ की ओर संकेत करता है? झूठी ख़बरों की महामारी से हम कैसे निपट सकते हैं? उदार लोकतन्त्र संकट में क्यों है? क्या देवता लौट आए हैं? क्या नया विश्व युद्ध हमारी ओर बढ़ रहा है? वह कौन-सी सभ्यता है, जिसका दुनिया पर बोलबाला है - पश्चिमी, चीनी, इस्लामी? क्या यूरोप को बाहर से आने वाले लोगों के लिए अपने दरवाज़े खुले रखना चाहिए? क्या राष्ट्रवाद ग़ैरबराबरी और जलवायु-परिवर्तन की समस्याओं को सुलझा सकता है? आतंकवाद से हमें किस तरह निपटना चाहिए?

यह पुस्तक हालाँकि वैश्विक परिप्रेक्ष्य अपनाती है, लेकिन मैं व्यक्तिगत स्तर को नज़रअन्दाज़ नहीं करता। इसके विपरीत, मैं अपने युग की महान क्रान्तियों और व्यक्तियों के आन्तरिक जीवन के बीच के रिश्तों पर बल देना चाहता हूँ। उदाहरण के लिए, आतंकवाद एक वैश्विक राजनीतिक समस्या भी है और आन्तरिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी है। आतंकवाद हमारे दिमाग़ की गहराई में पैठे भय के बटन को दबाकर और लाखों व्यक्तियों की निजी कल्पनाओं का अपहरण करते हुए क्रियाशील होता है। इसी तरह, उदार लोकतन्त्र का संकट महज़ संसदों और मतदान-केन्द्रों में ही नहीं, बल्कि न्यूरॉनों और दो कोशिकाओं के बीच के स्नायुओं में भी घटित होता है। वैसे तो यह एक रूढ़ कथन है कि जो व्यक्तिगत होता है, वही राजनीतिक भी होता है, लेकिन एक ऐसे युग में जब वैज्ञानिक, व्यावसायिक प्रतिष्ठान और सरकारें इंसानी दिमाग़ में घुसपैठ (हैक) करना सीख रहे हैं, यह सूक्ति आज हमेशा से ज़्यादा अशुभ है। इसीलिए, यह पुस्तक व्यक्तियों के साथ-साथ समूचे समाजों के आचरण का अवलोकन करती है।

एक भूमण्डलीय दुनिया हमारे व्यक्तिगत आचरण और नैतिकता पर अपूर्व दबाव डालती है। हम लोगों में से हरेक असंख्य सर्वव्यापी मकड़जालों के भीतर उलझा हुआ है, जो एक ओर हमारी गतिविधियों को सीमित करते हैं, लेकिन इसी के साथ-साथ हमारी मामूली-सी हरक़त की सूचना सुदूर गन्तव्यों तक पहुँचा देते हैं। हमारी रोज़मर्रा गतिविधियाँ आधी दुनिया के लोगों और अन्य प्राणियों पर असर डालती हैं, और हमारी कुछ व्यक्तिगत चेष्टाएँ अनपेक्षित रूप से सारी दुनिया को आग के हवाले कर सकती हैं, जैसा कि ट्यूनीशिया में मोहम्मद बोआज़ीज़ी के आत्मदाह के मामले में हुआ था, जिसने अरब स्प्रिंग

की आग भड़का दी थी, और जैसा कि उन स्त्रियों के मामले में हुआ था, जिन्होंने यौन-उत्पीड़न के अपने क़िस्सों को लोगों के साथ साझा किया था और #MeToo आन्दोलन को भड़का दिया था।

हमारे निजी जीवन के भूमण्डलीय आयाम का अर्थ है कि अपने मज़हबी और राजनीतिक पूर्वाग्रहों, अपने नस्लपरक और लैंगिक विशेषाधिकारों, और संस्थानिक उत्पीड़न में अनजाने में की गई अपनी भागीदारी को उजागर करना आज हमेशा से कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है, लेकिन क्या यह एक व्यावहारिक उद्यम है? एक ऐसी दुनिया में मैं एक मज़बूत नैतिक आधार कैसे पा सकता हूँ, जो मेरी बुद्धि और संवेदना की सीमा से परे फैली है, जिसकी रफ़्तार पूरी तरह से मनुष्य के नियन्त्रण से परे है, और जो सारे देवताओं और विचारधाराओं पर सन्देह करती है?

यह पुस्तक अपनी शुरुआत ताज़ा राजनीतिक और प्रौद्योगिक दशा के सर्वेक्षण के साथ करती है। बीसवीं सदी के समापन पर ऐसा प्रतीत होता था कि फ़ासीवाद, साम्यवाद और उदारवाद के बीच की विचारधारात्मक लड़ाइयों का अन्त उदारवाद की ज़बरदस्त जीत के साथ हुआ था। लगता था कि सारी दुनिया पर लोकतान्त्रिक राजनीति, मानवाधिकार, और मुक्त-बाज़ार पूँजीवाद की विजय सुनिश्चित है, लेकिन जैसा कि होता आया है, इतिहास ने एक अप्रत्याशित मोड़ लिया, और फ़ासीवाद तथा साम्यवाद के ध्वस्त हो जाने के बाद अब उदारवाद मुश्किल हालात में है। तब हम किस दिशा में जा रहे हैं?

यह सवाल विशेष रूप से मार्मिक है, क्योंकि उदारवाद अपनी विश्वसनीयता ठीक उस वक़्त खो रहा है, जब सूचना प्रौद्योगिकी (इन्फ़ॉर्मेशन टेक्नॉलॉजी) और जैवप्रौद्योगिकी (बायोटेक्नॉलॉजी) की जुड़वाँ क्रान्तियाँ हमारे सामने वे सबसे बड़ी चुनौतियाँ पेश कर रही हैं, जिस तरह की चुनौतियों का सामना हमारी प्रजाति ने कभी नहीं किया था। सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी का मिलन जल्दी ही अरबों मनुष्यों को रोज़गार से बाहर धकेल सकता है और स्वतन्त्रता तथा समानता, दोनों का उन्मूलन कर सकता है। बिग डेटा ऐल्गरिदम एक ऐसी डिजिटल तानाशाही की रचना कर सकते हैं, जिसमें सारी शक्तियाँ एक नितान्त छोटे-से कुलीन वर्ग के हाथों में सीमित होंगी, जबकि ज़्यादातर लोग शोषण के नहीं, बल्कि उससे भी बदतर चीज़, अप्रासंगिकता के शिकार होंगे।

सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी के एक-दूसरे में मिल जाने की चर्चा मैंने अपनी पिछली पुस्तक *होमो डेयस* में विस्तार से की है, लेकिन जहाँ वह पुस्तक दीर्घकालिक सम्भावनाओं पर केन्द्रित थी, जिसने सदियों ही नहीं, बल्कि सहस्राब्दियों का परिप्रेक्ष्य अपनाया था, वहीं यह पुस्तक अधिक तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संकटों पर केन्द्रित है। मेरी दिलचस्पी यहाँ अजैविक जीवन (इनऑर्गेनिक लाइफ़) की

सम्भावित सृष्टि में कम, और कल्याणकारी राज्य के समक्ष और विशेष रूप से यूरोपीय यूनियन जैसी संस्थाओं पर मँडराते ख़तरे में ज़्यादा है।

यह पुस्तक नई प्रौद्योगिकियों के सारे प्रभावों को समेटने की कोशिश नहीं करती, हालाँकि प्रौद्योगिकी में विस्मयकारी आश्वासन ख़ासतौर से निहित हैं, लेकिन मेरा इरादा यहाँ मुख्यतः उसमें निहित आशंकाओं और ख़तरों पर ज़ोर देने का रहा है। चूँकि जो व्यावसायिक प्रतिष्ठान और उद्यमी प्रौद्योगिकीय क्रान्ति का नेतृत्व कर रहे हैं, वे स्वाभाविक ही अपनी रचनाओं की प्रशस्तियाँ गाते हैं, लेकिन समाजविज्ञानियों, दार्शनिकों और मेरे जैसे इतिहासकारों की ज़िम्मेदारी बनती है कि वे चेतावनी दें और उन तमाम तरीक़ों को स्पष्ट करें, जिनके तहत स्थितियाँ भयानक रूप से ग़लत शक्ल ले सकती हैं।

जिन चुनौतियों का हम सामना कर रहे हैं, उनका नक़्शा पेश करने के बाद, पुस्तक के दूसरे हिस्से में हम सम्भावित प्रतिक्रियाओं की व्यापक कोटियों का परीक्षण करते हैं। क्या फ़ेसबुक के इंजीनियर आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस (एआई) का इस्तेमाल एक ऐसे भूमण्डलीय समुदाय के निर्माण के लिए कर सकते हैं, जो मानवीय स्वतन्त्रता और समानता की हिफ़ाज़त कर सकेगा? क्या यह मुमकिन है कि इसका जवाब भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को उलट देने में, और राज्य को नए सिरे से सशक्त बनाने में हो? क्या यह सम्भव है कि हमें और भी आगे तक वापस लौटने और प्राचीन मज़हबी परम्पराओं से आस्था और विवेक हासिल करने की ज़रूरत हो?

पुस्तक के तीसरे हिस्से में हम देखते हैं कि यद्यपि प्रौद्योगिकी द्वारा प्रस्तुत चुनौतियाँ अपूर्व हैं, और यद्यपि राजनीतिक असहमतियाँ बहुत तीखी हैं, तब भी अगर हम डरों को नियन्त्रण में रखें और अपने दृष्टिकोणों को लेकर कुछ अधिक विनम्रता बरतें, तो मानव जाति चुनौतियों का सामना कर सकती है। यह हिस्सा इस बात की पड़ताल करता है कि आतंकवाद की धमकी, भूमण्डलीय युद्ध के ख़तरे और उन पूर्वाग्रहों और नफ़रतों से कैसे निपटा जाए, जो इस तरह के टकरावों को जन्म देते हैं।

चौथा हिस्सा सत्य के बाद (पोस्ट ट्रुथ) की धारणा से मुठभेड़ करता है, और सवाल उठाता है कि हम किस हद तक अभी भी भूमण्डलीय घटनाक्रमों को समझ सकते हैं और अन्याय को न्याय से अलग करके देख सकते हैं। क्या *होमो सेपियन्स* ने जो दुनिया रची है, उसका औचित्य साबित कर पाने में वह सक्षम है? क्या ऐसी कोई स्पष्ट सीमा-रेखा है, जो वास्तविकता को कल्पना (फ़िक्शन) से अलग करती हो?

पाँचवें और अन्तिम हिस्से में मैंने विभिन्न सूत्रों को एकत्र किया है और सम्भ्रम के एक उस युग में जीवन पर सामान्य दृष्टिपात किया है, जब पुराने क़िस्से ध्वस्त हो चुके हैं, और उनकी जगह भरने के लिए अब तक कोई नया क़िस्सा सामने नहीं आया है। हम कौन हैं? हमें जीवन में क्या करना चाहिए? हमें किस तरह की क़ाबिलियतों की ज़रूरत है? विज्ञान,

ईश्वर, राजनीति और मज़हब के बारे में हम जो कुछ भी जानते हैं और जो कुछ नहीं जानते, उसके मद्देनज़र हम जीवन के अर्थ के बारे में क्या कह सकते हैं?

यह बात अतिमहत्त्वाकांक्षी प्रतीत हो सकती है, लेकिन *होमो सेपियन्स* इन्तज़ार नहीं कर सकता। दर्शन, मज़हब और विज्ञान का समय समाप्त हो रहा है। लोग जीवन के अर्थ को लेकर हज़ारों सालों तक बहस कर चुके हैं। इस बहस को अब हम अनन्त काल तक जारी नहीं रख सकते। सिर पर मँडराता पारिस्थितिकीय (इकॉलॉजिकल) संकट, सामूहिक संहार करने वाले हथियारों का बढ़ता हुआ ख़तरा, और अव्यवस्था फैलाने वाली नई प्रौद्योगिकियाँ इसकी इजाज़त नहीं देंगी। सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस और जैवप्रौद्योगिकी मनुष्यता को जीवन को नई शक्ल देने और नए सिरे से गढ़ने की शक्ति प्रदान कर रहे हैं। बहुत जल्द ही कोई आकर इस बात का फ़ैसला करेगा कि इस शक्ति का इस्तेमाल कैसे किया जाए, जो जीवन के किसी अव्यक्त या व्यक्त क़िस्से पर आधारित होगा। दार्शनिक बहुत धैर्यवान लोग होते हैं, लेकिन इंजीनियरों में उनकी तुलना में बहुत कम धीरज होता है, और निवेशकों में तो इन सबसे कम धीरज होता है। अगर आपको इस बात की समझ नहीं है कि जीवन को गढ़ने की इस शक्ति का इस्तेमाल किस तरह किया जाए, तो बाज़ार की शक्तियाँ आपके जवाब का हज़ार साल तक इन्तज़ार नहीं करेंगी। बाज़ार का अदृश्य शिकंजा अपना ख़ुद का अन्धा जवाब बलपूर्वक आप पर थोप देगा। अगर आप जीवन के भविष्य को तिमाही राजस्व रिपोर्टों की दया पर छोड़ने को तैयार नहीं हैं, तो आपके पास जीवन अर्थ की एक स्पष्ट धारणा का होना बहुत ज़रूरी है।

अन्तिम अध्याय में इसके पहले कि हमारी प्रजाति पर पटाक्षेप हो और एक सर्वथा नए नाटक की शुरुआत हो, मैंने एक सेपियन्स के रूप में दूसरे सेपियन्स से बतियाते हुए कुछ व्यक्तिगत टिप्पणियाँ की हैं।

इस बौद्धिक यात्रा पर रवाना होने से पहले, मैं एक निर्णायक महत्त्व के मुद्दे को रेखांकित करना चाहूँगा। पुस्तक का ज़्यादातर हिस्सा उदारवादी विश्वदृष्टि और लोकतान्त्रिक प्रणाली की त्रुटियों की चर्चा करता है। ऐसा मैंने इसलिए नहीं किया है कि मैं ऐसा मानता हूँ कि उदार लोकतन्त्र अनोखे ढंग से समस्यापरक है, बल्कि इसलिए किया है, क्योंकि मैं समझता हूँ कि यह आधुनिक दुनिया की चुनौतियों से निपटने के लिए मनुष्य द्वारा अब तक विकसित किया गया सबसे ज़्यादा कामयाब और उपयोगिता-बहुल राजनीतिक ढाँचा है। मुमकिन है कि यह हर समाज के लिए विकास के हर सोपान पर उपयुक्त न हो, तब भी इसने बहुत-से समाजों और बहुत-सी परिस्थितियों में किसी भी दूसरे विकल्प की तुलना में अपनी सबसे ज़्यादा मूल्यवत्ता साबित की है। इसलिए अपने समक्ष मौजूद नई चुनौतियों का परीक्षण करते हुए उदार लोकतन्त्र की सीमाओं को समझना, और इस बात का पता

लगाना ज़रूरी है कि हम इसकी मौजूदा संस्थाओं को किस तरह अपनी ज़रूरतों के अनुरूप बदल सकते हैं और उनमें सुधार ला सकते हैं।

बदक़िस्मती से, मौजूदा राजनीतिक वातावरण में उदारवाद और लोकतन्त्र के बारे में किसी भी तरह के आलोचनात्मक विचार का उन स्वेच्छाचारी शासकों और विभिन्न अनुदारवादी आन्दोलनों द्वारा अपहरण किया जा सकता है, जिनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्यता के भविष्य के बारे में किसी खुली चर्चा में शामिल होने की बजाय उदार लोकतन्त्र को लांछित करना है। जहाँ वे उदार लोकतन्त्र की समस्याओं पर बहस करके बहुत ख़ुश होते हैं, वहीं ऐसी किसी आलोचना के प्रति उनमें कोई सहिष्णुता नहीं है, जिसका रुख उनकी ओर होता है।

एक लेखक के रूप में मेरे लिए एक मुश्किल विकल्प चुनना ज़रूरी था। क्या मुझे अपने मन की बात खुलकर कहनी चाहिए, यह जोखिम उठाते हुए कि मेरे शब्दों को सन्दर्भ से हटकर देखा जा सकता है और उनका इस्तेमाल फलती-फूलती तानाशाहियों का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया जा सकता है? या मुझे ख़ुद को सेंसर करना चाहिए? अनुदार शासन-व्यवस्थाओं की यह निशानी है कि वे अपनी सरहदों के बाहर भी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को बहुत मुश्किल बना देती हैं। इस तरह की शासन-व्यवस्थाओं के प्रसार की वज़ह से अपनी प्रजाति के भविष्य के बारे में आलोचनात्मक ढंग से सोचना उत्तरोत्तर ख़तरनाक होता जा रहा है।

कुछ आत्म-शोध करने के बाद मैंने ख़ुद को सेंसर करने की बजाय मुक्त विमर्श का चयन किया। उदारवादी ढाँचे की आलोचना किए बग़ैर हम इसकी त्रुटियों को ठीक नहीं कर सकते या इसके परे नहीं जा सकते, लेकिन मेहरबानी करके यह ध्यान रखें कि यह पुस्तक सिर्फ़ तभी लिखी जा सकती थी, जब लोग अभी भी अपनी रुचि के मुताबिक़ सोचने और अपनी इच्छानुसार ख़ुद को अभिव्यक्त करने के लिए अपेक्षाकृत स्वतन्त्र हैं। अगर आप इस पुस्तक की इज़्ज़त करते हैं, तो आपको अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी इज़्ज़त करनी चाहिए।

I

प्रौद्योगिकीय चुनौती

मानव जाति उस उदारवादी क़िस्से में अपनी आस्था खोती जा रही है, जिसका हाल के दशकों में भूमण्डल की राजनीति पर बोलबाला रहा है, और यह ठीक उस वक़्त हो रहा है, जब जैवप्रौद्योगिकी और सूचना प्रौद्योगिकी का परस्पर विलय हमारे सामने वे सबसे बड़ी चुनौतियाँ पेश कर रहा है, जिनका सामना मानव जाति ने अब तक नहीं किया था।

1

मोहभंग

इतिहास का अन्त स्थगित हो गया है

मनुष्य तथ्यों, संख्याओं या समीकरणों के माध्यम से सोचने की बजाय क़िस्सों के माध्यम से सोचते हैं, और यह क़िस्सा जितना सरल होता है, उतना ही बेहतर होता है। हर व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र के अपने क़िस्से और मिथक होते हैं, लेकिन बीसवीं सदी के दौरान न्यू यॉर्क, लन्दन, बर्लिन और मॉस्को में रहने वाले संसार के उच्चवर्गीय लोगों ने तीन ऐसे भव्य क़िस्से गढ़े, जो सारी दुनिया के समूचे अतीत की व्याख्या करने और उसके भविष्य का पूर्वानुमान करने का दावा करते थे : फ़ासीवादी क़िस्सा, साम्यवादी क़िस्सा, और उदारवादी क़िस्सा।

फ़ासीवादी क़िस्से ने इतिहास की व्याख्या करते हुए उसे विभिन्न राष्ट्रों के बीच संघर्ष के रूप में देखा, और एक ऐसे मानव समुदाय के वर्चस्व वाली दुनिया का सपना देखा, जो बाक़ी सारे मानव समुदायों को हिंसक ढंग से नियन्त्रित करता है। साम्यवादी क़िस्से ने इतिहास की व्याख्या करते हुए उसे विभिन्न वर्गों के बीच के संघर्ष के रूप में देखा, और एक ऐसी दुनिया का सपना देखा, जिसमें सारे समुदाय उस केन्द्रीकृत सामाजिक व्यवस्था द्वारा संगठित होते हैं, जो स्वतन्त्रता तक की क़ीमत पर समानता को सुनिश्चित करती है। उदारवादी क़िस्से ने इतिहास की व्याख्या करते हुए उसे आज़ादी और अत्याचार के बीच संघर्ष के रूप में देखा, और एक ऐसी दुनिया का सपना देखा, जिसमें सारे मनुष्य मुक्त ढंग से और शान्तिपूर्वक परस्पर सहकार करते हैं, और जिसमें न्यूनतम केन्द्रीय नियन्त्रण है, भले ही इसके लिए उसे किसी हद तक ग़ैरबराबरी की क़ीमत भी क्यों न चुकानी पड़ती हो।

इन तीन क़िस्सों के बीच का टकराव अपनी पहली निर्णायक पराकाष्ठा पर पहुँचा दूसरे विश्व युद्ध में, जिसने फासिस्ट क़िस्से को नेस्तनाबूद कर दिया। 1940 के दशक के अन्तिम वर्षों से लेकर 1980 के दशक के अन्तिम वर्षों तक दुनिया बाक़ी बचे दो क़िस्सों - साम्यवाद और उदारवाद - के बीच की लड़ाई का मैदान बनी रही। इसके बाद साम्यवादी क़िस्सा ध्वस्त

हो गया, और उदारवादी क़िस्सा मानव अतीत का प्रभावी मार्गदर्शक और दुनिया के भविष्य की अपरिहार्य नियमावली बन गया - या दुनिया के उच्च वर्ग को ऐसा लगा।

उदारवादी क़िस्सा आज़ादी के मूल्य और शक्ति की सराहना करता है। वह कहता है कि मानव जाति हज़ारों सालों तक ऐसी दमनकारी शासन-व्यवस्थाओं के अधीन रही थी, जिन्होंने लोगों को बहुत थोड़े-से राजनीतिक अधिकारों, आर्थिक अवसरों या निजी आज़ादियों की गुंजाइश दी थी, और जिन्होंने व्यक्तियों, विचारों और वस्तुओं की आवाजाही को बुरी तरह से सीमित कर रखा था, लेकिन लोगों ने अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया, और स्वतन्त्रता धीरे-धीरे मज़बूत स्थिति में पहुँचती गई। लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्थाओं ने क्रूर तानाशाहियों की जगह ले ली। मुक्त उद्यमिता ने आर्थिक बाधाओं पर विजय पाई। लोगों ने धर्मान्ध पुराहितों और संकीर्ण परम्पराओं का अन्धानुसरण करने की बजाय अपने बारे में सोचना और अपने अन्तःकरण की आवाज़ को सुनना सीखा। खुली सड़कों, मज़बूत पुलों और हलचल से भरे व्यस्त हवाई अड्डों ने दीवारों, ख़न्दक़ों-परकोटों और कँटीले तारों की बाड़ों की जगह ले ली।

उदारवादी क़िस्सा इस बात को स्वीकार करता है कि दुनिया में सब कुछ ठीक-ठाक नहीं है, और अभी भी ऐसी बहुत-सी बाधाएँ हैं, जिन्हें पार किया जाना है। हमारे ग्रह के बहुत बड़े हिस्से पर आततायियों का वर्चस्व है, और सबसे ज़्यादा उदारवादी देशों तक में लोग निर्धनता, हिंसा और दमन के शिकार हैं, लेकिन कम-से-कम हम जानते हैं कि इन समस्याओं पर विजय पाने के लिए हमें क्या करने की ज़रूरत है : लोगों को और ज़्यादा आज़ादी दी जाए। हमें मानवाधिकारों की हिफ़ाज़त करने, हर व्यक्ति को मताधिकार प्रदान करने, मुक्त बाज़ार विकसित करने और व्यक्तियों, विचारों तथा वस्तुओं को सारी दुनिया में उन्मुक्त आवाजाही की इजाज़त देने की ज़रूरत है। इस उदारवादी रामबाण के मुताबिक़ - जिसे मामूली-से फ़र्क़ के साथ जॉर्ज डब्ल्यू. बुश और बराक ओबामा द्वारा समान रूप से स्वीकार किया गया - अगर इतना भर करें कि अपनी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का उदारीकरण और भूमण्डलीकरण जारी रखें, तो हम सभी के लिए शान्ति और समृद्धि पैदा कर सकेंगे।

जो मुल्क प्रगति के इस अबाध अभियान में शामिल होंगे, वे जल्दी ही शान्ति और समृद्धि से पुरस्कृत होंगे। जो मुल्क इस अवश्यम्भावी प्रगति को प्रतिरोध देने की कोशिश करेंगे, उनको तब तक इसके दुष्परिणाम भुगतने होंगे, जब तक कि वे इसको स्वीकार नहीं कर लेते, अपनी सरहदों को नहीं खोलते और अपने समाजों, अपनी राजनीति और अपने बाज़ार का उदारीकरण नहीं करते। इसमें समय लग सकता है, लेकिन अन्ततः उत्तर कोरिया, इराक़ और एल सल्वाडोर डेनमार्क या आयोवा जैसे दिखने लगेंगे।

1990 और 2000 के दशकों में यह क़िस्सा वैश्विक मन्त्र बन गया था। ब्राज़ील से लेकर हिन्दुस्तान तक की बहुत-सी सरकारों ने इतिहास के इस अनवरत अभियान में शामिल होने की ख़ातिर उदारवादी नुस्ख़े अपना लिए थे। जो ऐसा करने में विफल रहे, वे बीते ज़माने के जीवाश्म जैसे दिखते थे। 1997 में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने आत्मविश्वास के साथ यह कहकर चीन की सरकार को फटकार लगाई थी कि चीनी राजनीति

का उदारीकरण करने से उसके इंकार ने उसे 'इतिहास की ग़लत दिशा' में लाकर छोड़ दिया है।

लेकिन, 2008 के वैश्विक आर्थिक संकट के बाद से इस उदारवादी क़िस्से के प्रति सारी दुनिया के लोगों का उत्तरोत्तर मोहभंग होता चला गया है। दीवारें और फ़ायरवॉल्स फिर से फ़ैशन में वापस आ गए। विदेशियों के आकर बसने को लेकर और व्यापारिक समझौतों के प्रति प्रतिरोध बढ़ रहा है। ज़ाहिर तौर पर लोकतान्त्रिक सरकारें न्याय-प्रणाली की स्वाधीनता की जड़ें कुतरती हैं, प्रेस की आज़ादी को सीमित करती हैं, और किसी तरह के विरोध को देशद्रोह के रूप में चित्रित करती हैं। तुर्की और रूस जैसे देशों के शक्तिशाली लोग अनुदार लोकतन्त्र और स्पष्ट तानाशाहियों की नई क़िस्मों के साथ प्रयोग करते हैं। आज, बहुत थोड़े-से लोग होंगे, जो पूरे विश्वास के साथ यह ऐलान कर सकें कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी इतिहास की ग़लत दिशा में है।

ब्रिटेन के ब्रेक्ज़िट वोट और संयुक्त राज्य अमेरिका में डोनाल्ड ट्रम्प के अभ्युदय से पहचाने जाने वाले 2016 के साल ने उस क्षण का संकेत किया था, जब मोहभंग का उमड़ता हुआ यह ज्वार पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के उन राज्यों तक पहुँच गया था, जो मूल रूप से उदारवादी थे। कुछ वर्ष पहले तक जहाँ अमेरिकी और यूरोपीय अभी भी इराक़ और लीबिया का बन्दूक़ की नोक पर उदारीकरण करने की कोशिश में लगे थे, वहीं अब केंटकी और यॉर्कशायर में बहुत-से लोग उदारवादी दृष्टि को या तो अवांछनीय या अप्राप्य मानने लगे हैं। कुछ लोगों ने पुरानी सोपानक्रम-युक्त दुनिया के प्रति पसन्द विकसित कर ली है, और वे अपने नस्लपरक, राष्ट्रीय या लैंगिक विशेषाधिकारों को छोड़ने का तैयार नहीं हैं। कुछ दूसरे हैं, जो (सही या ग़लत) इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं कि उदारीकरण और भूमण्डलीकरण विशाल जन-समुदाय की क़ीमत पर मुट्ठी-भर उच्चवर्गीय लोगों को ताक़तवर बनाने वाली विराट धोखाधड़ी है।

1938 में इंसानों से तीन वैश्विक क़िस्सों में से चुनाव करने का प्रस्ताव किया गया था, 1968 में मात्र दो क़िस्सों में से, और 1998 में मात्र एक क़िस्से का बोलबाला दिखाई देता था, 2018 में हम शून्य पर पहुँच चुके हैं। आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस उदारवादी कुलीन वर्ग का हाल के दशकों में ज़्यादातर दुनिया पर वर्चस्व हुआ करता था, वह सदमे और दिशाभ्रम की हालत में पहुँच चुका है। एक क़िस्से का होना सबसे ज़्यादा आश्वस्त करने वाली स्थिति होती है। हर चीज़ एकदम स्पष्ट होती है, लेकिन अचानक बिना किसी क़िस्से के रह जाना भयावह है। अब किसी चीज़ का कोई अर्थ नहीं रह गया है। कुछ-कुछ 1980 के दशक के सोवियत कुलीन वर्ग की तरह ही उदारवादियों को समझ में नहीं आ रहा है कि आख़िर इतिहास अपनी नियति के रास्ते से कैसे भटक गया, और अब वास्तविकता की व्याख्या करने के लिए उनके पास कोई वैकल्पिक प्रिज़्म नहीं है। इस दिशाभ्रम के चलते वे महाविनाश की पदावली में सोचने को विवश हैं, मानो इतिहास के उसके पूर्वकल्पित सुखद अन्त पर न पहुँच पाने का अर्थ यह है कि वह तेज़ी के साथ पाप और पुण्य के अन्तिम निर्णायक युद्ध

(अर्मागेडॉन) की ओर भागा जा रहा है। वास्तविक स्थिति का परीक्षण कर पाने में असमर्थ दिमाग़ महाविनाश के परिदृश्यों का सहारा लेने लगता है। उस व्यक्ति की तरह, जो पीड़ादायी सिरदर्द से ब्रेन ट्यूमर की अन्तिम अवस्था की कल्पना करने लगता है, बहुत-से उदारवादियों को भय है कि ब्रेक्ज़िट और डोनाल्ड ट्रम्प का उदय मानवीय सभ्यता के अन्त के पूर्व-संकेत हैं।

मच्छरों को मारने से लेकर विचारों को मारने तक

दिग्भ्रमित होने और आसन्न विनाश का अहसास प्रौद्योगिकीय व्यवधान की तेज़ होती रफ़्तार से और भी तीव्र हो गया है। उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था औद्योगिक युग में भाप के इंजनों, तेल शोधक कारख़ानों और टेलीविज़न सैटों की दुनिया को सँभालने के उद्देश्य से गढ़ी गई थी। इसे सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जारी क्रान्तियों से निपटने में मुश्किल पेश आ रही है।

राजनेता और मतदाता, दोनों ही बमुश्किल ही इन प्रौद्योगिकियों को समझ पा रहे हैं, उनकी विस्फोटक सम्भावनाओं का नियमन करना तो दूर की बात है। 1990 के दशक से ही इंटरनेट ने दुनिया को जितना बदल दिया है, उतना शायद दूसरी किसी चीज़ ने नहीं बदला है, जबकि इंटरनेट की क्रान्ति का निर्देशन राजनीतिक दलों से ज़्यादा इंजीनियरों ने किया था। क्या आपने कभी इंटरनेट को लेकर मतदान किया था? लोकतान्त्रिक प्रणाली अभी भी इस बात को समझने का संघर्ष कर रही है कि उसको किस चीज़ ने आघात पहुँचाया है, और वह अगले आघात, जैसे कि आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस या ब्लॉकचेन क्रान्ति को झेलने के लिए बमुश्किल ही तैयार है।

कम्प्यूटरों ने आज पहले से ही वित्तीय प्रणाली को इतना पेचीदा बना दिया है कि बहुत थोड़े-से मनुष्य ही इसको समझ सकते हैं। जैसे-जैसे आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस उन्नत होता जाएगा, वैसे ही हम जल्दी ही उस मक़ाम पर पहुँच सकते हैं, जब कोई भी इंसान वित्त-व्यवस्था को समझने में सक्षम नहीं रह जाएगा। राजनीतिक प्रक्रिया पर इसका क्या असर होगा? क्या आप ऐसी किसी सरकार की कल्पना कर सकते हैं, जो किसी ऐल्गरिदम की विनम्रतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही हो कि वह उसके बजट या उसके नए टैक्स सुधार का अनुमोदन कर दे? इस बीच, किसी केन्द्रीय सर्वर की मार्फ़त गुज़रे बिना एक कम्प्यूटर से दूसरे कम्प्यूटर तक फैले ब्लैकचेन नेटवर्क और बिटक्वाइन जैसी क्रिप्टोकरेंसियाँ मौद्रिक प्रणाली का इस तरह आमल-चूल नवीकरण कर सकती हैं कि कर-व्यवस्था में कोई मूल सुधार अपरिहार्य हो जाएँगे। उदाहरण के लिए, डॉलरों पर कर लगाना असम्भव या अप्रासंगिक हो सकता है, क्योंकि ज़्यादातर लेन-देन, राष्ट्रीय मुद्रा के, या किसी भी तरह की मुद्रा के सुस्पष्ट हस्तान्तरण के बिना, मात्र सूचना के आदान-प्रदान की मार्फ़त होंगे। ऐसी दशा में सरकारों के लिए सर्वथा

नए करों को ईजाद करना ज़रूरी हो सकता है - सम्भवतः सूचना-कर जैसा कुछ, जिसका भुगतान सूचना पर और डॉलर की बजाय *सूचना के रूप में* करना होगा। क्या राजनीतिक व्यवस्था अपना सारा संचित पैसा गँवा देने के पहले इस संकट से निपट पाएगी?

इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह कि सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी की जुड़वाँ क्रान्तियाँ महज़ अर्थव्यवस्थाओं और समाजों की ही नहीं, बल्कि हमारी आपनी कायाओं और दिमाग़ों की पुनर्रचना भी कर सकतीं हैं। अतीत में हम मनुष्य अपने से बाहर की दुनिया को नियन्त्रित करना सीख चुके हैं, लेकिन अपने अन्दर की दुनिया पर हमारा बहुत कम नियन्त्रण हुआ करता था। हम यह तो जानते थे कि बाँध कैसे बनाया जाए और नदी को बहने से कैसे रोका जाए, लेकिन हम अपनी काया को बूढ़ा होने से रोकना नहीं जानते थे। हम यह तो जानते थे कि एक सिंचाई-प्रणाली को कैसे गढ़ा जाए, लेकिन एक दिमाग़ को गढ़ने को लेकर हमें कोई इल्म नहीं था। अगर हमारे कानों में मच्छर भिनभिनाते थे और हमारी नींद में ख़लल डालते थे, तो हम जानते थे कि मच्छरों को कैसे मारा जाए, लेकिन अगर हमारे दिमाग़ में कोई विचार भनभनाता रहता था और वह हमें रातभर जागाए रखता था, तो हममें से ज़्यादातर लोग नहीं जानते थे कि उस विचार को कैसे मारा जाए।

जैवप्रौद्योगिकी और सूचना प्रौद्योगिकी की क्रान्तियाँ हमें अपनी अन्दरूनी दुनिया पर नियन्त्रण प्रदान करेंगी, और हमें जीवन को गढ़ने तथा उत्पादन करने में सक्षम बनाएँगी। हम दिमाग़ों को रूप देना, जीवन को विस्तार देना, और अपनी मनमर्ज़ी से विचारों को मारना सीखेंगे। कोई नहीं जानता कि इसके नतीजे क्या होंगे। इंसान औज़ारों का अक़्लमन्दीपूर्ण इस्तेमाल करने की बजाय औज़ारों को ईजाद करने में ज़्यादा माहिर रहे हैं। किसी नदी पर बाँध बनाकर उसका मनमाना इस्तेमाल करना जितना आसान है, इस कृत्य के व्यापक पारिस्थितिकीय (इकॉलॉजिकल) प्रणाली पर पड़ने वाले जटिल प्रभावों का पूर्वानुमान करना उतना आसान नहीं है। इसी तरह, अपने दिमाग़ के प्रवाह की दिशा बदलना जितना आसान होगा, उतना आसान इस बात का पूर्वानुमान करना नहीं होगा कि यह कृत्य हमारे निजी मनोविज्ञान या हमारी सामाजिक व्यवस्था के साथ क्या करेगा।

अतीत में हमने अपने चारों ओर की दुनिया से चालाकी से काम निकालने और समूचे ग्रह को नया आकार देने की शक्ति हासिल कर ली थी, लेकिन क्योंकि हम भूमण्डलीय पारिस्थितिकी की जटिलता को नहीं समझते थे, इसलिए हमने अनजाने में जो बदलाव किए, उन्होंने समूची पारिस्थितिकीय प्रणाली को तहस-नहस कर दिया और अब हम पारिस्थितिकीय ध्वंस का सामना कर रहे हैं। आने वाली सदी में जैवप्रौद्योगिकी और सूचना प्रौद्योगिकी हमें अपनी आन्तरिक दुनिया को नियन्त्रित करने और स्वयं को नई शक्ल देने की क्षमता प्रदान करेंगी, लेकिन क्योंकि हम अपने ही दिमाग़ की पेचीदगियों को नहीं समझते, इसलिए हम उसमें जो बदलाव लाएँगे, वे हमारी मानसिक व्यवस्था को इस हद तक गड़बड़ा सकते हैं कि वह भी निष्क्रिय हो सकती है।

जैवप्रौद्योगिकी और सूचना प्रौद्योगिकी की क्रान्तियाँ उन इंजीनियरों, उद्यमियों और वैज्ञानिकों द्वारा की गई हैं, जो अपने फ़ैसलों के राजनीतिक निहितार्थों के प्रति ख़ास जागरूक नहीं हैं, और जो निश्चय ही किसी का भी प्रतिनिधित्व नहीं करते। क्या संसदें और राजनीतिक दल इस स्थिति से ख़ुद निपट सकते हैं? फ़िलहाल तो ऐसा नहीं लगता। प्रौद्योगिकीय रूपान्तरण राजनीतिक कार्यसूची का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दा तक नहीं है। नतीजतन, 2016 में संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रपति पद की दौड़ में रूपान्तरकारी प्रौद्योगिकी का मुख्य हवाला हिलेरी क्लिंटन के ई-मेल के तबाह हो जाने का था, और रोज़गारों की क्षति के बारे में हुई तमाम चर्चाओं के बावजूद किसी भी प्रत्याशी ने स्वचालन (ऑटोमेशन) के सम्भावित प्रभाव का मुद्दा नहीं उठाया। डोनाल्ड ट्रम्प ने मतदाताओं को चेतावनी दी कि मैक्सिकी और चीनी लोग उनके रोज़गार छीन लेंगे, और यह कि इसलिए उनको मैक्सिको की सरहद पर दीवार खड़ी कर लेनी चाहिए। उन्होंने मतदाताओं को इस बात की चेतावनी कभी नहीं दी कि ऐल्गरिदम उनकी नौकरियाँ छीन लेंगे, न ही उन्होंने कैलिफ़ोर्निया से लगी सरहद पर फ़ायरवॉल खड़ी करने का सुझाव दिया।

यह एक (हालाँकि एकमात्र नहीं) वज़ह हो सकती है कि क्यों उदारवादी पश्चिम के केन्द्र स्थलों तक के मतदाता उदारवादी क़िस्से और लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में अपना विश्वास खोते जा रहे हैं। साधारण लोग आर्टिफ़िशिलय इंटेलिजेंस और जैवप्रौद्यागिकी की समझ भले ही न रखते हों, लेकिन वे इस बात को महसूस कर सकते हैं कि भविष्य उनको अनछुए घटित हो रहा है। हो सकता है कि 1938 में यूएसएसआर (यूनियन ऑफ़ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक), जर्मनी या संयुक्त राज्य अमेरिका के आम व्यक्ति की हालत दुःखद रही हो, लेकिन उससे निरन्तर यह कहा जाता था कि वह दुनिया की सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है, और यह कि वह भविष्य है (ज़ाहिर तौर पर, बशर्ते तभी जब वह एक यहूदी या अफ़्रीकी होने की बजाय एक 'साधारण व्यक्ति' होता था)। वह प्रचार-सम्बन्धी पोस्टरों को देखता था, जिनमें आमतौर पर कोयला मज़दूरों, फ़ौलाद मज़दूरों और गृहणियों को वीरतापूर्ण मुद्रा में चित्रित किया गया होता था। और वहाँ ख़ुद को देखता था : "मैं उस पोस्टर में हूँ! मैं भविष्य का हीरो हूँ!"

2018 में यह आम व्यक्ति अपने को उत्तरोत्तर अप्रासंगिक महसूस कर रहा है। टेड (टीईडी = टेक्नॉलॉजी, एंटरटेनमेंट, एंड डिज़ाइन) वार्ताओं, सरकार के थिंक टैंकों और हाई-टेक सम्मेलनों में उत्साहपूर्वक ढेरों रहस्यमय शब्द उछाले जाते हैं- भूमण्डलीकरण, ब्लॉकचेन, जनेटिक इंजीनियरिंग, आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस, मशीन लर्निंग- और आम आदमी को उचित ही यह लग सकता है कि इनमें से किसी शब्द का रिश्ता उनसे नहीं है। उदारवादी क़िस्सा जनसाधारण का क़िस्सा था। साइबोर्गों और परस्पर जुड़े ऐल्गरिदमों के विशाल तन्त्र की दुनिया में यह क़िस्सा प्रासंगिक कैसे बना रह सकता है?

बीसवीं सदी में जन-समुदायों ने शोषण के विरुद्ध क्रान्ति की थी, और अर्थव्यवस्था में अपनी नियामक भूमिका को राजनीतिक शक्ति में रूपान्तरित करने की कोशिश की थी। अब जन-समुदाय अप्रासंगिक हो जाने से डरते हैं, और, इसके पहले कि बहुत देर हो जाए, वे

अपनी बची-खुची राजनीतिक शक्ति का इस्तेमाल करने को लेकर व्यग्र हैं। इस तरह ब्रेक्ज़िट और ट्रम्प का अभ्युदय पारम्परिक समाजवादी क्रान्तियों के प्रक्षेप-पथ के विपरीत प्रक्षेप-पथ साबित हो सकते हैं। रूसी, चीनी और क्यूबाई क्रान्तियाँ उन लोगों द्वारा लाई गई थीं, जो अर्थव्यवस्था के लिए तो अनिवार्य महत्त्व रखते थे, लेकिन जिनके पास राजनीतिक शक्ति नहीं थी। 2016 में ट्रम्प और ब्रेक्ज़िट का उन बहुत-से लोगों द्वारा समर्थन किया गया था, जो अभी भी राजनीतिक शक्ति का उपभोग तो कर रहे थे, लेकिन जिनको भय था कि वे अपना आर्थिक मूल्य खोते जा रहे हैं। सम्भवतः इक्कीसवीं सदी में जनवादी क्रान्तियाँ उस आर्थिक कुलीन वर्ग के ख़िलाफ़ नहीं होंगी, जो लोगों का शोषण करता है, बल्कि वे उस आर्थिक कुलीन वर्ग के ख़िलाफ़ होंगी, जिसे अब उनकी कोई ज़रूरत नहीं रह गई है। ये शायद एक ऐसी लड़ाई हो सकती है, जिसमें पराजय सुनिश्चित हो। अप्रासंगिकता के ख़िलाफ़ लड़ना शोषण के ख़िलाफ़ लड़ने से ज़्यादा मुश्किल काम है।

उदारवादी फ़ीनिक्स

यह पहली बार नहीं है, जब उदारवादी क़िस्से का विश्वास के संकट से सामना हुआ है। जब से इस क़िस्से ने वैश्विक प्रभाव क़ायम किया है, यानी उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्द्ध से, तभी से यह नियमित रूप से संकट झेलता रहा है। भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के पहले युग का अन्त पहले विश्वयुद्ध के रक्तस्नान के साथ हुआ था, जब साम्राज्यवादी सत्ता की राजनीतियों ने प्रगति के वैश्विक अभियान को बीच में ही रोक दिया था। सारायेवो में आर्कड्यूक फ्रांज़ फ़र्दिनान्द की हत्या के बाद के दिनों में पता चला था कि महाशक्तियाँ उदारवाद से कहीं ज़्यादा साम्राज्यवाद में विश्वास रखती थीं, और दुनिया को उन्मुक्त और शान्तिपूर्ण वाणिज्य के माध्यम से संगठित करने की बजाय उनका ध्यान निर्मम बलप्रयोग के दम पर संसार का एक बड़ा हिस्सा हथिया लेने पर केन्द्रित था। तब भी उदारवाद इस फ्रांज़ फ़र्दिनान्द क्षण से बच निकला था और इस बवंडर के भीतर से पहले से ज़्यादा शक्तिशाली होकर बाहर आ गया था, इस आश्वासन के साथ कि 'यह युद्ध सारे युद्धों को समाप्त करने वाला युद्ध' है। कहा जाता है कि इस अपूर्व हत्याकाण्ड ने मानव जाति को साम्राज्यवाद की भयावह क़ीमत की सीख दी थी, और अब मानव जाति अन्ततः स्वतन्त्रता और शान्ति के सिद्धान्तों पर आधारित एक नई दुनिया रचने के लिए तैयार थी।

इसके बाद हिटलर क्षण आया, जब 1930 के दशक में और 1940 के दशक के शुरुआती वर्षों में, फ़ासीवाद कुछ समय के लिए प्रतिरोध से परे प्रतीत होने लगा था। इस ख़तरे पर हुई जीत अगले ख़तरे की शुरुआत बन गई। 1950 और 1970 के दशकों के बीच, चे ग्वारा क्षण के दौरान, एक बार फिर लगा कि उदारवाद अपनी मौत के क़रीब है, और भविष्य साम्यवाद के हाथों में है। अन्त में यह साम्यवाद था, जो धराशायी हुआ। सुपरमार्केट गुलाग से ज़्यादा

ताक़तवर साबित हुआ। इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उदारवादी क़िस्सा इसके किसी भी प्रतिद्वन्द्वी के मुक़ाबले ज़्यादा लचीला और गतिशील साबित हुआ। इसने साम्राज्यवाद, फ़ासीवाद और साम्यवाद के कुछ श्रेष्ठतम विचारों और व्यवहारों को अपनाते हुए इन पर विजय पाई। ख़ासतौर से उदारवादी क़िस्से ने साम्यवाद से समवेदना के दायरे को विस्तार देने और स्वतन्त्रता के साथ-साथ समानता को महत्त्व देने की सीख ली।

शुरुआत में, उदारवादी क़िस्सा मुख्यतः आज़ादी और मध्यवर्गीय यूरोपीय पुरुषों के विशेष हक़ों की चिन्ता करता था, और कामगार वर्ग के लोगों, स्त्रियों, अल्पसंख्यकों और ग़ैर-पश्चिमी लोगों की दुर्दशा के प्रति अन्धेपन का रवैया अपनाता लगता था। जब 1918 में विजेता ब्रिटेन और फ्रांस उत्साहपूर्वक आज़ादी की बात करते थे, तो वे अपने विश्वव्यापी साम्राज्यों की प्रजा के बारे में नहीं सोच रहे होते थे। उदाहरण के लिए, स्वाधीनता की हिन्दुस्तानियों की माँगों का जवाब 1919 के अमृतसर के नरसंहार से दिया गया था, जिसमें अँग्रेज़ी सेना ने सैकड़ों निहत्थे प्रदर्शकारियों की सामूहिक हत्याएँ की थीं।

यहाँ तक कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम के उदारवादियों को अपने कथित रूप से सार्वभौमिक मूल्यों को ग़ैर-पश्चिमी लोगों पर लागू करने में भारी कठिनाई पेश आ रही थी। नतीजतन, जब डच लोग 1945 में पाँच साल लम्बे नृशंस नाज़ी क़ब्ज़े से बाहर निकले, तो उन्होंने जो लगभग पहला काम किया, वह यह था कि उन्होंने एक सेना खड़ी की और उसे आधी दुनिया पार करते हुए इंडोनेशिया के अपने पूर्व उपनिवेश को फिर से हथियाने के लिए रवाना कर दिया। जहाँ 1940 में डचों ने चार दिन से कुछ ही ज़्यादा समय की लड़ाई के बाद अपनी स्वाधीनता से हाथ धो लिए थे, वहीं वे इंडोनेशियाई स्वाधीनता को कुचलने के लिए कड़वाहट भरे चार से ज़्यादा वर्षों तक लड़ते रहे। आश्चर्य की बात नहीं कि दुनियाभर के बहुत-से राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों ने अपनी उम्मीदें पश्चिम के आज़ादी के स्वघोषित सूरमाओं की बजाय साम्यवादी मॉस्को और बीजिंग पर केन्द्रित कीं।

लेकिन धीरे-धीरे उदारवादी क़िस्सा अपने क्षितिजों का विस्तार करता गया, और कम-से-कम सिद्धान्तः निरपवाद रूप से सारे मनुष्यों की आज़ादी और अधिकारों को मूल्यवान मानने लगा। जैसे-जैसे आज़ादी का दायरा विस्तृत होता गया, वैसे-वैसे उदारवादी क़िस्सा साम्यवादी शैली के कल्याणकारी कार्यक्रमों के महत्त्व को भी स्वीकारता गया। आज़ादी तब तक बहुत ज़्यादा मायने नहीं रखती, जब तक कि उसे किसी-न-किसी तरह सामाजिक सुरक्षा तन्त्र से नहीं जोड़ा जाता। सोशल-डेमोक्रेटिक कल्याणकारी राज्यों ने लोकतन्त्र और मानवाधिकारों को राज्य-प्रायोजित शिक्षा और स्वास्थ्य कल्याण से जोड़ा। यहाँ तक कि अति-पूँजीवादी संयुक्त राज्य अमेरिका को भी यह अहसास हो गया है कि आज़ादी की हिफ़ाज़त कम-से-कम कुछ सरकारी सेवाओं की माँग करती है। भूखों मरते बच्चों के पास कोई आज़ादी नहीं होती।

1990 के दशक के शुरुआती वर्षों के आते-आते विचारकों और राजनेताओं, दोनों ने समान रूप से 'इतिहास के अन्त' की प्रशंसा की और पूरे आत्मविश्वास के साथ दावा किया कि अतीत के सारे राजनीतिक और आर्थिक सवालों के जवाब दिए जा चुके हैं, और यह कि

लोकतन्त्र, मानवाधिकारों, मुक्त बाज़ारों और शासकीय कल्याणकारी सेवाओं का नए सिरे से तैयार किया गया उदारवादी पैकेज अब एकमात्र विकल्प है। ऐसा लगा था कि यह पैकेज निश्चित रूप से सारी दुनिया में फैल जाएगा, सारी बाधाओं को पार कर लेगा, सारी राष्ट्रीय सरहदों को पार कर लेगा, और मानव जाति को एक स्वतन्त्र वैश्विक समुदाय में बदल देगा।

लेकिन इतिहास का अन्त नहीं हुआ है, और फ्रांज़ फ़र्दिनान्द क्षण, हिटलर क्षण, और चे ग्वारा क्षण के बाद अब हम ख़ुद को ट्रम्प क्षण में पाते हैं। इस बार, लेकिन, उदारवादी क़िस्सा साम्राज्यवाद, फ़ासीवाद, या साम्यवाद जैसे किसी सुसंगत विचारधारापरक प्रतिद्वन्द्वी का सामना नहीं कर रहा है। ट्रम्प क्षण कहीं ज़्यादा शून्यवादी (निहिलिस्टिक) है।

जहाँ बीसवीं सदी के तमाम बड़े आन्दोलनों के पास समूची मानव प्रजाति को लेकर एक स्वप्न हुआ करता था - वह चाहे वैश्विक वर्चस्व का स्वप्न हो, क्रान्ति का हो या मुक्ति का हो - वहीं डोनाल्ड ट्रम्प के पास ऐसी कोई चीज़ नहीं है। स्थिति इसके एकदम विपरीत है। उनका मुख्य सन्देश है कि यह अमेरिका की ज़िम्मेदारी नहीं है कि वह किसी वैश्विक स्वप्न को निरूपित या प्रोत्साहित करे। इसी तरह, ब्रितानी ब्रेक्ज़िटवादियों के पास असम्बद्ध किंगडम के भविष्य की कोई योजना नहीं है- यूरोप का भविष्य और दुनिया का भविष्य उनकी दृष्टि की पहुँच से बाहर है। जिन ज़्यादातर लोगों ने ट्रम्प और ब्रेक्ज़िट के पक्ष में मतदान किया था, उन्होंने उदारवादी पैकेज को उसकी सम्पूर्णता में नहीं नकारा था। उन्होंने मुख्यतः इसकी भूमण्डलीकारक भूमिका में अपनी आस्था खो दी थी। वे अभी भी लोकतन्त्र, मुक्त बाज़ार, मानवाधिकारों और सामाजिक ज़िम्मेदारी में विश्वास करते हैं, लेकिन उनका मानना है कि ये ख़ूबसूरत धारणाएँ सरहद पर ठहर सकती हैं। वाक़ई, उनका विश्वास है कि यॉर्कशायर या केंटकी में आज़ादी और समृद्धि का संरक्षण करने के लिए सरहद पर एक दीवार खड़ी कर देना, और विदेशियों के प्रति अनुदार नीतियाँ अपनाना सबसे अच्छा है।

उभरती हुई चीनी महाशक्ति इसकी लगभग आईने में उलट छवि पेश करती है। यह अपनी घरेलू राजनीति के उदारीकरण को लेकर सावधान है, लेकिन इसने बाक़ी दुनिया के प्रति अपेक्षाकृत उदार रवैया अपनाया हुआ है। दरअसल, जब मुक्त व्यापार और अन्तरराष्ट्रीय सहकार का मसला आता है, तो शी जिनपिंग ओबामा के वास्तविक उत्तराधिकारी जैसे दिखते हैं। मार्क्सवाद-लेनिनवाद को एक तरफ़ रख चुकने के बाद चीन उदार अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था से प्रसन्न ही नज़र आता है।

पुनरुत्थानशील रूस ख़ुद को वैश्विक उदारवादी व्यवस्था के कहीं ज़्यादा शक्तिशाली शत्रु के रूप में देखता है। यद्यपि इसने अपनी सैन्य शक्ति की पुनर्रचना कर ली है, लेकिन यह विचारधारात्मक स्तर पर दिवालिया है। व्लादिमीर पुतिन रूस और दुनिया के विभिन्न दक्षिणपन्थी आन्दोलनों, दोनों के बीच निश्चय ही लोकप्रिय हैं, लेकिन उनके पास ऐसी कोई सार्वभौमिक विश्वदृष्टि नहीं है, जो बेरोज़गार स्पेनियों, असन्तुष्ट ब्राज़ीलियाइयों या कैम्ब्रिज के अव्यावहारिक आशावादियों को आकर्षित कर सके।

रूस उदार लोकतन्त्र का एक वैकल्पिक मॉडल ज़रूर पेश करता है, लेकिन यह मॉडल कोई सुसंगत राजनीतिक विचारधारा नहीं है। इसकी बजाय, यह एक ऐसी राजनीतिक क़वायद है, जिसमें देश की सम्पत्ति और सत्ता पर मुट्ठीभर ताक़तवर लोगों का एकाधिकार है, और जो मीडिया पर अपने नियन्त्रण का इस्तेमाल अपनी गतिविधियों को छिपाने और अपनी हुकूमत को मज़बूत बनाने के लिए करते हैं। लोकतन्त्र अब्राहम लिंकन के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि "आप सारे लोगों को कुछ समय के लिए, और कुछ लोगों को सारे समय बेवकूफ़ बना सकते हैं, लेकिन आप सारे लोगों को सारे समय बेवकूफ़ नहीं बना सकते।" अगर कोई सरकार भ्रष्ट है और लोगों के जीवन में सुधार लाने में विफल रहती है, तो पर्याप्त संख्या में नागरिक अन्ततः इस बात को समझ जाएँगे और सरकार को बदल देंगे, लेकिन मीडिया पर सरकार का नियन्त्रण लिंकन के तर्क को निष्प्रभावी बना देता है, क्योंकि यह नागरिकों को सच्चाई को जानने से रोकता है।' मीडिया पर अपने एकाधिकार के माध्यम से सत्ताधारी कुलीन वर्ग बार-बार अपनी नाकामयाबियों को दूसरों के मत्थे मढ़ सकता है, और लोगों का ध्यान बाहरी ख़तरों की दिशा में मोड़ सकता है - फिर वे ख़तरे वास्तविक हों या काल्पनिक।

जब आप ऐसे मुट्ठीभर सत्ताधारियों के अधीन रहते हैं, तो हमेशा ऐसा कोई-न-कोई संकट खड़ा रहता है, जो स्वास्थ्य-सेवा और प्रदूषण जैसी उबाऊ चीज़ों पर प्राथमिकता हासिल कर लेता है। अगर राष्ट्र किसी बाहरी हमले या किसी शैतानी विनाश के ख़तरे का सामना कर रहा हो, तो किसके पास इतना समय है कि वह इस बात की चिन्ता करता बैठे कि अस्पतालों में क्षमता से ज़्यादा मरीज़ भरे हैं और नदियाँ प्रदूशित हो रही हैं? संकटों के असमाप्य सिलसिले को गढ़ते हुए, मुट्ठीभर सत्ताधारियों का यह वर्ग अपनी हुकूमत को अन्तहीन समय तक जारी रख सकता है।

लेकिन व्यावहारिक स्तर पर टिकाऊ होने के बावजूद मुट्ठीभर लोगों की सत्ता का यह मॉडल किसी को आकर्षित नहीं करता। उन दूसरी विचारधाराओं से भिन्न,जो गर्व के साथ अपनी परिकल्पना का प्रतिपादन करती हैं, मुट्ठीभर सत्ताधारियों के ये वर्ग अपने आचरण पर गर्व नहीं करते, और वे आपकी आँखों में धूल झोंकने के लिए दूसरी विचारधाराओं का इस्तेमाल करते हैं। इसी मायने में रूस लोकतन्त्र का ढोंग रचता है, और उसका नेतृत्व एकाधिकारवाद की बजाय रूसी राष्ट्रवाद और कट्टरपन्थी ईसाइयत के मूल्यों में निष्ठा का दावा करता है। फ़्रांस और ब्रिटेन के दक्षिणपन्थी उग्रवादी शायद रूस की मदद पर भरोसा कर सकते हैं और पुतिन के प्रति सराहना व्यक्त कर सकते हैं, लेकिन उनके मतदाता भी शायद उस देश में रहना पसन्द नहीं करेंगे, जो वास्तव में रूसी मॉडल की नक़ल करता है - एक ऐसा देश जहाँ नियमित भ्रष्टाचार और कुचालित सेवाएँ हैं, जहाँ क़ानून का शासन नहीं है, और विस्मित कर देने वाली असमानता है। कुछ आकलनों के मुताबिक़ रूस दुनिया के सबसे ज़्यादा ग़ैरबराबरी वाले मुल्कों में से एक है, जहाँ 87 % सम्पत्ति 10 : समृ समृद्धतम लोगों के हाथों में केन्द्रित है। *फ़्रंट नेशनल* (फ़्रांस की एक दक्षिणपन्थी लोकलुभावन और राष्ट्रवादी

पार्टी) के कामगार वर्ग के कितने समर्थक फ़्रांस में सम्पत्ति-विभाजन के इस ढाँचे की नक़ल करना चाहेंगे?

इंसान किसी जगह जाना या न जाना चाहने के अपने चुनाव की मार्फ़त किसी चीज़ के बारे में अपने विचार ज़ाहिर करते हैं। दुनियाभर की अपनी यात्राओं के दौरान मैं ऐसे अनगिनत लोगों से मिला हूँ, जो संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, कनाडा या ऑस्ट्रेलिया में जाकर बसने की इच्छा रखते हैं। मैं ऐसे भी कुछ लोगों से मिला हूँ, जो चीन या जापान में बसना चाहते हैं, लेकिन अब तक मेरी मुलाक़ात एक भी ऐसे व्यक्ति से नहीं हुई है, जो रूस में जाकर बसने का सपना देखता हो।

जहाँ तक 'वैश्विक इस्लाम' का प्रश्न है, यह मुख्यतः उन लोगों को आकर्षित करता है, जो इसकी गोद में जन्मे थे। जहाँ यह सीरिया या इराक़ के कुछ लोगों और जर्मनी तथा ब्रिटेन के अलग-थलग पड़े मुसलमान नौजवानों तक को लुभा सकता है, वहीं इस बात की लगभग कोई सम्भावना नहीं है कि ग्रीस या दक्षिण अफ़्रीका अपनी समस्याओं के समाधान के लिए किसी वैश्विक ख़िलाफ़त में शरीक होना चाहेंगे, कनाडा या दक्षिण कोरिया को तो छोड़ ही दें। इस मामले में भी लोग किसी जगह जाना या न जाना चाहने के अपने चुनाव की मार्फ़त किसी चीज़ के बारे में अपने विचार ज़ाहिर करते हैं। किसी मुस्लिम मज़हबी सल्तनत के अधीन रहने मध्य पूर्व की यात्रा पर गए जर्मनी के प्रत्येक मुसलमान नौजवान के मुक़ाबले सम्भवतः मध्य पूर्व के सौ नौजवानों ने विपरीत दिशा में यात्रा की होगी, और उदार जर्मनी में अपनी नई ज़िन्दगी की शुरुआत की होगी।

इसका यह मतलब निकल सकता है कि आस्था का मौजूदा संकट इसके पहले के संकटों के मुक़ाबले कम प्रचण्ड है। पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं से हताशा की स्थिति में धकेल दिए गए किसी भी उदारवादी को सिर्फ़ इतना याद करना चाहिए कि 1918, 1938 या 1968 में हालात कितने बदतर दिखाई देते थे। हाल के वर्षों में हम जो कुछ देख रहे हैं, वह उदारवादी क़िस्से का सम्पूर्ण परित्याग नहीं है। इसकी बजाय हम 'तयशुदा व्यंजन-सूची (मेन्यू) दृष्टिकोण' से हटकर 'बफ़े मानसिकता' की ओर बढ़ने को लक्ष्य कर रहे हैं।

मौजूदा घटनाक्रम को समझना किसी हद तक इसलिए मुश्किल है, क्योंकि उदारवाद का स्वरूप कभी भी एकल नहीं रहा है। उदारवाद आज़ादी का आनन्द लेता है, लेकिन आज़ादी के अलग-अलग सन्दर्भों में अलग-अलग अर्थ होते हैं। एक व्यक्ति के लिए उदारवाद का मतलब स्वतन्त्र चुनाव और लोकतन्त्रीकरण होता है। दूसरा व्यक्ति सोचता है कि उदारवाद का मतलब है व्यापारिक सौदे और भूमण्डलीकरण। तीसरा व्यक्ति उदारवाद को समलैंगिक विवाह और गर्भपात से जोड़कर देखता है। उदारवाद आर्थिक, राजनीतिक और निजी क्षेत्रों में, और राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय, दोनों ही स्तरों पर, व्यवहार के लिए विविध क़िस्म के परामर्श देता है। आगे दी गई तालिका उदारवाद के मुख्य घटकों को संक्षेप में प्रस्तुत करती है :

जिस उदारवादी क़िस्से का हाल के वर्षों में दुनिया पर बोलबाला रहा है, उसका तर्क था कि उपर्युक्त छहों घटकों के बीच मज़बूत और मूलभूत रिश्ते हैं। आप एक के बिना दूसरे को

हासिल नहीं कर सकते, क्योंकि एक क्षेत्र की प्रगति दूसरे क्षेत्रों की प्रगति को अनिवार्य बनाती है और उत्प्रेरित करती है। उदाहरण के लिए, मुक्त बाज़ारों की सफलता के लिए मुक्त चुनाव अनिवार्य हैं - लोकतन्त्र के बिना बाज़ार जल्दी ही मिलीभगत और सरकारी भ्रष्टाचार के शिकार हो जाएँगे। इसी तरह, लैंगिक समानता अन्तरराष्ट्रीय शान्ति को प्रोत्साहित करती है, क्योंकि युद्ध आम तौर से पितृसत्तात्मक मूल्यों और पुरुषवादी राजनेताओं द्वारा भड़काए जाते हैं। वहीं वैश्विक आर्थिक एकीकरण स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र उपभोक्ताओं के बीच सामंजस्य की माँग करता है। अगर मैं मात्र 3 राष्ट्रीय ब्राण्डों की बजाय 100 वैश्विक ब्राण्डों में से चुनाव कर सकता हूँ, तो मैं अधिक वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उपभोग करता हूँ। और इसी तरह दूसरे मामलों में भी समझा जाना चाहिए। नतीजतन, अगर कोई मुल्क उदारवादी तयशुदा व्यंजन-सूची से किसी एक व्यंजन - मसलन आर्थिक उदारीकरण- का आनन्द लेना चाहता है, तो उसके पास दूसरे व्यंजनों को न लेने का कोई विकल्प नहीं है।

उदारवादी तयशुदा व्यंजन-सूची

	राष्ट्रीय स्तर	**अन्तरराष्ट्रीय स्तर**
आर्थिक क्षेत्र	मुक्त बाज़ार, निजीकरण, हल्के कर	मुक्त व्यापार, वैश्विक एकीकरण, हल्के शुल्क
राजनीतिक क्षेत्र	स्वतन्त्र चुनाव, क़ानून का शासन, अल्पसंख्यकों के अधिकार	शान्तिपूर्ण रिश्ते, बहुपक्षीय सहयोग, अन्तरराष्ट्रीय क़ानून और संगठन
व्यक्तिगत क्षेत्र	चयन की स्वतन्त्रताएँ, व्यक्तिवाद, विविधता, लैंगिक आधार पर समानता	व्यक्तिगत आवाजाही और दूसरे मुल्क में बसने की सहूलियत

जो चीज़ अब सारी दुनिया के लोकलुभावन और राष्ट्रीय आन्दोलनों में समान है, वह यह है कि अगर वे ख़ुद को 'उदारता-विरोधी' कहते हैं, तो भी उनमें कोई उदारतावाद का अन्धाधुन्ध तिरस्कार नहीं करता। इसकी बजाय वे निर्धारित व्यंजन-सूची पद्धति का तिरस्कार करते हैं, और एक उदारवादी बुफ़े से अपना मनपसन्द व्यंजन चुनना चाहते हैं। इसीलिए ट्रम्प अभी भी मुक्त बाज़ारों और निजीकरण के बहुत ज़्यादा पक्ष में हैं, लेकिन उनका ख़याल है कि वे बहुपक्षीय सहकार और मुक्त व्यापार तक को कमज़ोर करते हुए इन चीज़ों को हासिल कर सकते हैं। चीन मुक्त व्यापार का समर्थन करता है, और इसका बेल्ट-एंड-रोड इनीशिएटिव भूमण्डलीकरण की अब तक परिकल्पित परियोजनाओं में सबसे ज़्यादा महत्त्वाकांक्षी परियोजना है, लेकिन स्वतन्त्र चुनावों को लेकर इसमें दूर-दूर तक कोई उत्साह नहीं है। ब्रिटेन के ब्रेक्ज़िटवादी लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं और व्यक्तिवाद को लेकर उनका कोई विरोध

नहीं है, लेकिन उनको बहुपक्षीय सहयोग और अन्तरराष्ट्रीय संगठनों को बहुत ज़्यादा शक्ति प्रदान करने का विचार रास नहीं आता। विक्तोर ऑर्बान ने अपनी शासन-व्यवस्था को 'अनुदार लोकतन्त्र' के रूप में परिभाशित करते हुए तर्क दिया है कि आप हंगरी में अल्पसंख्यकों के अधिकार, विविधता और व्यक्तिवाद के प्रति प्रतिबद्धता की घोषणा किए बिना स्वतन्त्र चुनाव करा सकते हैं।

जो एक व्यंजन लगभग हर कोई, कम-से-कम सिद्धान्ततः, चाहता है, वह है शान्तिपूर्ण अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध। ये उदारवादी बुफ़े का चॉकलेट केक है। इसके विपरीत, जिस एक व्यंजन - जो कि वैश्विक अजवाइन है - की लालसा लगभग किसी को नहीं है, वह है अप्रवासन (अपने देश में दूसरे देश के लोगों का आ बसना)। यहाँ तक कि लोकतन्त्र, व्यक्तिवाद और बहुपक्षीय सहयोग के कट्टर समर्थक भी परदेसियों को अपने मुल्क में आने देने को लेकर निश्चयात्मक ढंग से उदासीन हो चुके हैं।

लेकिन अभी यह देखना है कि क्या बुफ़े पद्धति कारगर हो सकती है। भोजन की यह उपमा बहुत गुमराह करने वाली हो सकती है। रेस्ताराँओं में तयशुदा व्यंजन-सूची स्वतन्त्र व्यंजनों का एक मनमाना समागम होता है, लेकिन उदारवादी क़िस्सा हमेशा इस बात पर ज़ोर देता रहा है कि उदारवादी प्रणाली परस्पर-निर्भर अंगों से निर्मित एक जीवित जन्तु है। जहाँ आप सूप को डेज़र्ट से आसानी-से अलग कर सकते हैं, वहीं आप हृदय को फेंफड़ों से अलग नहीं कर सकते। क्या ट्रम्प वाक़ई संयुक्त राज्य अमेरिका में वैश्विक स्तर के मुक्त व्यापार को कमज़ोर बनाते हुए मुक्त बाज़ारों को प्रोत्साहित कर सकते हैं? क्या चीन की कम्युनिस्ट पार्टी राजनीतिक उदारीकरण की दिशा में कोई क़दम उठाए बग़ैर आर्थिक उदारीकरण के फल चखना जारी रख सकती है? क्या हंगरीवासी व्यक्तिगत आज़ादी के बिना लोकतन्त्र हासिल कर सकते हैं, या ऑर्बान का 'अनुदारतावादी लोकतन्त्र' 'तानाशाही' कहने का महज़ एक शालीन ढंग है? क्या सरहदों पर दीवारें खड़ी करती और व्यापारिक युद्धों को तीव्र करती दुनिया में अन्तरराष्ट्रीय शान्ति बची रह सकती है? बुफ़े पद्धति का नतीजा सम्भवतः राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय, दोनों ही स्तरों पर उदारवादी व्यवस्था के धराशायी होने के रूप में सामने आ सकता है।

अगर ऐसा होता है, तो वह कौन-सी वैकल्पिक कल्पना है, जो उदारवादी क़िस्से की जगह ले सकती है? एक विकल्प किसी भी तरह के वैश्विक क़िस्से को पूरी तरह त्याग देने और उसकी जगह स्थानीय राष्ट्रवादी और मज़हबी कहानियों में पनाह ढूँढने का हो सकता है। बीसवीं सदी में, राष्ट्रवादी आन्दोलनों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिकाएँ निभाई थीं, लेकिन उनके पास स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों में भूमण्डल के विभाजन का समर्थन करने के अलावा भविष्य की किसी तरह की सुसंगत कल्पना का अभाव था। नतीजतन, इंडोनेशियाई राष्ट्रवादी डच शासन के ख़िलाफ़ लड़े, और वियतनामी राष्ट्रवादी एक स्वतन्त्र वियतनाम चाहते थे, लेकिन कोई समग्र इंडोनेशियाई या वियतनामी क़िस्सा नहीं था। जब यह स्पष्ट करने का सवाल उठा कि इंडोनेशिया, वियतनाम और अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों को एक-दूसरे के साथ किस

तरह जुड़ना चाहिए, और मनुष्यों को परमाणु युद्ध के ख़तरे जैसी वैश्विक समस्याओं से किस तरह निपटना चाहिए, तो सारे-के-सारे राष्ट्रवादी अपने उदारवादी या साम्यवादी विचारों का मुँह जोहने लगे।

लेकिन अगर आज उदारवाद और साम्यवाद, दोनों की साख गिर चुकी है, तो बहुत मुमकिन है कि मनुष्य किसी एकल वैश्विक क़िस्से का विचार ही त्याग दें? आख़िरकार, क्या ये सारे वैश्विक क़िस्से - यहाँ तक कि साम्यवाद भी - पश्चिमी साम्राज्यवाद की पैदाइश नहीं थे? वियतनामी ग्रामीणों को ट्रिअर के एक जर्मन की मानसिक सन्तान और मैनचेस्टर के उद्योगपति के प्रति अपनी आस्था क्यों समर्पित कर देनी चाहिए? क्या यह मुमकिन नहीं कि हर मुल्क अपनी ख़ुद की प्राचीन परम्पराओं द्वारा दिखाए गए एक अलग विशिष्ट रास्ते को अपनाए? यहाँ तक कि पश्चिम के लोग भी दुनिया को संचालित करने की कोशिश से विराम लेकर कुछ नया और दिलचस्प करने के लिए अपने ख़ुद के मसलों पर ध्यान केन्द्रित करें?

देखा जाए, तो सारी दुनिया में आज यही तो हो रहा है कि उदारवाद के ध्वंस ने जो रिक्ति पैदा की है, उसे तात्कालिक तौर पर किसी स्थानीय स्वर्णिम अतीत की कल्पनाओं से भरा जा रहा है। डोनाल्ड ट्रम्प ने अमेरिकी अलगाववाद के अपने आह्वानों को 'अमेरिका को एक बार फिर से महान बनाने' के आश्वासन से जोड़ा था - मानो 1980 या 1950 के दशक का संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसा सम्पूर्ण समाज रहा हो, जिसकी पुनर्रचना अमेरिकियों को किसी तरह इक्कीसवीं सदी में कर लेनी चाहिए। ब्रेक्ज़िटवादी ब्रिटेन को एक स्वाधीन शक्ति बनाने का सपना देखते हैं, मानो वे अभी भी रानी विक्टोरिया के ज़माने में रह रहे हों और मानो इंटरनेट तथा ग्लोबल वर्मिंग के इस युग में 'वैभवशाली अलगाव' एक साध्य नीति हो। चीन के कुलीन वर्ग ने अपनी जातीय शाही और कन्फ़्यूशियाई विरासत को उस सन्दिग्ध मार्क्सवादी विचारधारा के पूरक, यहाँ तक कि विकल्प के रूप में ढूँढ निकाला है, जिस विचारधारा को उन्होंने पश्चिम से आयात किया था। उधर, रूस में पुतिन की अधिकृत कल्पना मुट्ठीभर कुलीनों की एक भ्रष्ट सत्ता खड़ी करने की नहीं है, बल्कि पुराने ज़ारवादी साम्राज्य का पुनरुद्धार करने की है। बोल्शेविक क्रान्ति की एक सदी के बाद, पुतिन प्राचीन ज़ारवादी वैभव को वापस ले आने का आश्वासन दे रहे हैं, जो एक ऐसी निरंकुश सरकार से युक्त होगा, जो रूसी राष्ट्रवाद और बाल्टिक से लेकर कॉकेसस तक अपने प्रताप का विस्तार करती ऑर्थोडॉक्स धर्मनिष्ठा के बूते अपना सिर उठाकर चलेगी।

राष्ट्रवादी लगाव को मज़हबी परम्पराओं से जोड़ने वाले अतीत मोह से ग्रस्त ऐसे ही सपने हिन्दुस्तान, पोलैंड, तुर्की और बहुत-से दूसरे शासनों को सहारा दिए हुए हैं। ये दिवास्वप्न जिस अतिरंजित स्तर पर मध्य पूर्व में हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं है, जहाँ इस्लामपरस्त लोग उस व्यवस्था का अनुकरण करना चाह रहे हैं, जिसे 1,400 साल पहले मोहम्मद पैग़म्बर ने मदीना नगर में स्थापित किया था, वहीं इज़रायल के कट्टरपन्थी यहूदियों ने तो इन इस्लामपरस्तों को भी पीछे छोड़ दिया है, और वे 2,500 साल पहले के बाइबल के युग में लौटने का सपना देख रहे हैं। इज़रायल की सत्ताधारी गठबन्धन सरकार के लोग इज़रायल की सरहदों को बाइबल

युग के इज़रायल की सरहदों के ज़्यादा से ज़्यादा क़रीब तक विस्तार देने, बाइबलपरक संहिता को बहाल करने, और यहाँ तक कि यरुशलम में अल-अक़्सा मस्जिद की जगह याह्वेह के प्राचीन उपासनागृह का पुनर्निर्माण करने की अपनी उम्मीद का खुलेआम इज़हार करते हैं।

उदारवादी कुलीन वर्ग इन घटनाक्रमों को भयाक्रान्त निगाहों से देखता है, और उम्मीद करता है कि मनुष्यता विनाश को टालने के लिए उदारवादी रास्ते पर मुड़ जाएगी। सितम्बर 2016 में संयुक्त राष्ट्र में अपने अन्तिम भाषण में राष्ट्रपति ओबामा ने अपने श्रोताओं को 'राष्ट्र और क़बीले और नस्ल और मज़हब के युगों पुराने ढर्रों के आधार पर दो-टूक ढंग से बँटी हुई, और अन्ततः टकराव की स्थिति में बनी दुनिया' की ओर वापस लौटने के ख़िलाफ़ चेतावनी दी थी। उन्होंने कहा था कि इसकी बजाय "खुले बाज़ारों तथा उत्तरदायी शासन, लोकतन्त्र और मानवाधिकारों तथा अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों के...सिद्धान्तों को इस सदी में मानवीय प्रगति की सबसे मज़बूत बुनियाद के रूप में क़ायम रहना चाहिए।"

ओबामा ने बिल्कुल सही संकेत किया था कि उदारवादी पैकेज की बहुत सारी ख़ामियों के बावजूद इसका रिकॉर्ड इसके किसी भी विकल्प के मुक़ाबले बहुत अच्छा रहा है। ज़्यादातर मनुष्यों ने इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक दौर की उदारवादी व्यवस्था के तहत जितनी शान्ति और समृद्धि का आनन्द लिया है, उतना कभी नहीं लिया था। यह इतिहास में पहली बार हुआ है, जब संक्रामक बीमारियाँ पुराने ज़माने के मुक़ाबले बहुत थोड़े-से लोगों की जानें लेती हैं, अकाल उससे कम लोगों की जानें लेता है, जितनों की मोटापा लेता है, और हिंसा उससे बहुत कम लोगों की जानें लेती है, जितनों की जानें दुर्घटनाएँ लेती हैं।

लेकिन उदारवाद के पास उन सबसे बड़ी समस्याओं के कोई स्पष्ट जवाब नहीं हैं, जिनका सामना हम कर रहे हैं : पारिस्थितिकीय ध्वंस और प्रौद्योगिकीय अराजकता। पारम्परिक रूप से उदारवाद जटिल क़िस्म के सामाजिक और राजनीतिक टकरावों को जादुई ढंग से सुलझाने के लिए आर्थिक विकास पर निर्भर किया करता था। उदारवाद ने हर किसी को कचौड़ी की एक बड़ा हिस्सा मिलने का आश्वासन देते हुए सर्वहारा वर्ग की बूर्ज़्वा वर्ग के साथ, आस्थावानों की नास्तिकों के साथ, स्थानीय निवासियों की परदेस से आ बसे लोगों के साथ, और यूरोपीय लोगों की एशियाइयों के साथ सुलह क़ायम की। अपने आकार में लगातार बड़ी होती कचौड़ी के सन्दर्भ में यह मुमकिन था, लेकिन आर्थिक विकास विश्व के पारिस्थितिकीय तन्त्र की रक्षा नहीं कर पाएगा। इसके विपरीत, वह इस पारिस्थितिकीय संकट का कारण है। और आर्थिक विकास प्रौद्योगिकीय अराजकता का समाधान नहीं कर पाएगा। वह स्वयं ही उत्तरोत्तर अराजक होती जाती प्रौद्योगिकियों पर आधारित है।

उदारवादी क़िस्सा और मुक्त-बाज़ार-पूँजीवाद का तर्क लोगों को महान उम्मीदें पालने के लिए प्रोत्साहित करता है। बीसवीं सदी के बाद के हिस्से में हर पीढ़ी ने- वह चाहे ह्यूस्टन की रही हो, शंघाई की रही हो, इस्तांबूल की रही हो या साओ पाउलो की रही हो - बेहतर शिक्षा, उत्कृष्ट स्वास्थ्य-सेवा और पहले के मुक़ाबले ज़्यादा आमदनियों का उपभोग किया था, लेकिन आने वाले दशकों में प्रौद्योगिकीय अराजकता और पारिस्थितिकीय गिरावट के संयोग के

परिणामस्वरूप नौजवान पीढ़ी अगर यथास्थिति में भी बनी रहे, तो यह उसकी ख़ुशक़िस्मती होगी।

नतीजतन, अब हमारे पास एक ही विकल्प बच रहता है कि हम दुनिया के लिए अब तक का एक अद्यतन (अपडेटेड) क़िस्सा गढ़ने के उद्यम में लग जाएँ। जिस तरह औद्योगिक क्रान्ति की उथल-पुथल ने बीसवीं सदी की अनूठी विचारधाराओं को जन्म दिया था, ठीक उसी तरह जैवप्रौद्योगिकी और सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र की आगामी क्रान्तियाँ नई कल्पनाओं की माँग कर सकती हैं। इसलिए मुमकिन है कि अगले दशक सघन आत्मानुसन्धान और नए सामाजिक और राजनीतिक मॉडलों को गढ़ने के लिए जाने जाएँ। क्या उदारवाद स्वयं को एक बार फिर नए सिरे से गढ़ सकता है, जैसा कि उसने 1930 और 1960 के दशकों के संकटों के बाद किया था, जब वह पहले के किसी भी समय के मुक़ाबले ज़्यादा आकर्षक होकर सामने आया था? क्या पारम्परिक मज़हब और राष्ट्रवाद वे जवाब मुहैया करा सकते हैं, जिनकी ओर उदारवादियों का ध्यान नहीं जा पा रहा है, और क्या वे एक अद्यतन विश्वदृष्टि को तराशने में प्राचीन प्रज्ञा का इस्तेमाल कर सकते हैं? या कहीं ऐसा वक़्त तो नहीं आ गया है, जब अतीत से पूरी तरह अलग हो जाना ज़रूरी हो गया हो, और एक ऐसा सर्वथा नया क़िस्सा गढ़ना ज़रूरी हो गया हो, जो न सिर्फ़ पुराने देवताओं और राष्ट्रों, बल्कि स्वतन्त्रता तथा समानता के आधुनिक मूल्यों के परे जाना वाला हो?

फ़िलहाल, मानव जाति इन सवालों को लेकर एकमत होने से बहुत दूर है। हम अभी भी मोहभंग और नाराज़गी की उस शून्य अवस्था में हैं, जहाँ लोग पुराने क़िस्सों में अपनी आस्था खो चुकने के बाद, लेकिन किसी नए क़िस्से को अंगीकार करने के पहले होते हैं। तब फिर क्या किया जाए? पहला क़दम है महाविनाश की भविष्यवाणियों की अति और आक्रामकता से बचना, और घबराहट की मनःस्थिति से हैरानी की मनःस्थिति में आना। घबराहट शेखी बघारने का एक रूप है। वह इस आत्मतुष्टि से पैदा होता है कि मुझे ठीक-ठीक पता है कि दुनिया किस तरफ़ जा रही है - गर्त में। हैरानी ज़्यादा विनम्र होती है, और इसलिए उसमें चीज़ों को देखने और परखने की अधिक सामर्थ्य होती है। अगर आपका मन ‘महाविनाश हमारे सर पर मँडरा रहा है!’ चिल्लाते हुए सड़क पर भागने का होता है, तो ख़ुद से यह कहने की कोशिश करके देखिए कि “नहीं, ऐसा नहीं है। सच्चाई यह है कि मैं समझ भर नहीं पा रहा हूँ कि दुनिया में क्या हो रहा है।”

आगामी अध्याय हमारे सामने मौजूद कुछ हैरान कर देने वाली नई सम्भावनाओं को स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे, और इस बात को भी कि हमारे अगले क़दम क्या हो सकते हैं, लेकिन मनुष्यता की दुर्दशाओं के सम्भावित समाधानों की छानबीन करने से पहले हमें उन चुनौतियों को बेहतर ढंग से समझना ज़रूरी है, जो चुनौतियाँ प्रौद्योगिकी हमारे सामने पेश कर रही है। सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी की क्रान्तियाँ अभी भी अपनी शैशवावस्था में हैं, और यह बात बहस योग्य है कि वे उदारवाद के मौजूदा संकट के लिए किस हद तक ज़िम्मेदार हैं। बर्मिंघम, इस्तांबूल, सेंट पीटर्सबर्ग और मुम्बई के ज़्यादातर लोग आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस के

उदय और उनकी ज़िन्दगियों पर पड़ सकने वाले उसके सम्भावित प्रभाव के बारे में अगर सचेत हैं भी, तो बहुत कम सचेत हैं, लेकिन यह बात असन्दिग्ध ढंग से कही जा सकती है कि ये प्रौद्योगिकीय क्रान्तियाँ आने वाले कुछ ही दशकों के भीतर रफ़्तार पकड़ लेंगी, और मानव जाति के समक्ष अब तक की सबसे कठिन अग्निपरीक्षाएँ पेश करेंगी। मनुष्यता की निष्ठा हासिल करने की आकांक्षा रखने वाला कोई भी क़िस्सा सबसे पहले सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी की इन जुड़वाँ क्रान्तियों से निपटने की उस क़िस्से की क़ाबिलियत से जाँचा जाएगा। अगर उदारवाद, राष्ट्रवाद, इस्लाम या कोई अन्य अनूठा मज़हबी पन्थ वर्ष 2050 की दुनिया को आकार देने की इच्छा रखता है, तो इसे न सिर्फ़ आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस, बिग डेटा ऐल्गारिदमों और जैव-इंजीनियरिंग की स्पष्ट समझ का परिचय देना होगा, बल्कि उसे इन सबको एक नए अर्थपूर्ण आख्यान में समाहित करना भी ज़रूरी होगा।

इस प्रौद्योगिकीय चुनौती की प्रकृति को समझने के लिए शायद यह बेहतर होगा कि हम रोज़गार मण्डी के साथ बात शुरू करें। मैं 2015 से सारी दुनिया का भ्रमण करते हुए सरकारी अधिकारियों, व्यापारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और स्कूली बच्चों से इस इंसानी विपत्ति के बारे में बात करता रहा हूँ। जब भी कभी ये लोग आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस, बिग डेटा और जैवइंजीनियरिंग की इस सारी चर्चा से उकताने या ऊबने लगते थे, तो उनका ध्यान वापस मोड़ने के लिए मुझे आमतौर से सिर्फ़ एक ही जादुई शब्द का इस्तेमाल करना पड़ता था : रोज़गार। यह प्रौद्योगिकीय क्रान्ति बहुत जल्दी अरबों इंसानों को रोज़गार मण्डी के बाहर धकेल सकती है, और एक विशालकाय नया अनुपयोगी वर्ग तैयार करती हुई एक ऐसी सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल का कारण बन सकती है, जिससे निपटने की समझ किसी भी मौजूदा विचारधारा के पास नहीं है। प्रौद्योगिकी और विचारधारा के बारे में यह सारी बातचीत अमूर्त और दूर की लग सकती है, लेकिन सामूहिक बेरोज़गारी - या निजी बेरोज़गारी - की वास्तविक आशंका के प्रति कोई भी व्यक्ति उदासीनता नहीं बरत सकता।

2

काम

जब आप बड़े होंगे, तो हो सकता है आपके पास कोई रोज़गार न हो

हमें कोई अनुमान नहीं है कि 2050 में रोज़गार मण्डी की क्या शक्ल होगी। इस पर आमतौर पर सहमति है कि मशीन लर्निंग (यह आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस का एक एप्लीकेशन है, जो कम्प्यूटरों को प्रकट तौर पर प्रोग्राम्ड हुए बिना स्वचालित ढंग से सीखने और अनुभव के आधार पर उन्नत होने में सक्षम बनाता है।) और रोबोटिक्स - दही बनाने से लेकर योग सिखाने तक - लगभग हर कार्यपद्धति को बदल देंगे, लेकिन इस बदलाव की प्रकृति को लेकर और यह सब कितनी जल्दी होगा, इसको लेकर वैचारिक मतभेद हैं। कुछ लोगों का मानना है कि एक या दो दशकों के भीतर अरबों लोग आर्थिक दृष्टि से बेकार हो जाएँगे। कुछ दूसरे लोग हैं, जो मानते हैं कि ऑटोमेशन (स्वचालन) लम्बा समय बीत जाने के बाद भी नए रोज़गार और सभी के लिए ज़्यादा समृद्धि उत्पन्न करना जारी रखेगा।

तब फिर हम किसी भयानक उथल-पुथल की कगार पर हैं, या फिर इस तरह के पूर्वानुमान निराधार लुडाइट हिस्टीरिया (लुडाइट 19 वीं सदी के अँग्रेज़ कपड़ा-मज़दूरों का एक संगठन था, जिनको यह भय था कि वस्त्र उद्योग में मशीनें उनकी जगह ले लेंगी। इस भय के चलते उन्होंने विरोध-स्वरूप वस्त्र निर्माण करने वाली मशीनों को नष्ट कर दिया था।) का एक और उदाहरण हैं? कहना मुश्किल है। स्वचालन द्वारा विशालकाय बेरोज़गारी को जन्म दिए जाने की आशंकाएँ उन्नीसवीं सदी से बनी हुई हैं, और उन्होंने अब तक कभी भी मूर्त रूप नहीं लिया है। औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही मशीन के हाथों एक रोज़गार खोए जाने के बदले कम-से-कम एक नया रोज़गार उत्पन्न होता रहा था, और औसत

जीवन-स्तर में ज़बरदस्त इज़ाफ़ा हुआ है, लेकिन यह सोचने की समुचित वज़ह मौजूद हैं कि इस बार स्थिति भिन्न है, और मशीन लर्निंग वास्तविक क्रान्तिकारी बदलाव लाने वाली साबित होगी।

मनुष्यों में दो तरह की क़ाबिलियतें होती हैं - शारीरिक और संज्ञानात्मक। अतीत में मशीनें मुख्यतः अपरिष्कृत भौतिक क़ाबिलियतों में ही मनुष्यों के साथ होड़ करती थीं, जबकि मनुष्य मशीन पर अपनी अपरिमित बढ़त बनाए रख पाता था। इसलिए जब कृषि और उद्योग के क्षेत्र में हाथ से किए जाने वाले काम स्वचालित ढंग से किए जाने लगे, तो वे नए रोज़गार पैदा हो गए, जो उस तरह की संज्ञानात्मक दक्षताओं की माँग करते थे, जैसी दक्षताएँ सिर्फ़ मनुष्यों में ही होती हैं: सीखना, विश्लेषण करना, सम्प्रेषण करना और इन सबसे ऊपर इंसानी जज़्बातों को समझना, लेकिन आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस अब मनुष्यों को इन दक्षताओं के मामले में उत्तरोत्तर मात देने की शुरुआत कर रहा है, जिनमें इंसानी जज़्बातों की समझ भी शामिल है। हमें शारीरिक और संज्ञानात्मक गतिविधियों से परे गतिविधि के ऐसे किसी तीसरे क्षेत्र की जानकारी नहीं है, जहाँ मनुष्य हमेशा एक सुरक्षित बढ़त बनाए रख सकेंगे।

इस बात को समझ लेना बहुत अनिवार्य है कि आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस क्रान्ति कम्प्यूटरों के काम करने की रफ़्तार और दक्षता में वृद्धि मात्र से ताल्लुक़ नहीं रखती। उसे जैविक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में हुई नई खोजों से भी बल मिल रहा है। जितना ही बेहतर ढंग से हम इंसानी जज़्बातों, आकांक्षाओं और रुचियों को सहारा देने वाली जैवरासायनिक प्रक्रियाओं को समझ लेते हैं, उतनी बेहतर भूमिका कम्प्यूटर मानव स्वभाव का विश्लेषण करने में, मनुष्य के निर्णयों का पूर्वानुमान करने में, और इंसानी ड्राइवरों, बैंक-कर्मियों और वकीलों की जगह लेने में निभा सकता है।

पिछले कुछ दशकों में तन्त्रिका विज्ञान (न्यूरोसाइंस) और व्यवहारपरक अर्थशास्त्र (बिहेवियरल इकॉनॉमिक्स) के क्षेत्र में हुई खोजों ने वैज्ञानिकों को इंसानों को हैक करने, और विशेष रूप से इंसानों के निर्णय लेने के ढंग को समझने की गुंजाइश दी है। पता चला कि भोजन से लेकर सहवास तक हर चीज़ के हमारे चयन किसी रहस्यमय स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की उपज नहीं होते, बल्कि वे क्षणभर के भीतर सम्भाव्यताओं का परिकलन करते अरबों न्यूरॉनों की उपज होते हैं। जिस 'मानवीय अन्तर्दृष्टि' ('ह्यूमन इनसाइट') की ज़रूरत से ज़्यादा सराहना की जाती है, वह वास्तव में 'सिलसिले (पैटर्न) की पहचान' है। अच्छे ड्राइवरों, बैंककर्मियों और वकीलों में यातायात, निवेश या मध्यस्थता के बारे में कोई जादुई अन्तर्दृष्टि नहीं होती - इसकी बजाय वे आवर्ती सिलसिलों (रिकरिंग पैटर्न्स) को पहचानते हुए लापरवाही के साथ पैदल चलने वालों, अनाड़ी कर्ज़दारों और बेईमान अपराधियों को पहचान लेते हैं और उनसे बच निकलने की कोशिश करते हैं। यह भी पता चला कि मानव मस्तिष्क के जैवरासायनिक ऐल्गरिदम दूर-दूर तक अचूक नहीं होते। वे उन अनुमानों,

जुगाड़ों और पुरानी पड़ चुकी पगडण्डियों पर निर्भर करते हैं, जो नगरीय जंगल की बजाय अफ़्रीकी घास के मैदानों के अनुरूप ढली हुई हैं। आश्चर्य की बात नहीं कि अच्छे ड्राइवर, बैंककर्मी और वकील भी कभी-कभी मूर्खतापूर्ण ग़लतियाँ कर बैठते हैं।

इसका मतलब है कि आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस उन उद्यमों तक में मनुष्यों को पीछे छोड़ सकता है, जिनके बारे में माना जाता है कि वे 'अन्तर्दृष्टि' की माँग करते हैं। अगर आप सोचते हैं कि आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस के लिए मनुष्य की आत्मा के साथ रहस्यवादी अटकलों की पदावली में होड़ करने की ज़रूरत है, तो यह चीज़ असम्भव प्रतीत होती है, लेकिन अगर आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस को सम्भाव्यताओं के परिकलन और सिलसिलों की पहचान के लिए वाक़ई स्नायुविक तन्त्र से होड़ करने की ज़रूरत है, तो यह चीज़ बहुत कम चुनौतीपूर्ण प्रतीत होती है।

ख़ासतौर से, आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस उन कामों के मामले में बेहतर होगा, जो *अन्य लोगों के बारे में* अन्तर्दृष्टि की माँग करते हैं। काम के बहुत-से क्षेत्र - जैसे कि पैदलों से भरी सड़क पर वाहन चलाना, अपरिचित व्यक्तियों को पैसे उधार देना, और किसी व्यापारिक सौदे को निपटाना - दूसरे लोगों की भावनाओं और आकांक्षाओं को एकदम सही ढंग से आँकने की माँग करते हैं। क्या वह बच्चा सड़क पर छलांग लगाने वाला है? क्या वह सूटधारी आदमी मेरा पैसा लेकर भाग जाने की मंशा रखता है? क्या वह वकील धमकियों पर कार्रवाई करेगा, या फिर वह महज़ झाँसा दे रहा है? जब तक यह माना जाता था कि इस तरह की भावनाएँ और आकांक्षाएँ अमूर्त अन्तःकरण से पैदा होती हैं, तब तक यह बात स्वाभाविक-सी लगती थी कि कम्प्यूटर कभी भी इंसानी ड्राइवरों, बैंककर्मियों और वकीलों की जगह नहीं ले सकेंगे, क्योंकि आख़िर एक कम्प्यूटर उस मानवीय अन्तःकरण को कैसे समझ सकता है, जिसकी रचना अलौकिक ढंग से हुई है? लेकिन अगर ये भावनाएँ और आकांक्षाएँ वस्तुतः जैवरासायनिक ऐल्गरिदमों से ज़्यादा कुछ नहीं हैं, तो कोई कारण नहीं कि कम्प्यूटर इन ऐल्गरिदमों का मतलब न समझ सके - और यह काम वह *होमो सेपियन्स* से बेहतर ढंग से न कर सके।

किसी पैदल चलने वाले के इरादे को भाँपता ड्राइवर, किसी सम्भावित क़र्ज़ लेने वाले की विश्वसनीयता को आँकता बैंककर्मी, और वार्ता की मेज़ की मनःस्थिति का अनुमान लगाता वकील किसी जादू-टोने के भरोसे नहीं होते। इसकी बजाय, उनकी जानकारी के बिना ही उनके मस्तिष्क भाव-भंगिमाओं, आवाज़ के लहज़ों और हाथों की मुद्राओं, और शरीर से उठती गन्धों तक को विश्लेषित करते हुए जैवरासायनिक पैटर्नों को पहचान लेते हैं। सटीक सेंसरों से लैस एक आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस यह सब काम किसी इंसान की तुलना में कहीं ज़्यादा सही और विश्वसनीय ढंग से कर सकता है।

इसलिए रोज़गारों की क्षति का ख़तरा महज़ सूचना प्रौद्योगिकी के उदय का नतीजा नहीं है। यह सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी के संगम का नतीजा है।

एफ़एमआरआई स्कैनर से लेकर श्रम बाज़ार तक का रास्ता लम्बा और यातनादायी है, लेकिन उसे तब भी कुछ दशकों में पार किया जा सकता है। आज मस्तिष्क-वैज्ञानिक, जो कुछ ऐमिग्डाल (मस्तिष्क के दो हिस्सों में से वह हिस्सा, जो समृति, भावनाओं और सूँघने की इन्द्रिय से जुड़ा होता है।) और सेरिबैलम (सिर के पीछे की तरफ़ का मस्तिष्क का वह हिस्सा, जो मांसपेशियों की गतिविधियों को नियन्त्रित करता है।) के बारे में सीख रहे हैं, उससे बहुत मुमकिन है कि उस ज्ञान का लाभ उठाकर कम्प्यूटर 2050 में इंसानी मनोविश्लेषकों और अंगरक्षकों को पीछे छोड़ दें।

आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस सिर्फ़ मनुष्यों में घुसपैठ करने और उनको उन दक्षताओं के मामले में पीछे छोड़ देने को ही तैयार नहीं है, जो अब तक अनूठी मानवीय दक्षताएँ हुआ करती थीं, बल्कि उसमें अनूठी अ-मानवीय क़ाबिलियतें भी हैं। इनसे एक आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस और इंसानी कामगार के बीच का फ़र्क़ महज़ मात्रा के नहीं, बल्कि गुणात्मक फ़र्क़ के रूप में भी सामने आता है। आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस में ख़ासतौर से जो दो महत्त्वपूर्ण अ-मानवीय क़ाबिलियतें हैं, वे हैं, परस्पर जुड़े होने (कनेक्टिविटी) की और ख़ुद को नई जानकारियों से लैस कर लगातार आधुनिक रूप देते रहने (अपडेटिएबिलिटी) की।

चूँकि मनुष्य अपने में स्वतन्त्र हस्तियाँ (इंडिविजुअल्स) हैं, इसलिए उनको एक-दूसरे से जोड़ना और इस बात को सुनिश्चित करना मुश्किल होता है कि वे सब नई जानकारियों से युक्त निरन्तर आधुनिक बने रहें। इसके विपरीत, कम्प्यूटर स्वतन्त्र हस्तियाँ नहीं हैं, और उनको किसी एक लचीले केन्द्रीकृत तन्त्र (नेटवर्क) में समाहित करना आसान है। इसलिए जिस समस्या से हमारा सामना हो रहा है, वह लाखों स्वतन्त्र रोबोटों और कम्प्यूटरों द्वारा लाखों स्वतन्त्र इंसानी कामगारों की जगह ले लेने की नहीं है। इसकी बजाय, सम्भावना इन अलग-अलग मनुष्यों की एक एकीकृत तन्त्र द्वारा जगह ले लिए जाने की है। स्वचालन के मसले पर विचार करते हुए इसीलिए एक इंसानी ड्राइवर की क़ाबिलियत की तुलना किसी एक स्वचालित कार की क़ाबिलियत से करना, या किसी एक इंसानी डॉक्टर की तुलना किसी एक आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस डॉक्टर से करना ग़लत है। इसकी बजाय, हमें अलग-अलग इंसानों के समूह की क़ाबिलियत की तुलना एक एकीकृत तन्त्र की क़ाबिलियत से करना चाहिए।

उदाहरण के लिए, बहुत-से ड्राइवर यातायात के तमाम बदलते हुए नियमों से अपरिचित होते हैं, और वे अक्सर उनका उल्लंघन करते हैं। इसके अतिरिक्त, हर वाहन एक स्वायत्त इकाई होता है, इसलिए जब दो वाहन एक ही समय में एक ही चौराहे पर पहुँचते हैं, तो ये ड्राइवर अपने इरादों का ग़लत ढंग से संकेत दे सकते हैं और वाहनों को टकरा सकते हैं। इसके विपरीत, स्वचालित कारें पूरी तरह से एक-दूसरे के सम्पर्क में हो सकती हैं। जब इस तरह के दो वाहन एक ही चौराहे पर पहुँचते हैं, तो वे दो एक-दूसरे से अलग इकाइयाँ नहीं होते - वे एक एकल ऐल्गरिदम का हिस्सा होते हैं। इसलिए इस बात

की बहुत कम सम्भावना रह जाती है कि वे ग़लत संकेत देकर एक-दूसरे से टकरा जाएँ। और अगर परिवहन मन्त्रलय यातायात के कुछ नियमों को बदलने का निर्णय करता है, तो सारे स्वचालित वाहनों को आसानी से एक ही समय में इस बदलाव की जानकारी से लैस किया जा सकता है, और अगर प्रोग्राम में कोई खोट (बग) न हुआ, तो वे सब-के-सब इन नए नियमों का पूरी तरह से पालन करेंगे।

इसी तरह, अगर विश्व स्वास्थ्य संगठन को किसी नई बीमारी का पता चल जाता है, या कोई प्रयोगशाला कोई नई दवा तैयार करती है, तो दुनिया के सारे डॉक्टरों को इन घटनाक्रमों की जानकारी से लैस करना लगभग असम्भव है। इसके विपरीत, अगर दुनिया में 10 अरब आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस डॉक्टर भी हों - जिनमें से प्रत्येक किसी एक इंसान के स्वास्थ्य की निगरानी कर रहा हो - तो भी आप पलभर के भीतर इन सबको इस जानकारी से लैस कर सकते हैं, और वे इस नई बीमारी या नई दवा के बारे में अपने अनुभव की सूचना एक-दूसरे को दे सकते हैं। इस परस्पर जुड़ाव और ख़ुद को नई जानकारियों से लैस कर लगातार आधुनिक रूप देते रहने का सम्भावित लाभ इतना ज़्यादा है कि कामों के कम-से-कम कुछ क्षेत्रों में तमाम मनुष्यों की जगह कम्प्यूटरों से काम लेना व्यावहारिक हो सकता है, भले ही कुछ इंसान व्यक्तिगत तौर पर मशीनों की तुलना में बेहतर ढंग से काम कर रहे हों।

आप एतराज़ कर सकते हैं कि अलग-अलग इंसानों को छोड़कर एक कम्प्यूटर नेटवर्क की शरण में जाने से हम वैयक्तिकता के फ़ायदों से वंचित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अगर एक इंसानी डॉक्टर कोई ग़लत नतीजा निकालता है, तो वह दुनिया के सारे मरीज़ों को नहीं मार देता, और न ही वह सारी की सारी नई चिकित्साओं के विकास को अवरुद्ध कर देता है। इसके विपरीत, अगर सारे डॉक्टर वास्तव में महज़ एक एकल व्यवस्था हैं, और वह व्यवस्था कोई ग़लती करती है, तो इसके परिणाम महाविनाशकारी हो सकते हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि एक एकीकृत कम्प्यूटर व्यवस्था वैयक्तिकता के फ़ायदों को खोए बिना परस्पर सम्बद्धता के फ़ायदों को अधिकतम सीमा तक ले जा सकती है। आप एक ही नेटवर्क पर कई सारे वैकल्पिक ऐल्गरिदमों को सक्रिय कर सकते हैं, जिससे किसी सुदूर जंगल में बसे गाँव का एक मरीज़ अपने स्मार्टफ़ोन की मार्फ़त सिर्फ़ किसी एक वर्चस्वशाली डॉक्टर तक ही नहीं, बल्कि दरअसल सौ अलग-अलग आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस डॉक्टरों तक अपनी पहुँच बना सकता है, जिनकी सापेक्षिक कार्यकुशलता की निरन्तर तुलना हो रही होगी। आईबीएम के डॉक्टर ने आपसे जो कहा, वह आपको ठीक नहीं लगा? कोई समस्या नहीं। अगर आप किलिमेन्जारो (तंज़ानिया स्थित किलिमेन्जारो तीन ज्वालामुखीय शंकुओं से युक्त अफ़्रीका का सबसे ऊँचा पर्वत है, जो समुद्र की सतह से 19,341 फ़ुट ऊँचा है।) की ढलानों में कहीं पर फँसे हैं, तो भी आप चीनी सर्च इंजन बैदू के डॉक्टर ऐप का परामर्श ले सकते हैं।

इससे मानव समाज को अपरिमित लाभ मिलने की सम्भावना है। आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस डॉक्टर अरबों लोगों के लिए बेहतर और सस्ती चिकित्सा-सुविधाएँ उपलब्ध करा सकते हैं, ख़ासतौर से उन लोगों के लिए, जिनको फ़िलहाल कोई चिकित्सा-सुविधाएँ नहीं मिल रही हैं। लर्निंग ऐल्गरिदमों और बायोमैट्रिक सेंसरों की बदौलत किसी अविकसित देश की एक निर्धन ग्रामीण स्त्री अपने स्मार्टफ़ोन की मदद से उससे बेहतर चिकित्सा-सुविधा का लाभ ले सकती है, जैसी सुविधा आज दुनिया का सबसे रईस व्यक्ति सबसे उन्नत नगरीय अस्पताल से प्राप्त करता है।

इसी तरह, स्वचालित वाहन लोगों को ज़्यादा बेहतर परिवहन सुविधाएँ उपलब्ध करा सकते हैं, और ख़ासतौर से यातायात सम्बन्धी दुर्घटनाओं से होने वाली मौतों को कम कर सकते हैं। आज हर साल क़रीब 12 लाख 50,000 हज़ार लोग यातायात दुर्घटनाओं में मारे जाते हैं (जो युद्ध, अपराध और आतंकवाद, तीनों से मारे जाने वाले कुल लोगों की संख्या से दुगुनी संख्या है)। इनमें से 90 % दुर्घटनाएँ इंसानी चूँकों का नतीजा होती हैं : कोई व्यक्ति शराब पीकर ड्राइविंग कर रहा होता है, कोई ड्राइविंग करते समय मैसेज लिख रहा होता है, कोई स्टीयरिंग ह्वील पर सो जाता है, कोई सड़क पर ध्यान देने की बजाय किन्हीं ख़्वाबों में डूबा होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के नेशनल हाइवे ट्रैफ़िक सेफ़्टी एडमिनिस्ट्रेशन के आकलन के मुताबिक़ 2012 में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुईं 31 % दुर्घटनाएँ शराब के दुरुपयोग, 30 % दुर्घटनाएँ तेज़ रफ़्तार, और 21 % दुर्घटनाएँ ड्राइवरों के ध्यान भटकने का नतीजा थीं। स्वचालित वाहन इस तरह की कोई ग़लती कभी नहीं करेंगे। वे हालाँकि अपनी समस्याओं और सीमाओं के शिकार होते हैं, और हालाँकि कुछ दुर्घटनाएँ अपरिहार्य होती हैं, तब भी सारे इंसानी ड्राइवरों की जगह कम्प्यूटरों से काम लेने से सड़कों पर होने वाली मौतों और ज़ख़्मों में लगभग 90 % तक कमी आने की सम्भावना है। दूसरे शब्दों में, स्वचालित वाहनों को अपनाने से हर साल लाखों लोगों की जान बचने की सम्भावना है।

इसलिए इंसानी रोज़गारों के बचाव के तर्क से परिवहन और स्वास्थ्य-सेवा जैसे क्षेत्रों में स्वचालन को रोकना पागलपन होगा। आख़िरकार, अन्ततः हमें जिनकी रक्षा करनी चाहिए, वे मनुष्य हैं, न कि रोज़गार। बेकार हो जाने वाले ड्राइवरों और डॉक्टरों को महज़ कोई और रोज़गार तलाशना होगा।

मशीन में मोज़ार्ट

कम-से-कम अल्पकालिक तौर पर आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस और रोबोटिक्स द्वारा समूचे उद्योगों को नेस्तनाबूद कर दिए जाने की कोई सम्भावना नहीं है। ऐसे काम, जो एक ढर्रे में

बँधी गतिविधियों के सीमित क्षेत्र में विशेषज्ञता की माँग करते हैं, वे स्वचालीकृत कर दिए जाएँगे, लेकिन ऐसे कम बँधे-बँधाए ढर्रे के कामों के क्षेत्र में, जो दक्षताओं के एक व्यापक दायरे के एक साथ इस्तेमाल की माँग करते हैं, और जिनमें अप्रत्याशित परिस्थितियों से निपटने की माँग शामिल होती है, उनमें मनुष्यों को मशीनों से विस्थापित करना बहुत मुश्किल होगा। उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य-सेवा को लें। ज़्यादातर डॉक्टर लगभग पूरी तरह से सूचना की प्रॉसेसिंग पर ध्यान केन्द्रित करते हैं : वे चिकित्सा डेटा को लेते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं, और फिर रोग की पहचान करते हैं। उनके विपरीत नर्सों को दर्दनाक इंजेक्शन देने, पट्टियाँ बदलने, या उग्र मरीज़ों को वश में करने के लिए शरीर के अंगों और भावनाओं पर नियन्त्रण की दक्षता भी ज़रूरी होती है। इसलिए हमारे पास एक विश्वसनीय नर्स रोबोट हो, उसके दशकों पहले सम्भवतः हमारे स्मार्टफ़ोन पर एक एआई पारिवारिक डॉक्टर होगा। पूरी सम्भावना है कि इंसानी परिचर्या उद्योग, जो जवान और वृद्ध बीमारों की परिचर्या करता है, लम्बे समय तक मनुष्यों का गढ़ बना रहेगा। निश्चय ही, जैसे-जैसे लोग ज़्यादा समय तक जीने लगेंगे और कम बच्चे पैदा करने लगेंगे, वैसे-वैसे वृद्धों की परिचर्या शायद मानवीय श्रम के उपभोग के सबसे तेज़ी से विकसित होते क्षेत्रों में शामिल होगी।

परिचर्या के साथ-साथ सृजनात्मकता भी स्वचालन के समक्ष ख़ासतौर से मुश्किल बाधाएँ पेश करती है। हमें अब संगीत बेचने वाले मनुष्यों की ज़रूरत नहीं रह गई है। संगीत हम आइट्यून्स स्टोर से सीधे डाउनलोड कर सकते हैं, लेकिन संगीत के कम्पोज़र, संगीतकार, गायक और डीजे अभी भी रक्त-मांस के हैं। हम उनकी सृजनात्मकता पर पूरी तरह से नया संगीत रचने के लिए ही निर्भर नहीं करते, बल्कि उपलब्ध सम्भावनाओं की विस्मयकारी और अकल्पनीय विविधताओं के बीच से चुनाव करने के लिए भी निर्भर करते हैं।

तब भी, दीर्घकालिक स्तर पर देखें, तो कोई भी रोज़गार स्वचालन से पूरी तरह सुरक्षित नहीं रह जाएगा। यहाँ तक कि कलाकारों को भी चेतावनी दी जानी चाहिए। आधुनिक दुनिया में कला को आमतौर पर मानवीय भावनाओं से जोड़कर देखा जाता है। हम सोचते हैं कि कलाकार अन्दरूनी मानसिक शक्तियों को दिशा देते हैं, और कला का कुल उद्देश्य हमें हमारी भावनाओं से जोड़ना या हमारे भीतर किसी नई अनुभूति को जगाना है। नतीजतन, जब हम कला का मूल्यांकन करने बैठते हैं, तो हम इसे दर्शकों-श्रोताओं पर पड़ने वाले इसके भावनात्मक प्रभाव के आधार पर परखते हैं, लेकिन अगर कला मानवीय भावनाओं से परिभाशित है, तो तब क्या स्थिति बन सकती है, जब बाहरी ऐल्गरिदम मानवीय भावनाओं को समझने और नियन्त्रित करने में शेक्सपियर, फ़्रीदा काह्लो या बेयॉन्से के मुक़ाबले ज़्यादा सक्षम हो जाएँगे?

आख़िरकार, भावनाएँ कोई रहस्यमय वस्तुएँ नहीं हैं। वे एक जैवरासायनिक प्रक्रिया की उपज हैं। इसलिए, वह भविष्य बहुत दूर नहीं है, जब कोई मशीन-लर्निंग ऐल्गरिदम आपकी काया के आन्तरिक सेंसरों से प्रवाहित होते बायोमैट्रिक डेटा का विश्लेषण करने लग सकता है, आपके व्यक्तित्व की प्रकृति और आपकी बदलती हुई मनःस्थिति का निर्धारण करने लग सकता है। कोई ख़ास गीत, यहाँ तक कि कोई ख़ास संगीतात्मक स्वर, आप पर किस तरह का भावनात्मक प्रभाव डाल सकता है, इसका आकलन करने लग सकता है।

तमाम कलारूपों में संगीत बिग डेटा विश्लेषण से सम्भवतः सबसे ज़्यादा आसानी से प्रभावित होने वाला है, क्योंकि इसके निवेश (इनपुट) और परिणाम (आउटपुट), दोनों ही एकदम ठीक-ठीक गणितीय चित्रण के उपयुक्त होते हैं। निवेश हैं ध्वनि-तरंगों के गणितीय पैटर्न, और परिणाम हैं स्नायुविक झंझावातों के विद्युतरासायनिक पैटर्न। कुछ ही दशकों के भीतर कोई ऐल्गरिदम लाखों संगीतात्मक अनुभवों का परीक्षण करने के बाद यह सीख सकता है कि किस तरह कुछ ख़ास निवेश कुछ ख़ास परिणाम पैदा करते हैं।

मान लीजिए कि अभी-अभी आपका आपके बॉयफ्रेंड के साथ भयानक झगड़ा हुआ है। आपकी ध्वनि-प्रणाली का काम देखने वाला ऐल्गरिदम तत्काल आपकी अन्दरूनी भावनात्मक उथल-पुथल को पहचान लेगा, और आपके व्यक्तित्व तथा मानव मनोविज्ञान की अपनी सामान्य जानकारी के आधार पर वह ऐसे गीत बजाना शुरू कर देगा, जो इस तरह बने होंगे कि उनका मेल आपकी उदासी से बैठता होगा और जो आपके मानसिक सन्ताप को प्रतिध्वनित करते होंगे। हो सकता है कि ये ख़ास गीत दूसरे लोगों के सन्दर्भ में उतने कारगर न हों, लेकिन आपकी तरह के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में एकदम सटीक हों। आपकी उदासी की गहराइयों के साथ सम्पर्क स्थापित करने में आपकी मदद करने के बाद, यह ऐल्गरिदम दुनिया का वह गीत बजाएगा, जो पूरी सम्भावना है कि आपको प्रफुल्लित कर दे। शायद इसलिए कि आपका अवचेतन इसे बचपन की किसी ऐसी सुखद स्मृति से जोड़ता हो, जिसका भान स्वयं आपको भी न हो। कोई इंसानी डीजे ऐसे किसी एआई की दक्षताओं का मुक़ाबला करने की उम्मीद नहीं कर सकता।

आप आपत्ति उठा सकते हैं कि इस तरह तो एआई अप्रत्याशितता को ख़त्म कर देगा और हमें, हमारी पिछली पसन्दों और नापसन्दों द्वारा निर्मित एक संकीर्ण संगीतात्मक खोल के भीतर बन्द कर देगा। नई संगीतात्मक अभिरुचियों और शैलियों के अन्वेषण का क्या होगा? कोई समस्या नहीं। आप इस ऐल्गरिदम को आसानी से इस तरह ढाल सकेंगे कि उसके 5 % चुनाव बेतरतीब हों, जिनके तहत वह आपके सामने अप्रत्याशित ढंग से इंडोनेशियाई गैमलान कलाकार-समूह, रोसीनी ऑपेरा, या हाल ही लोकप्रिय हुई के-पॉप की कोई रिकॉर्डिंग उछाल दे। समय गुज़रने के साथ आपकी प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण करते हुए यह एआई बेतरतीबी के उस आदर्श स्तर तक को निर्धारित करने में सक्षम हो

सकता है, जो खीझ को टालते हुए, और मुमकिन है उसकी अप्रत्याशितता के स्तर को 3 % घटाते हुए या उसको 8 % प्रतिशत बढ़ाते हुए, अन्वेषण को अभीष्ट रूप दे सके।

एक और आपत्ति यह हो सकती है कि यह बात स्पष्ट नहीं है कि ऐल्गरिदम अपने भावनात्मक लक्ष्य को किस तरह स्थिर कर सकेगा। अगर अभी-अभी आपका आपके बॉयफ़्रैंड के साथ झगड़ा हुआ है, तो ऐल्गरिदम का लक्ष्य आपको उदास करना होगा या प्रसन्न करना? क्या वह 'अच्छी' भावनाओं और 'बुरी' भावनाओं के एक कठोर पैमाने का अंधाधुंध अनुसरण करेगा? यह भी तो मुमकिन है कि जीवन में ऐसे वक़्त भी आते हों, जब उदासी महसूस करना अच्छा होता हो? निश्चय ही ठीक यही सवाल इंसानी संगीतकारों और डीजे के सन्दर्भ में पूछा जा सकता है, लेकिन जहाँ तक ऐल्गरिदम का सवाल है, इस पहेली के बहुत-से दिलचस्प समाधान हैं।

एक विकल्प है इसको महज़ ग्राहक पर छोड़ देना। आप अपनी भावनाओं का मूल्यांकन अपने मनपसन्द तरीक़े से कर सकते हैं, और ऐल्गरिदम आपके निर्देशों का पालन करेगा। आप चाहे आत्मदया में डूबना चाहें या आनन्द से उछलना चाहें, ऐल्गरिदम ग़ुलाम की तरह आपका कहा मानेगा। वाक़ई, यह ऐल्गरिदम आपकी आकांक्षाओं को उस सूरत में भी पहचानना सीख लेगा, जबकि आप ख़ुद भी उनके प्रति स्पष्ट रूप से सचेत नहीं होंगे।

अन्य विकल्प यह है कि अगर आपको ख़ुद पर भरोसा नहीं है, तो आप इस ऐल्गरिदम को उस प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक की सलाह मानने का निर्देश दे सकते हैं, जिस पर आप भरोसा करते हैं। अगर आपका बॉयफ़्रैंड अन्ततः आपसे रिश्ता तोड़ देता है, तो यह ऐल्गरिदम दुःख की पाँच अवस्थाओं से आपका परिचय स्थापित करने में आपकी मदद करता हुआ पहले बॉबी मैकफ़ेरिन का गीत 'डोंट वॅरी, बीहैप्पी' बजाकर जो कुछ हुआ है, उससे इंकार करने में आपकी मदद करेगा, इसके बाद एलानिस मोरीसेट्टी का गीत 'यू ऑटा नो' बजाकर आपके ग़ुस्से को भड़काएगा, जैक़ ब्रेल का गीत 'ने मे क़्विट पा' और पॉल यंग का 'कम बैक एंड स्टे' बजाकर आपको समझौते के लिए प्रोत्साहित करेगा, अडेले का 'समवन लाइक यू' और 'हैलो' बजाकर अवसाद के गड्ढे में छोड़ देगा, और अन्त में ग्लोरिया गेनर का 'आइ विल सर्वाइव' बजाकर हालात को स्वीकार करने में आपकी मदद करेगा।

ऐल्गरिदमों का अगला क़दम है स्वयं ही गीतों और लयों को सँवारते हुए उनको आपकी सनकों के अनुरूप आकार देने के लिए ज़्यादा-से ज़्यादा हल्के-से बदलने लगना। हो सकता है कि किसी ऐसे गीत में जो अन्यथा बहुत अद्भुत है, आपको कोई खास अंश अच्छा न लगता हो। ऐल्गरिदम इस बात को जानता है क्योंकि जब भी आप उस हिस्से को सुनते हैं, तो आपका दिल धड़कने लगता है और आपके ऑक्सीटोसिन स्तर हल्के-से गिर

जाते हैं। ऐल्गरिदम इन आक्रामक स्वरों का पुनर्लेखन कर सकता है या उनका सम्पादन कर सकता है।

दीर्घकालिक स्तर पर ऐल्गरिदम मानवीय भावनाओं को पियानो कीबोर्ड की तरह बरतते हुए और उनको बजाते हुए समूची धुनों को रचना सीख सकते हैं। आपके बायोमैट्रिक डेटा का इस्तेमाल करते हुए ऐल्गरिदम शायद ऐसी व्यक्तिगत रागनियाँ भी रच सकें, जिनको सारे विश्व में सिर्फ़ आप ही पसन्द करें।

अक्सर कहा जाता कि लोग कला के साथ इसलिए रिश्ता बना पाते हैं, क्योंकि वे ख़ुद को उसके भीतर पाते हैं। अगर कभी ऐसा हो कि मान लीजिए फ़ेसबुक आपके बारे में अपनी सारी जानकारी के आधार पर वैयक्तिक कला रचना शुरू कर दे, तो इसके आश्चर्यजनक और किसी क़दर भयावह परिणाम हो सकते हैं। अगर आपका बॉयफ्रैंड आपको छोड़ देता है, तो फ़ेसबुक अडेले या एलानिस मोरीसेट्टी का दिल तोड़ने वाले उस अज्ञात व्यक्ति की बजाय उस ख़ास व्यक्ति के बारे में एक वैयक्तिक गीत से आपका दिल बहलाएगा। यह गीत आपको आपके रिश्ते की उन वास्तविक घटनाओं तक की याद दिलाएगा, जिसके बारे में दुनिया में और कोई नहीं जानता।

बेशक, वैयक्तिक कला कभी लोकप्रिय नहीं हो सकती, क्योंकि लोग उन सामान्य लोकप्रिय रचनाओं को प्राथमिकता देना जारी रखेंगे, जिनको हर कोई पसन्द करता है। आप किसी ऐसी धुन पर कैसे नाच या गा सकते हैं, जिसके बारे में आपके अलावा और कोई नहीं जानता? लेकिन ऐल्गरिदम वैयक्तिक अनूठी रचनाओं की बजाय वैश्विक स्तर पर लोकप्रिय हो सकने वाली रचनाओं को तैयार करने के मामले में और भी लचीला साबित हो सकता है। लाखों लोगों से एकत्र विपुल बायोमैट्रिक डेटा का इस्तेमाल करते हुए ऐल्गरिदम यह जान सकेगा कि कौन-से जैवरासायनिक बटन दबाने से वह ऐसा विश्व-स्तरीय लोकप्रिय गीत रच सकता है, जिसकी धुन पर हर व्यक्ति दीवाने की तरह झूमने लगेगा। अगर कला सचमुच मानवीय भावनाओं को उत्प्रेरित (या नियन्त्रित-परिचालित) करती है, तो बहुत थोड़े-से ही संगीतकार होंगे, अगर होंगे तो, जो इस तरह के ऐल्गरिदम के साथ स्पर्धा कर सकेंगे, क्योंकि वे उस मुख्य वाद्य यन्त्र को समझने में उस ऐल्गरिदम का मुक़ाबला नहीं कर सकते, जिसको वे बजा रहे होते हैं, और वह मुख्य वाद्ययन्त्र है, मनुष्य का जैवरासायनिक तन्त्र।

क्या इस सबका परिणाम महान कला के रूप में सामने आएगा? यह कला की परिभाषा पर निर्भर करता है। अगर सौन्दर्य का वास सचमुच ही श्रोता के कान में है, और अगर ग्राहक ही हमेशा सही होता है, तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि बायोमैट्रिक ऐल्गरिदम इतिहास की सर्वश्रेष्ठ कला को उत्पन्न कर सकता है। अगर कला मानवीय भावनाओं से ज़्यादा गहरी किसी चीज़ से ताल्लुक़ रखती है, और उसे हमारे जैवरासायनिक स्पन्दनों से परे की किसी सच्चाई को अभिव्यक्ति देनी चाहिए, तो मुमकिन

है कि जैवरासायनिक ऐल्गरिदम बहुत अच्छे कलाकार न बन सकें, लेकिन उसी तरह ज़्यादातर मनुष्य भी अच्छे कलाकार नहीं बन सकते। कला के बाज़ार में प्रवेश करने और संगीत रचने वाले तथा उसको प्रस्तुत करने वाले बहुत-से इंसानी कलाकारों की जगह लेने के लिए ऐल्गरिदमों को सीधे चाइकोव्स्की को पीछे छोड़ देने के साथ शुरुआत करने की ज़रूरत नहीं होगी। अगर वे ब्रिटनी स्पियर्स से भी श्रेष्ठ साबित हो सकेंगे, तो इतना काफ़ी होगा।

नए रोज़गार?

कला से लेकर स्वास्थ्य-सेवा तक हर क्षेत्र में बहुत-से पारम्परिक रोज़गारों के नुक़सान की क्षतिपूर्ति नए इंसानी रोज़गारों को पैदा करने से हो जाएगी। सामान्य चिकित्सकों की जगह एआई डॉक्टरों द्वारा ले ली जाएगी। सामान्य चिकित्सक ज्ञात बीमारियों को समझ लेते हैं और उनकी जानी-मानी चिकित्साएँ करते हैं, लेकिन ठीक इसी वज़ह से क्रान्तिकारी अनुसन्धान करने और नई दवाओं तथा शल्यक्रिया की नई पद्धतियों को विकसित करने के लिए इंसानी डॉक्टरों और प्रयोगशाला-सहायकों के लिए बहुत ज़्यादा पैसों का भुगतान करना ज़रूरी हो जाएगा।

एआई नए इंसानी रोज़गारों को पैदा करने में दूसरी तरह से भी मदद कर सकता है। बजाय इसके कि इंसान एआई के साथ प्रतिस्पर्धा करें, वे एआई की सर्विसिंग करने और उसकी क्षमता बढ़ाने पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, ड्रोनों द्वारा इंसानी पायलटों की जगह ले लिए जाने से कुछ रोज़गार समाप्त हो गए हैं, लेकिन उसने रख-रखाव, रिमोट कंट्रोल, डेटा विश्लेषण और साइबर सुरक्षा के क्षेत्र में नए अवसर भी उत्पन्न किए हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के सैन्य बलों को सीरिया पर उड़ान भरते प्रत्येक मानव-रहित प्रिडेटर या रीपर ड्रोन को संचालित करने के लिए तीस लोगों की ज़रूरत पड़ती है। इससे हासिल की गई सूचना के विश्लेषण में अस्सी और भी लोग लगे होते हैं। 2015 में संयुक्त राज्य अमेरिका की वायुसेना में ऐसे पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित इंसानों का अभाव था, जो इन सारे पदों को भर सकते, और इसलिए वायुसेना को अपने मानव-रहित विमानों को मानव-युक्त बनाने के विडम्बनापूर्ण संकट का सामना करना पड़ा था।

अगर ऐसा है, तो बहुत सम्भव है कि 2050 में रोज़गार-जगत इंसान और एआई के बीच प्रतिस्पर्धा की बजाय इनके आपसी सहयोग के लिए जाना जाए। पुलिस-कर्म से लेकर बैंक-कर्म तक फैले क्षेत्रों में इंसान और एआई से मिलकर बने समूह इंसानों और कम्प्यूटरों, दोनों को मात दे सकते हैं। जब 1997 में आईबीएम के शतरंज प्रोग्राम 'डीप ब्लू' ने गैरी कास्पारोव को हरा दिया था, तो उसके बाद इंसानों ने शतरंज खेलना बन्द नहीं

कर दिया था। इसकी बजाय, एआई के प्रशिक्षकों की बदौलत शतरंज के इंसानी उस्ताद पहले से कहीं बेहतर बन गए, और कम-से-कम कुछ समय के लिए ही सही 'सेन्टॉर्स' के नाम से प्रसिद्ध इंसानों और एआई की संयुक्त टीमों ने शतरंज के खेल में इंसानों और कम्प्यूटरों, दोनों को पीछे छोड़ दिया था। एआई इसी तरह इतिहास के श्रेष्ठतम जासूसों, बैंककर्मियों और सैनिकों को तैयार करने में मदद कर सकता है।

इन सारे नए रोज़गारों के साथ समस्या यह है कि वे शायद उच्च स्तरीय विशेषज्ञता की माँग करेंगे, और इसलिए बेरोज़गार अकुशल श्रमिकों की समस्या का समाधान नहीं कर पाएँगे। नए इंसानी रोज़गारों की रचना करना जितना आसान साबित हो सकता है, उतना इन रोज़गारों को वास्तव में भरने के लिए इंसानों को नए सिरे से प्रशिक्षित करना आसान शायद नहीं होगा। स्वचालन की पिछली लहरों के दौरान लोग आमतौर पर अल्प-दक्षता वाले एक रोज़मर्रा रोज़गार से उसी तरह के दूसरे रोज़गार में जा सकते थे। 1920 में कृषि के यान्त्रिकीकरण की वज़ह से रोज़गार खो चुका एक खेतिहर मज़दूर ट्रैक्टर तैयार करने वाले किसी कारख़ाने में नया काम हासिल कर सकता था। 1980 में एक बेरोज़गार फ़ैक्टरी कामगार किसी सुपरमार्केट में कैशियर के रूप में काम करना शुरू कर सकता था। पेशों को इस तरह बदल पाना इसलिए मुमकिन था, क्योंकि खेती से फ़ैक्टरी में चले जाना या फ़ैक्टरी से सुपरमार्केट में चले जाना सीमित पुनर्प्रशिक्षण की माँग करता था।

लेकिन 2050 में किसी रोबोट के हाथों अपना रोज़गार खो देने वाला कैशियर या कपड़ा मज़दूर एक कैंसर अनुसन्धानकर्ता के रूप में, एक ड्रोन-परिचालक के रूप में, या बैंककर्मियों की किसी इंसान-एआई मण्डली के हिस्से के रूप में काम करने में शायद ही सक्षम हो सकेगा। उनके पास इन कामों के लिए अनिवार्य दक्षताएँ नहीं होंगी। पहले विश्वयुद्ध में लाखों की संख्या में जबरन भर्ती किए गए अप्रशिक्षित रंगरूटों को मशीन गनों में बारूद भरने के लिए भेजना और उनको हज़ारों की संख्या में मरने देना अर्थ रखता था। उनकी व्यक्तिगत दक्षताएँ बहुत कम मायने रखती थीं। आज, ड्रोन संचालकों और डेटा विश्लेषणकर्ताओं की कमी के बावजूद, संयुक्त राज्य अमेरिका की वायुसेना वॉलमार्ट से बाहर निकाले गए लोगों से इन ख़ाली जगहों को भरने की इच्छुक नहीं है। आप यह पसन्द नहीं करेंगे कि कोई अनुभवहीन रंगरूट अफ़गानिस्तान में शादी के किसी जश्न को भूल से कोई उच्चस्तरीय तालिबान कॉन्फ्रेंस समझ बैठे।

नतीजतन, बहुत-से नए इंसानी रोज़गारों के मौजूद होने के बावजूद, हमें एक नया 'अनुपयोगी' वर्ग देखने को मिल सकता है। दरअसल, दोनों ही दुनियाओं के बदतर रूप हमारे सामने आ सकते हैं, जिसमें एक साथ उच्चस्तरीय बेरोज़गारी और कुशल मज़दूरों की कमी होगी। बहुत-से लोगों की नियति उन्नीसवीं सदी के वैगन ड्राइवरों जैसी नहीं - जिन्होंने टैक्सियाँ चलाने का रोज़गार अपना लिया था - बल्कि उन्नीसवीं सदी के घोड़ों

जैसी हो जा सकती है, जिनको लगातार रोज़गार की दुनिया से ही बाहर धकेला जाता रहा था।

इसके साथ-साथ, कोई भी बचा हुआ रोज़गार कभी भी स्वचालन के भावी ख़तरे से सुरक्षित नहीं रह जाएगा, क्योंकि मशीन लर्निंग और रोबोटिक्स का क्षेत्र निरन्तर उन्नत होता रहेगा। एक चालीस साल की बेरोज़गार वॉलमार्ट कैशियर, जिसने अपने अतिमानवीय उद्यमों के चलते किसी तरह ड्रोन पायलट के रूप में नया अवतार लिया होगा, उसको दस साल बाद ख़ुद को एक बार फिर से नया अवतार लेना होगा, क्योंकि तब तक ड्रोनों का उड़ाया जाना भी स्वचालित हो चुका हो सकता है। इस अस्थिरता के चलते मज़दूर संगठनों को तैयार करना और मज़दूरों के हक़ों को सुरक्षित रखना भी ज़्यादा मुश्किल हो जाएगा। पहले ही आज उन्नत अर्थव्यवस्थाओं में बहुत-से नए रोज़गारों के तहत असुरक्षित अस्थायी काम, फ़्रीलांसिंग और एक निर्धारित समय के रोज़गार शामिल होते हैं। आप किसी ऐसे व्यवसाय को मज़दूर संगठन के अन्तर्गत कैसे लाएँगे, जो दस साल के भीतर ही मशरूम की तरह फैलता है और ग़ायब हो जाता है?

इसी तरह, मनुष्य और कम्प्यूटर की सेन्टॉर टीमों के बारे में सम्भावना यही है कि वे इंसानों और कम्प्यूटरों के बीच आजीवन सहभागिता पर सहमत होने की बजाय दोनों के बीच निरन्तर रस्साकशी के लिए जानी जाएँगीं। ऐसी टीमें जिनमें पूरी तरह से - शेरलॉक होम्स और डॉ. वाट्सॅन जैसे - इंसान शामिल होते हैं, वे आमतौर पर स्थायी सोपानक्रम और नित्य-नियम विकसित कर लेती हैं, लेकिन आईबीएम के वाट्सॅन कम्प्यूटर सिस्टम (जो 2011 में संयुक्त राज्य अमेरिका का टीवी क्विज़ शो *जियोपार्डी* जीतने के बाद प्रसिद्ध हुआ था) से सम्बद्ध एक इंसानी जासूस पाएगा कि हर नित्य-नियम व्यवधान के लिए एक न्योता है, और हर सोपानक्रम क्रान्ति के लिए एक न्योता है। कल जो सहायक हुआ करता था, वह कल के सुपरिटेंडेंट में रूपान्तरित हो सकता है, और सारी परिपाटियाँ और नियमावलियों का हर साल नए सिरे से लिखा जाना ज़रूरी हो जाएगा।

शतरंज की दुनिया पर एक क़रीबी निगाह डालने से संकेत मिल सकता है कि दीर्घकालिक स्तर पर स्थितियाँ किस दिशा की ओर बढ़ रही हैं। यह सही है कि ‘डीप ब्लू’ द्वारा कास्पारोव को पराजित किए जाने के कई साल बाद शतरंज के क्षेत्र में मनुष्य और कम्प्यूटर के बीच का सहकार काफ़ी विकसित हुआ। तब भी हाल के वर्षों में कम्प्यूटर शतरंज खेलने में इतने कुशल हो गए हैं कि उनके इंसानी सहकर्मियों ने अपनी अहमियत खो दी है, और वे जल्दी ही अप्रासंगिक हो सकते हैं।

7 दिसम्बर 2017 को इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव को पार कर लिया गया, जब शतरंज के खेल में किसी कम्प्यूटर ने किसी इंसान को पराजित नहीं कर दिया था - वह ख़बर पुरानी हो चुकी है - बल्कि जब गूगल के अल्फ़ाज़ीरो प्रोग्राम ने *स्टॉकफ़िश 8* प्रोग्राम को पराजित कर दिया था। *स्टॉकफ़िश 8* दुनिया का 2016 का शतरंज चैम्पियन कम्प्यूटर

था। उसकी पहुँच शतरंज के क्षेत्र में मनुष्यों द्वारा सदियों से संचित अनुभव के साथ-साथ दशकों लम्बे कम्प्यूटर के अनुभवों तक थी। वह प्रति सेकेंड शतरंज की 7 करोड़ व्यूह-रचनाओं का हिसाब लगाने में सक्षम था। इसके विपरीत, *अल्फ़ाज़ीरो* प्रति सेकेंड ऐसे सिर्फ़ 80,000 हिसाब लगा पाता था, और उसे रचने वाले इंसानों ने उसको शतरंज की रणनीतियों की - यहाँ तक कि मानक शुरुआती चालों की भी - कभी कोई शिक्षा नहीं दी थी। इसकी बजाय, *अल्फ़ाज़ीरो* ख़ुद के ख़िलाफ़ खेलते हुए शतरंज के स्वतः-शिक्षण के लिए ताज़ातरीन मशीन-लर्निंग सिद्धान्तों का इस्तेमाल करता था। तब भी, इस नौसिखिया *अल्फ़ाज़ीरो* ने *स्टॉकफ़िश* के ख़िलाफ़ जो सौ मैच खेले, उनमें से अल्फ़ाज़ीरो ने अट्ठाइस मैच जीते और बहत्तर मैच हार-जीत के फ़ैसले के बिना समाप्त किए। वह एक बार भी पराजित नहीं हुआ। चूँकि *अल्फ़ाज़ीरो* ने कभी किसी इंसान से कुछ नहीं सीखा था, इसलिए जीत दिलाने वाली इसकी बहुत-सी चालें और रणनीतियाँ इंसानी निगाहों को रीति-विरुद्ध लगती थीं। अगर उनको सर्वथा जीनियस नहीं, तो ख़ासी रचनात्मक तो कहा ही जा सकता था।

क्या आप अनुमान लगा सकते हैं कि *अल्फ़ाज़ीरो* को शतरंज का खेल एकदम शुरू से सीखने में, *स्टॉकफ़िश* के ख़िलाफ़ मैच की तैयारी करने में, और अपनी जीनियस सहज बुद्धि को विकसित करने में कितना समय लगा होगा? चार घण्टे। इसे छपाई की ग़लती न समझें। सदियों से शतरंज के खेल को मानव-बुद्धि के सर्वोच्च गौरव के रूप में देखा जाता रहा था। *अल्फ़ाज़ीरो* ने बिना किसी इंसानी मार्गदर्शक की मदद लिए मात्र चार घण्टे में सम्पूर्ण अज्ञानता से लेकर सृजनात्मक महारत तक की दूरी पार कर ली।

अल्फ़ाज़ीरो अकेला ऐसा कल्पनाशील सॉफ़्टवेयर नहीं है। ऐसे बहुत से प्रोग्राम हैं, जो अक्सर शतरंज के इंसानी खिलाड़ियों को मात देते रहते हैं, नितान्त शुष्क गणनाओं के स्तर पर ही नहीं, बल्कि 'सृजनात्मकता' तक में। शतरंज के सिर्फ़ मनुष्य-केन्द्रित टूर्नामेंटों में निर्णायक लोग लगातार ऐसे खिलाड़ियों पर निगाह रखते हैं, जो गुपचुप तरीक़े से कम्प्यूटरों की मदद हासिल कर बेईमानी करने की कोशिश करते हैं। ऐसे बेईमानों को पकड़ने का एक तरीक़ा खिलाड़ियों द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली मौलिकता के स्तर पर निगरानी रखने का होता है। अगर वे कोई असाधारण रूप से सृजनात्मक चाल चलते हैं, तो निर्णायकों को अक्सर यह सन्देह होता है कि वह इंसानी चाल नहीं हो सकती। वह निश्चय ही कम्प्यूटर चाल होगी। कम-से-कम शतरंज में, सृजनात्मकता इंसानों की बजाय कम्यूटरों की विशिष्ट पहचान बन चुकी है! इसलिए अगर शतरंज हमारे लिए उस कनारी चिड़िया की तरह है, जो कोयले की खदान में मौजूद गैस से मरकर हमें ख़तरे की चेतावनी देती है, तो हमारे लिए यह एक सामयिक चेतावनी है कि वह चिड़िया मर रही है। जो कुछ आज मनुष्य-एआई शतरंज टीमों के साथ हो रहा है, वही निकट भविष्य में पुलिसिया कर्म, चिकित्सा और बैंकिंग के कर्म में लगी मनुष्य-एआई टीमों के साथ भी हो सकता है।

नतीजतन, नए रोज़गार पैदा करना और उन रोज़गारों को भरने के लिए लोगों को नए सिरे से प्रशिक्षित करना एक बार में निपट जाने वाला उद्यम नहीं होगा। एआई क्रान्ति कोई एक ऐसी अकेली निर्णायक घटना नहीं होगी, जिसके बाद रोज़गार का बाज़ार एक नया सन्तुलन हासिल कर लेगा। इसकी बजाय, यह उत्तरोत्तर बड़ा रूप लेती जाती उथल-पुथल का एक जलप्रपात होगा। आज पहले ही यह स्थिति बन चुकी है, जब बहुत थोड़े-से कर्मचारी हैं, जो अपनी पूरी ज़िन्दगी एक ही रोज़गार करते हुए बिताना चाहते हों। 2050 आते-आते न सिर्फ़ 'आजीवन एक रोज़गार' का विचार, बल्कि 'आजीवन एक व्यवसाय' का विचार भी आदिकालीन लगने लग सकता है।

अगर हम लगातार नए रोज़गार ईजाद भी करते रह सकेंगे और कामगारों को हर बार नए सिरे से प्रशिक्षित भी करते रह सकेंगे, तब भी हमारे मन में यह विचार आ सकता है कि क्या औसत इंसान में इस तरह की अन्तहीन उथल-पुथल को सहने लायक़ भावनात्मक शक्ति होगी। बदलाव हमेशा तनावपूर्ण होता है, और इक्कीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों की भागमभाग भरी दुनिया ने तनाव की विश्वस्तरीय महामारी को जन्म दिया है। क्या लोग रोज़गार के बाज़ार और व्यक्तिगत आजीविका की बढ़ती अस्थिरता के साथ तालमेल बैठा पाएँगे? हमें शायद सेपियन्स के दिमाग़ को ढहने से रोकने के लिए - न्यूरोफ़ीडबैक के माध्यम से ड्रग्स से लेकर ध्यान तक- तनाव कम करने की कहीं ज़्यादा कारगर तकनीकों की ज़रूरत पड़ेगी। 2050 तक आते-आते महज़ रोज़गारों के सम्पूर्ण अभाव या सम्बन्धित शिक्षा के अभाव की वज़ह से ही नहीं, बल्कि सह सकने की अपर्याप्त मानसिक क्षमता के अभाव की वज़ह से भी एक 'अनुपयोगी' वर्ग उभरकर सामने आ सकता है।

ज़ाहिर है कि इनमें से ज़्यादातर बातें अनुमान पर आधारित हैं। इन बातों को लिखे जाने के समय - 2018 के शुरुआती महीनों में - स्वचालन ने बहुत से उद्योगों को तहस-नहस कर दिया है, लेकिन इसका परिणाम भीषण बेरोज़गारी के रूप में सामने नहीं आया है। वस्तुतः, बहुत से मुल्कों में, जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका में ही, बेरोज़गारी की दर ऐतिहासिक रूप से कम है। इस बात को पक्के तौर पर कोई नहीं समझ सकता कि मशीन लर्निंग और स्वचालन भविष्य में विभिन्न व्यवसायों पर किस तरह का प्रभाव डालेंगे, और प्रासंगिक घटनाक्रमों का आकलन करना अत्यन्त मुश्किल है, ख़ासतौर से इसलिए कि ये घटनाक्रम विशुद्ध प्रौद्योगिकीय आविष्कारों पर जितना निर्भर करते हैं, उतना ही राजनीतिक निर्णयों और सांस्कृतिक परम्पराओं पर भी निर्भर करते हैं। इसलिए अगर स्वचालित वाहन इंसानी ड्राइवरों से ज़्यादा सुरक्षित और सस्ते साबित हो भी जाते हैं, तो भी राजनेता और उपभोक्ता इस बदलाव में वर्षों, या शायद दशकों तक अड़ंगा डाले रह सकते हैं।

लेकिन, हम स्वयं को आत्मतुष्ट बने रहने की छूट नहीं दे सकते। महज़ यह मानकर चलना ख़तरनाक होगा कि इतने पर्याप्त नए रोज़गार पैदा हो जाएँगे कि वे किन्हीं भी

नुक़सानों की भरपाई कर देंगे। यह तथ्य कि स्वचालन की पिछली लहरों के दौरान ऐसा ही हो चुका है, इस बात की नितान्त कोई गारण्टी नहीं देता कि ऐसा ही इक्कीसवीं सदी की सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में भी फिर से होगा। जिन सामाजिक और राजनीतिक विघटनों की सम्भावना बनी हुई है, वे इस क़दर चेतावनी-भरे हैं कि अगर व्यवस्थित सामूहिक बेरोज़गारी की सम्भावनाएँ कम हों, तो भी हमें इसे गम्भीरता से लेना चाहिए।

उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति ने नई परिस्थितियों और समस्याओं को जन्म दिया था, जिनसे निपटने में कोई भी तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदर्श कामयाब नहीं हो सका था। सामन्तवाद, राजतन्त्रवाद और पारम्परिक मज़हब औद्योगिक महानगरों, अपनी जड़ों से कटे हुए लाखों कामगारों, या आधुनिक अर्थव्यवस्था की निरन्तर बदलती प्रकृति को सँभालने के अनुरूप ढले हुए नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप मानव जाति को पूरी तरह से नए आदर्श गढ़ने पड़े थे - उदार लोकतन्त्र, साम्यवादी तानाशाहियाँ और फ़ासीवादी सत्ताएँ - और इन आदर्शों के साथ प्रयोग करने में, गेहूँ को चोकर से अलग करने में, और सर्वश्रेष्ठ समाधानों को क्रियान्वित करने में भयानक युद्धों और क्रान्तियों से भरी एक सदी से ज़्यादा का समय लगा था। डिकेन्सियाई कोयला खदानों के बाल श्रमिक, प्रथम विश्वयुद्ध और 1932-33 का विराट उक्रेनियाई अकाल उस ट्यूशन फ़ीस का बहुत छोटा-सा हिस्सा थे, जो मानव जाति ने चुकाई थी।

इक्कीसवीं सदी में सूचना प्रौद्योगिकी और जैवप्रौद्योगिकी मानव जाति के सामने जो चुनौतियाँ पेश कर रही हैं, वे तर्कसंगत ढंग से उन चुनौतियों के मुक़ाबले बहुत बड़ी हैं, जो पिछले युग में भाप के इंजनों, रेलमार्गों और बिजली ने पेश की थीं। और हमारी सभ्यता की अपरिमित विनाशकारी शक्ति को देखते हुए हम अब और विफल तंत्रों, विश्वयुद्धों और रक्तरंजित क्रान्तियों का जोखिम उठाने की हालत में नहीं हैं। इस बार, ये विफल तंत्र परमाणु युद्धों, जनेटिक ढंग से गढ़ी गई दैत्यलीलाओं, और जीवमण्डल के सम्पूर्ण ध्वंस का कारण बन सकते हैं। इसलिए हमें उससे बेहतर क़ाबिलियत का परिचय देना ज़रूरी है, जिसका परिचय हमने औद्योगिक क्रान्ति का सामना करने में दिया था।

शोषण से अप्रासंगिकता तक

सम्भावित समाधान तीन कोटियों के अन्तर्गत आते हैं : रोज़गारों को क्षति से बचाने के लिए क्या किया जाए; पर्याप्त संख्या में नए रोज़गारों को तैयार करने के लिए क्या किया जाए; और अगर हमारी भरसक कोशिशों के बावजूद रोज़गारों की क्षति रोज़गारों के निर्माण को पीछे छोड़ देती है, तो उस स्थिति में क्या किया जाए।

रोज़गारों की क्षति को रोकना पूरी तरह से एक अनाकर्षक और सम्भवतः असाध्य रणनीति है, क्योंकि इसका मतलब एआई और रोबोटिक्स की विपुल सकारात्मक सम्भावनाओं को त्याग देना होगा। तब भी, सरकारें चाहें तो स्वचालन की गति को सुविचारित ढंग से धीमा करने का फ़ैसला कर सकती हैं, ताकि इसके नतीजे में लगने वाले आघातों को कम किया जा सके और बदलती स्थिति के अनुरूप ढलने की गुंजाइश मिल सके। प्रौद्योगिकी कभी भी निर्धारणात्मक नहीं होती, और कुछ किया जा सकता है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं होता कि वह किया ही जाना चाहिए। सरकारी नियन्त्रण बहुत कारगर तरीक़े से नई प्रौद्योगिकियों को रोक सकता है, भले ही वे वाणिज्यिक स्तर पर साध्य और आर्थिक दृष्टि से लाभदायक क्यों न हों। उदाहरण के लिए, दशकों से हमारे पास अल्प विकसित देशों में मानवीय 'काया रूपों' से पूरी तरह युक्त मानव अंगों के लिए एक बाज़ार तैयार करने की प्रौद्योगिकी रही है और हताश दौलतमन्द ख़रीदारों की लगभग कभी न पूरी होने वाली माँग रही है। ये काया रूप ख़रबों डॉलर मूल्य के हो सकते हैं। तब भी सरकारी नियन्त्रणों ने इंसानी शारीरिक अंगों के मुक्त व्यापार को रोका है, और हालाँकि अंगों की कालाबाज़ारी होती है, यह अपेक्षा से बहुत कम और बहुत सीमित है।

परिवर्तन की गति में शिथिलता हमें रोज़गारों के ज़्यादातर नुक़सानों की भरपाई के लिए नए रोज़गार तैयार करने का समय उपलब्ध करा सकती है, लेकिन जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि आर्थिक उद्यमिता को शिक्षा और मनोविज्ञान में एक नई क्रान्ति से जोड़ना ज़रूरी होगा। यह मानते हुए कि ज़्यादातर रोज़गार महज़ आराम-तलब सरकारी नौकरियाँ नहीं होंगीं, ये रोज़गार सम्भवतः उच्चस्तरीय विशेषज्ञता की माँग करेंगे, और जैसे-जैसे एआई उन्नत होती जाएगी, इंसानी कर्मचारियों को बार-बार नई दक्षताएँ सीखनी होंगीं और अपने व्यवसाय बदलने होंगे। सरकारों को आगे आना होगा - एक जीवनपर्यन्त शिक्षा के क्षेत्र के लिए आर्थिक मदद के साथ, और संक्रमणकाल के अपरिहार्य दौरों में सुरक्षा कवच उपलब्ध कराते हुए। अगर एक चालीस वर्षीय पूर्व ड्रोन पायलट को ख़ुद को आभासी दुनियाओं की डिज़ाइनर के रूप में नए सिरे से ढालने में तीन साल लगते हैं, तो उसके लिए इस अवधि में अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए शायद बहुत सारी सरकारी मदद की ज़रूरत पड़े। (इस तरह की योजना की अगुवाई फ़िलहाल स्कैंडिनेविया में जारी है, जहाँ सरकारें इस मन्त्र का अनुसरण कर रही हैं कि 'कर्मचारियों की रक्षा करो, न कि रोज़गारों की'।)

लेकिन अगर पर्याप्त सरकारी मदद उपलब्ध हो, तब भी यह बात कहीं से भी स्पष्ट नहीं है कि क्या लाखों लोग अपना मानसिक सन्तुलन खोए बिना ख़ुद को बार-बार नई क़ाबिलियतों के मुताबिक़ ढाल सकेंगे। इसलिए, हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद अगर मानव जाति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा रोज़गार के बाहर धकेल दिया जाता है, तो हमें रोज़गारोत्तर समाजों, रोज़गारोत्तर अर्थव्यवस्थाओं, और रोज़गारोत्तर राजनीति के नए

प्रारूपों को तलाशना होगा। पहला क़दम इस बात को ईमानदारी से स्वीकार करना है कि हमने अतीत से जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे विरासत में प्राप्त किए हैं, वे इस तरह की चुनौतियों से निपटने के मामले में अपर्याप्त हैं।

उदाहरण के लिए, साम्यवाद को लें। चूँकि स्वचालन पूँजीवादी व्यवस्था को डगमगा देने का ख़तरा पैदा कर रहा है, ऐसे में कोई यह मानने लग सकता है कि साम्यवाद की वापसी होगी, लेकिन साम्यवाद इस तरह के संकट का लाभ उठाने के लिए खड़ा नहीं किया गया था। बीसवीं सदी का साम्यवाद मानकर चलता था कि कामगार वर्ग अर्थव्यवस्था का जीवनाधार है, और साम्यवादी विचारकों ने सर्वहारा को इस बात की शिक्षा देने की कोशिश की कि वह अपनी इस विपुल आर्थिक शक्ति को किस तरह राजनीतिक ताक़त में बदल सकता है। साम्यवादी राजनीतिक योजना ने कामगार वर्ग की क्रान्ति का आह्वान किया था, लेकिन अगर जन-समुदाय अपना आर्थिक मूल्य खो देता है, और इसलिए उसको शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने की बजाय अप्रासंगिकता के विरुद्ध संघर्ष करना ज़रूरी हो जाता है, तो फिर ये तकनीकें प्रासंगिक कैसे रह जाएँगी? कामगार वर्ग के बिना आप कामगार वर्ग की क्रान्ति कैसे शुरू करेंगे?

कोई यह तर्क दे सकता है कि मनुष्य कभी भी आर्थिक रूप से अप्रासंगिक नहीं हो सकते, क्योंकि अगर वे कार्यस्थल पर एआई के साथ स्पर्धा न भी कर सकेंगे, तो भी उपभोक्ताओं के रूप में उनकी ज़रूरत हमेशा बनी रहेगी, लेकिन, यह बात दूर-दूर तक निश्चित नहीं है कि भविष्य की अर्थव्यवस्था के लिए हमारी उपभोक्ताओं के रूप में भी ज़रूरत रह जाएगी। यह काम मशीनें और कम्प्यूटर कर सकते हैं। सैद्धान्तिक तौर पर, आपके पास एक ऐसी अर्थव्यवस्था हो सकती है, जिसमें उत्खनन करने वाला कोई संस्थान किसी रोबोटिक्स संस्थान के लिए लोहे का उत्पादन और विक्रय करे, रोबोटिक्स संस्थान उत्खनन संस्थान के लिए रोबोट का उत्पादन और विक्रय करे, जो और भी ज़्यादा लोहे का उत्खनन करे, जिसका इस्तेमाल और ज़्यादा रोबोट उत्पादित करने के लिए किया जाए, आदि, आदि। ये संस्थान सुदूर आकाशगंगा तक विकसित हो सकते हैं और अपना विस्तार कर सकते हैं, और इनके लिए कुल मिलाकर रोबोटों और कम्प्यूटरों की ज़रूरत होगी। उनको इन उत्पादों को ख़रीदने तक के लिए इंसानों की ज़रूरत नहीं होगी।

सचमुच, आज पहले ही कम्प्यूटर और ऐल्गरिदम उत्पादकों की भूमिका निभाने के साथ-साथ ग्राहकों (क्लाइण्ट्स) की भूमिका निभाने लगे हैं। उदाहरण के लिए, शेयर-बाज़ार में ऐल्गरिदम बॉण्डों, शेयरों और वित्तीय उत्पादों के सबसे महत्त्वपूर्ण ख़रीदार बनते जा रहे हैं। इसी तरह विज्ञापन के कारोबार में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्राहक एक ऐल्गरिदम है : गूगल सर्च ऐल्गरिदम। जब लोग वेब पेज़ तैयार करते हैं, तो वे अक्सर किसी इंसान की रुचि की बजाय गूगल सर्च ऐल्गरिदम की रुचि का ख़याल रखते हैं।

ज़ाहिर है कि ऐल्गरिदमों में कोई चेतना नहीं होती, इसलिए इंसानी उपभोक्ताओं से भिन्न, वे जो कुछ ख़रीदते हैं, उसका आनन्द नहीं ले सकते, और उनके निर्णय अनुभूतियों और भावनाओं से निर्धारित नहीं होते। गूगल सर्च ऐल्गरिदम आइसक्रीम का स्वाद नहीं ले सकता, लेकिन ऐल्गरिदम अपने आन्तरिक आकलनों और पूर्वनिर्धारित प्राथमिकताओं के आधार पर चीज़ों का चुनाव करते हैं, और ये प्राथमिकताएँ उत्तरोत्तर हमारी दुनिया को गढ़ती हैं। आइसक्रीम विक्रेताओं के वेब पेज़ों के श्रेणी-निर्धारण के मामले में गूगल सर्च ऐल्गरिदम की बहुत ही परिष्कृत क़िस्म की अभिरुचि है। दुनिया के सबसे कामयाब आइसक्रीम विक्रेता वे हैं, जिनको गूगल ऐल्गरिदम प्रथम श्रेणी में रखता है। वे नहीं, जो सबसे ज़्यादा स्वादिष्ट आइसक्रीम बनाते हैं।

यह बात मैं निजी अनुभव से जानता हूँ। जब मैं कोई पुस्तक प्रकाशित करता हूँ, तो प्रकाशक मुझसे उस पुस्तक का एक ऐसा संक्षिप्त विवरण लिखने का आग्रह करते हैं, जिसका इस्तेमाल वे ऑनलाइन प्रचार के लिए कर सकें, लेकिन उनके पास एक ख़ास विशेषज्ञ होता है, जो मेरे लिखे हुए को गूगल ऐल्गरिदम की अभिरुचि के मुताबिक़ ढालता है। यह विशेषज्ञ मेरे मज़मून की समीक्षा करता है, और कहता है "इस अमुक शब्द का इस्तेमाल मत कीजिए। इसकी बजाय अमुक शब्द का इस्तेमाल कीजिए। इससे हमें गूगल ऐल्गरिदम की ज़्यादा तवज्जो मिल सकेगी।" हम जानते हैं कि अगर हम इस ऐल्गरिदम का ध्यान आकर्षित कर सकें, तो हम इंसानों की परवाह करना छोड़ सकते हैं।

इसलिए अगर मनुष्यों की न तो उत्पादकों के रूप में ज़रूरत है और न ही उपभोक्ताओं के रूप में, तो फिर उनके शारीरिक रूप से जीवित बने रह पाने की और उनकी मानसिक ख़ुशहाली की हिफ़ाज़त किस चीज़ से होगी? हम इस सवाल का जवाब ढूँढना शुरू करने से पहले इस संकट के पूरी ताक़त के साथ फट पड़ने का इन्तज़ार करते नहीं रह सकते। तब तक काफ़ी देर हो चुकी होगी। इक्कीसवीं सदी की अपूर्व प्रौद्योगिकियों और आर्थिक व्यवधानों से निपटने के लिए हमें जितना जल्दी मुमकिन हो, उतने जल्दी नए सामाजिक और आर्थिक मानकों को विकसित करना ज़रूरी है। इन मानकों का नियमन इंसानों के रोज़गारों की बजाय इंसानों की रक्षा के सिद्धान्त के आधार पर होना चाहिए। ज़्यादातर रोज़गार नीरस क़िस्म के काम होते हैं, जो बचाने लायक़ नहीं हैं। कैशियर होना किसी के जीवन का सपना नहीं हो सकता। जिन चीज़ों पर हमें ध्यान केन्द्रित करने की ज़रूरत है, वे हैं, लोगों की बुनियादी ज़रूरतें और उनकी सामाजिक हैसियत तथा आत्म-सम्मान की रक्षा।

एक नया मानक है यूनिवर्सल बेसिक इन्कम यानी यूबीआई (यूनिवर्सल बेसिक इन्कम किसी देश के सारे नागरिकों को, उनकी आय, संसाधनों या रोज़गारपरक हैसियतों पर ध्यान दिए बग़ैर, एक निश्चित मात्रा में पैसे देने का मानक है। यूबीआई का उद्देश्य ग़रीबी को रोकना या कम करना और तमाम नागरिकों के बीच समानता में वृद्धि करना है।), जो

उत्तरोत्तर ध्यान आकर्षित कर रहा है। यूबीआई का प्रस्ताव है कि सरकार ऐल्गरिदमों और रोबोटों को नियन्त्रित कर रहे अरबपतियों और व्यापारिक संस्थानों पर कर लगाए, और इस पैसे का इस्तेमाल हर व्यक्ति को समुचित मात्रा में वजीफ़ा मुहैया कराने के लिए करे, जो उस व्यक्ति की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा कर सके। यह चीज़ ग़रीबों को रोज़गारों की क्षति और आर्थिक विस्थापन से सम्भावित नुक़सान को झेलने में सक्षम बनाएगी, वहीं अमीरों को सार्वजनिक कोप से भी बचाएगी।

इसी से जुड़ा हुआ एक विचार मनुष्यों की उन गतिविधियों के दायरे को विस्तार देने का प्रस्ताव करता है, जिन गतिविधियों को 'रोज़गार' माना जाता है। वर्तमान में, अरबों माँ-बाप अपने बच्चों की परवरिश करते हैं, पड़ोसी एक-दूसरे की देखभाल करते हैं, और नागरिक समुदायों का गठन करते हैं, और इनमें से कोई भी मूल्यवान गतिविधि को रोज़गार के रूप में मान्य नहीं किया जाता। मुमकिन है कि हमें अपने दिमाग़ का कोई बटन दबाने, और इस बात को समझ लेने की ज़रूरत हो कि बच्चे की परवरिश करना दुनिया का सबसे महत्त्वपूर्ण और चुनौती-भरा काम है। अगर ऐसा है, तो फिर अगर कम्प्यूटर और रोबोट सारे ड्राइवरों, बैंककर्मियों और वकीलों की जगह ले भी लें, तब भी काम की कोई कमी नहीं होगी। सवाल, लेकिन निश्चय ही यह है कि इन नए मान्यता-प्राप्त रोज़गारों के पारिश्रमिक का आकलन कौन करेगा? यह मानते हुए कि छह महीने का शिशु अपनी माँ के लिए वेतन नहीं देगा, सरकार को सम्भवतः यह ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेनी होगी। यह भी मानते हुए कि हम चाहेंगे कि ये वेतन एक परिवार की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा कर सकें, अन्तिम नतीजा सार्वभौमिक बुनियादी आय से बहुत भिन्न नहीं होगा।

दूसरा विकल्प है कि सरकारें आय की बजाय सार्वभौमिक बुनियादी *सेवाओं* (यूनिवर्सल बेसिक सर्विसेज़) को आर्थिक मदद दे सकती हैं। लोगों को पैसा देने की बजाय, जिसका इस्तेमाल लोग मनमाफ़िक चीज़ें ख़रीदने के लिए करेंगे, सरकारें निःशुल्क शिक्षा, निःशुल्क स्वास्थ्य-सेवा, निःशुल्क परिवहन आदि के रूप में आर्थिक मदद (सब्सिडी) दे सकती हैं। ये दरअसल साम्यवाद की आदर्श लोक स्थापित करने की कल्पना है। यद्यपि कामगार वर्ग की क्रान्ति शुरू करने की साम्यवादी योजना पुरानी पड़ गई हो सकती है, लेकिन क्या यह मुमकिन नहीं कि हम इस साम्यवादी लक्ष्य को दूसरे साधनों के सहारे हासिल करें?

यह बात बहस योग्य है कि लोगों को यूनिवर्सल बेसिक इन्कम (पूँजीवादी स्वर्ग) या सार्वजनिक बुनियादी सेवाएँ (साम्यवादी स्वर्ग) उपलब्ध कराना बेहतर है या नहीं। दोनों ही विकल्पों के अपने फ़ायदे और नुक़सान हैं, लेकिन फ़र्क़ इससे नहीं पड़ता कि आप कौन-सा स्वर्ग चुनते हैं, असली समस्या यह परिभाषित करने की है कि 'सार्वभौमिक' ('यूनिवर्सल') और 'बुनियादी' ('बेसिक') का वास्तविक मतलब क्या है।

सार्वभौमिक क्या है?

जब लोग सार्वभौमिक बुनियादी मदद - वह चाहे आय के रूप में हो या सेवाओं के - की बात करते हैं, तो आमतौर पर उनका आशय *राष्ट्रीय* बुनियादी मदद से होता है। अब तक यूबीआई की दिशा में उठाए गए सारे क़दम सख़्त रूप से राष्ट्रीय या नगरीय (म्यूनिसिपल) रहे हैं। जनवरी 2017 में फ़िनलैंड ने एक दो वर्षीय प्रयोग के तहत फिनलैंड के 2,000 बेरोज़गारों को हर महीने 560 यूरो देना शुरू कर दिया, इस बात की परवाह किए बिना कि वे कोई काम ढूँढ पाते हैं या नहीं। इसी तरह के प्रयोग कनाडा के ओंटारियो प्रान्त में, इताल्वी नगर लिवोर्नो, और हॉलैंड के कई शहरों में जारी हैं। (2016 में स्विट्ज़रलैंड ने राष्ट्रीय बुनियादी आय योजना तैयार करने को लेकर एक जनमत-संग्रह कराया था, लेकिन मतदाताओं ने इस विचार को नकार दिया था।)

इन राष्ट्रीय और नगरीय योजनाओं के साथ समस्या यह है कि ज़रूरी नहीं कि स्वचालन के मुख्य शिकार व्यक्ति फ़िनलैंड, ओंटारियो, लिवोर्नो या एमस्टरडम में रहते हों। भूमण्डलीकरण ने एक मुल्क के लोगों को दूसरे मुल्कों के बाज़ारों पर पूरी तरह से निर्भर बना दिया है, लेकिन स्वचालन इस भूमण्डलीय व्यापारिक ताने-बाने को तार-तार करते हुए सबसे कमज़ोर सूत्रों के लिए विनाशकारी परिणाम पैदा कर सकता है। बीसवीं सदी में प्राकृतिक संसाधनों से वंचित विकासशील देशों ने मुख्यतः अपने अकुशल मज़दूरों का सस्ता श्रम बेचकर आर्थिक प्रगति की थी। आज लाखों की तादाद में बांग्लादेशी कमीज़ें तैयार करके और उनको संयुक्त राज्य अमेरिका के ग्राहकों को बेचकर अपनी आजीविका कमाते हैं, वहीं बंगलुरु के लोग कॉल सेंटरों में अमेरिकी ग्राहकों की शिकायतों को निपटाते हुए अपनी रोज़ी-रोटी कमाते हैं।

लेकिन एआई, रोबोटों और 3-D प्रिंटरों के उदय के साथ सस्ते अकुशल मज़दूरों का बहुत कम महत्त्व रह जाएगा। ढाका में कमीज़ें बनाकर और उनको जहाज़ों में लादकर संयुक्त राज्य अमेरिका तक भेजने की बजाय, आप उस शर्ट का कोड अमेज़ॉन से ऑनलाइन ख़रीद कर न्यू यॉर्क में उसे प्रिंट कर सकते हैं। फ़िफ़्थ एवेन्यू के ज़ारा और प्रादा स्टोरों की जगह ब्रुकलिन के 3-D प्रिंटिंग सेंटर ले सकते हैं, और कुछ लोग तो अपने घर तक में एक प्रिंटर रख सकते हैं। इसी के साथ-साथ, अपने प्रिंटर की शिकायत को लेकर बंगलुरु की ग्राहक-सेवाओं को फ़ोन करने की बजाय आप गूगल क्लाउड में एक एआई प्रतिनिधि से बात कर सकते हैं (जिसका उच्चारण और आवाज़ का लहज़ा आपकी प्राथमिकताओं के मुताबिक़ गढ़ा गया है)। ढाका और बंगलुरु के ये नए बेरोज़गार कामगारों और कॉल-सेंटर ऑपरेटरों को वह शिक्षा प्राप्त नहीं है, जिसके बूते वे फ़ैशनेबल कमीज़ें तैयार करने या कम्प्यूटर कोड लिखने का पेशा अपना सकें - तब फिर वे कैसे जीवित रहेंगे?

अगर एआई और 3-D प्रिंटर सचमुच बांग्लादेशियों और बंगलुरुवासियों के रोज़गारों पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं, तो जो राजस्व पहले दक्षिण एशिया की ओर प्रवाहित होता था, वह कैलिफ़ोर्निया के प्रौद्योगिकी के क्षेत्र के मुट्ठीभर महाबलियों की तिजोरियाँ भरने लगेगा। सारी दुनिया के आर्थिक विकास में सुधार लाने वाली परिस्थितियों की बजाय हम सिलिकॉन वैली जैसे हाई-टेक केन्द्रों में अपरिमित नई समृद्धि को जमा होते, और इसी के साथ बहुत-से विकासशील देशों को ध्वस्त होते देख सकते हैं।

निश्चय ही, कुछ उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ - जिनमें हिन्दुस्तान और बांग्लादेश शामिल हैं - इतनी पर्याप्त तेज़ी से आगे बढ़ सकती हैं कि वे विजेता टीम से जा मिलें। पर्याप्त वक़्त मिलने की स्थिति में, कपड़ा-कामगारों और कॉल-सेंटर ऑपरेटरों के बच्चे या नाती-पोते ऐसे इंजीनियर और उद्यमी बन जाएँ, जो कम्प्यूटर और 3-D प्रिंटर निर्मित कर सकें और ये चीज़ें उनके स्वामित्व में हों, लेकिन इस तरह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचने के लिए जिस समय की दरकार है, वह तेज़ी से बीतता जा रहा है। अतीत में, सस्ते अकुशल श्रम ने वैश्विक आर्थिक खाइयों के बीच सुरक्षित पुल का काम किया था, और अगर कोई देश धीमी गति से भी प्रगति करता था, तो भी वह अन्ततः सुरक्षित स्थिति में पहुँचने की उम्मीद कर सकता था, लेकिन अब वह पुल थरथरा रहा है, और जल्दी ही वह ध्वस्त हो सकता है। जो लोग उसको पहले ही पार कर चुके हैं - जो अब सस्ते श्रम से उबरकर उच्च-दक्षता-युक्त उद्योगों तक पहुँच गए हैं - वे सम्भवतः सकुशल होंगे, लेकिन जो पीछे घिसट रहे हैं, वे इस खाई को पार करने के किसी उपाय से हीन स्वयं को उसके ग़लत सिरे पर अटक कर रह गया पा सकते हैं। जब आपके सस्ते अकुशल श्रमिकों की किसी को भी ज़रूरत नहीं रह जाएगी, और आपके पास अच्छी शिक्षा-व्यवस्था खड़ी करने और उनको नई दक्षताएँ सिखाने के लिए कोई संसाधन नहीं होंगे, तब आप क्या करेंगे? तब इन पीछे रह जाने वालों की क्या नियति होगी? अमेरिकी मतदाता सम्भवतः इस बात पर राज़ी हो जाएँ कि अमेज़ॉन और गूगल द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका में उनके कारोबारों के बदले भुगतान किए गए करों की आय का उपयोग पेन्सिल्वानिया के बेरोज़गार खनिकों और न्यू यॉर्क के बेकार टैक्सी ड्राइवरों को वज़ीफ़े देने के लिए कर लिया जाए, लेकिन क्या अमेरिकी मतदाता इस बात पर भी सहमत होंगे कि इन करों से प्राप्त पैसों को उन जगहों के बेरोज़गार लोगों की मदद के लिए भेज दिया जाए, जो राष्ट्रपति ट्रम्प द्वारा 'मलिन मुल्कों' ('शिटहोल कंट्रीज') के रूप में परिभाशित किए गए हैं? अगर आपका ऐसा विश्वास है, तो आप शायद यह विश्वास भी कर रहे हो सकते हैं कि सान्ता क्लॉज़ और ईस्टर बनी समस्या को हल कर देंगे।

बुनियादी क्या है?

सार्वभौमिक बुनियादी मदद का मतलब है बुनियादी मानवीय ज़रूरतों को पूरा करना, लेकिन इसकी कोई मान्य परिभाषा नहीं है। अगर विशुद्ध जैविक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, तो एक सेपियन्स को ज़िन्दा बने रहने के लिए प्रतिदिन 1,500-2,500 कैलोरी की आवश्यकता होती है। इससे ज़्यादा कुछ भी विलासिता है, लेकिन इस जैविक ग़रीबी-रेखा से परे इतिहास में हर संस्कृति ने अतिरिक्त ज़रूरतों को 'बुनियादी' ज़रूरतों के रूप में परिभाशित किया है। मध्ययुगीन यूरोप में चर्च के अनुष्ठानों में भागीदारी को भोजन से भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण माना जाता था, क्योंकि वह आपकी नश्वर काया की बजाय आपकी शाश्वत आत्मा का ध्यान रखती थी। आज के यूरोप में उत्कृष्ट शिक्षा और स्वास्थ्य-सेवाओं को बुनियादी मानवीय ज़रूरतों के रूप में देखा जाता है, और कुछ लोगों का यह भी तर्क है कि इंटरनेट तक पहुँच हर मर्द, औरत और बच्चे के लिए अनिवार्य है। अगर 2050 में संयुक्त विश्व सरकार पृथ्वी के हर इंसान को - ढाका में भी और डेट्रॉइट में भी - बुनियादी मदद उपलब्ध कराने के लिए गूगल, अमेज़ॉन, बैदू और टेंसेंट पर कर लगाने पर सहमत हो जाती है, तो वे 'बुनियादी' को किस रूप में परिभाशित करेंगे?

उदाहरण के लिए बुनियादी शिक्षा में क्या-क्या शामिल है : महज़ पढ़ना और लिखना, या कम्प्यूटर कोड रचना और वायलिन बजाना भी? प्राथमिक पाठशाला के मात्र छह साल, या पीएच.डी तक सब कुछ? और स्वास्थ्य-सेवाएँ? अगर 2050 तक चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र की प्रगतियाँ बूढ़ा होने की प्रक्रिया को धीमा कर देती हैं और मनुष्य के जीवन-काल में उल्लेखनीय विस्तार दे देती हैं, तो क्या ये नई चिकित्साएँ भूग्रह के सारे 10 अरब लोगों को सुलभ होंगी, या महज़ कुछ अरबपतियों को? अगर जैवप्रौद्योगिकी अभिभावकों को अपने बच्चों को उन्नत रूप देने में सक्षम बना देती है, तो क्या इसे बुनियादी मानवीय ज़रूरत की तरह देखा जाएगा, या हम मानव-जाति को विभिन्न जैविक जातियों में विभाजित होता देखेंगे, जिनमें अमीर अतिमानव ऐसी क़ाबिलियतों का मज़ा लूट रहे होंगे, जो निर्धन *होमो सेपियन्स* को बहुत पीछे छोड़ देंगी?

आप 'बुनियादी मानवीय ज़रूरतों' को परिभाशित करने का जो भी कोई ढंग चुनें, जैसे ही आप हर किसी की इन ज़रूरतों को निःशुल्क पूरा करते हैं, वैसे ही उनको कम करके आँका जाने लगेगा, और इसके बाद उग्र सामाजिक प्रतिस्पर्धाएँ और राजनीतिक संघर्ष ग़ैर-बुनियादी विलासिताओं पर केन्द्रित हो जाएँगे - फिर ये विलासिताएँ भड़कीली स्वचालित कारें हों, आभासी-वास्तविकता के पार्कों में सहज आवाजाही हो, या जैवइंजीनियरी की मार्फ़त गढ़ी गई उन्नत कायाएँ हों। इसके परिणामस्वरूप अमीरों (टेंसेंट के मैनेजरों और गूगल के शेयरधारियों) और ग़रीबों (यानी जो सार्वभौमिक बुनियादी आय पर निर्भर होंगे) के बीच की खाई न केवल चौड़ी हो जाएगी, बल्कि उसको पार करना असम्भव हो जाएगा।

इसलिए अगर सहायता की कोई सार्वभौमिक योजना 2050 में ग़रीबों को आज की तुलना में बेहतर शिक्षा और स्वास्थ्य-सेवाएँ उपलब्ध कर देगी, तो भी ये ग़रीब लोग वैश्विक ग़ैरबराबरी को लेकर और सामाजिक वर्गान्तरण के अभाव से बेहद ख़फ़ा होंगे। लोगों को लगेगा कि व्यवस्था उनके ख़िलाफ़ पक्षपाती है, सरकार केवल धन्नासेठों का पक्ष लेती है, और यह कि भविष्य उनके और उनके बच्चों के लिए इससे भी बदतर होगा।

सन्तुष्ट होना *होमो सेपियन्स* की बनावट में ही नहीं है। मानवीय सुख वस्तुपरक परिस्थितियों पर कम और हमारी अपेक्षाओं पर ज़्यादा निर्भर करता है, लेकिन अपेक्षाएँ परिस्थितियों के अनुरूप ढलने की कोशिश करती हैं, जिनमें *दूसरे लोगों* की परिस्थिति शामिल होती है। जब स्थितियाँ बेहतर हो जाती हैं, तो अपेक्षाएँ गुब्बारे की तरह फूलने लगती हैं, और इसके परिणामस्वरूप परिस्थितियों में ज़बरदस्त सुधार भी हमें पहले से ज़्यादा असन्तुष्ट बना सकता है। अगर सार्वभौमिक बुनियादी मदद का लक्ष्य 2050 में औसत व्यक्ति की वस्तुपरक दशाओं में सुधार लाना है, तो इसके कामयाब होने की पूरी सम्भावना है, लेकिन अगर इसका उद्देश्य यह है कि लोगों के पास जो कुछ है, उससे वे व्यक्तिनिष्ठ स्तर पर अधिक सन्तुष्ट हों और उनको सामाजिक असन्तोष से रोका जा सके, तो इसकी नाकामयाबी की पूरी सम्भावना है।

सार्वभौमिक बुनियादी मदद वास्तव में अपने लक्ष्य हासिल कर सके, इसके लिए उसे अपने साथ - खेलों से लेकर मज़हब तक - किन्हीं सार्थक उद्यमों को जोड़ना होगा। रोज़गारोत्तर दुनिया में एक सन्तोषप्रद जीवन जीने के ढंग को लेकर अब तक का सबसे कामयाब प्रयोग इज़रायल में किया गया है। वहाँ, लगभग 50 % कट्टर परम्परावादी यहूदी मर्द कभी काम नहीं करते। वे अपना जीवन पवित्र ग्रन्थों के अध्ययन और मज़हबी अनुष्ठानों को पूरा करने में लगाते हैं। वे और उनके परिवार भूखों नहीं मरते, आंशिक तौर पर इसलिए कि उनकी बीवियाँ काम करती हैं, और आंशिक तौर पर इसलिए कि सरकार उनको उदारतापूर्ण आर्थिक मदद और निःशुल्क सेवाएँ मुहैया कराती है, और सुनिश्चित करती है कि उनके जीवन की बुनियादी ज़रूरतें पूरी होती रहें। ये वह सार्वभौमिक बुनियादी मदद है, जिसकी योजना *इस संज्ञा के पहले बनाई गई थी।*

हालाँकि वे ग़रीब और बेरोज़गार हैं, लेकिन एक-के-बाद-एक सर्वेक्षणों में ये कट्टर परम्परावादी यहूदी मर्द इज़रायली समाज के किसी भी हिस्से की तुलना में सन्तुष्ट जीवन का उच्चतम स्तर दर्शाते रहे हैं। ये उनके सामुदायिक सम्बन्धों की वज़ह से तो है ही, इसी के साथ-साथ इसलिए भी है कि पवित्र ग्रन्थों के अध्ययन और अनुष्ठानों के निष्पादन में वे गहरी सार्थकता अनुभव करते हैं। तलमूद पर चर्चा करते यहूदी पुरुषों से भरे एक कमरे में शायद उससे ज़्यादा आनन्द, सोहबत और विवेक के वातावरण का अनुभव किया जा सकता है, जितना कड़ी मेहनत करते कारख़ाने के कामगारों से भरे किसी कपड़ा कारख़ाने

के भीतर देखने को मिलता है। आंशिक रूप से इन बेरोज़गार निर्धन लोगों के योगदान की वज़ह से इज़रायल सन्तुष्ट जीवन के वैश्विक सर्वेक्षणों में लगभग सबसे ऊपर है।

सेक्युलर इज़रायली अक्सर इस बात को लेकर तीखी शिकायत करते हैं कि ये कट्टर परम्परावादी समाज के लिए पर्याप्त योगदान नहीं करते, दूसरे लोगों की कड़ी मेहनत पर पलते हैं। सेक्युलर इज़रायली यह तर्क देने की कोशिश भी करते हैं कि जीवन के इस कट्टर परम्परावादी ढंग को जारी नहीं रखा जा सकता, ख़ासतौर से इसलिए कि इन कट्टर परम्परावादी परिवारों में औसतन सात बच्चे होते हैं। आगे-पीछे राज्य इतनी बड़ी तादाद में बेरोज़गार लोगों को सहारा देने में सक्षम नहीं होगा, और इन कट्टर परम्परावादियों को अन्ततः काम में लगना होगा, लेकिन स्थिति इसके एकदम उलट भी हो सकती है। जब रोबोट और एआई इंसानों को रोज़गार के बाज़ार से बाहर धकेल देंगे, तब ये कट्टर परम्परावादी यहूदी अतीत के जीवाष्मों की तरह देखे जाने की बजाय भविष्य के एक मानक के रूप में देखे जा सकते हैं। यह नहीं कि हरेक व्यक्ति परम्परावादी यहूदी बन जाएगा और येशिवाओं में जाकर तलमूद का अध्ययन किया करेगा, लेकिन तमाम लोगों की ज़िन्दगी में अर्थ और सामुदायिक भावना की आकांक्षा रोज़गार की आकांक्षा को निस्तेज कर देगी।

अगर हम किसी तरह सार्वभौमिक आर्थिक सुरक्षा जाल को मज़बूत समुदायों और सार्थक खोजों से जोड़ सकें, तो ऐल्गरिदमों के हाथों अपने रोज़गारों का खोना वास्तव में एक वरदान साबित हो सकता है, लेकिन अपने जीवन पर नियन्त्रण को खोना कहीं ज़्यादा डरावना परिदृश्य हो सकता है। सामूहिक बेरोज़गारी के ख़तरे के बावजूद, जिस चीज़ से हमें कहीं ज़्यादा चिन्तित होना चाहिए, वह है प्रभुत्व का मनुष्यों के हाथों से निकलकर ऐल्गरिदमों के हाथों में चले जाना, जो कि उदारवादी क़िस्से में रहे-सहे विश्वास को भी नष्ट कर सकता है और डिजिटल तानाशाही के उदय का रास्ता खोल सकता है।

3

आज़ादी

बिग डेटा आप पर निगाह रखे हुए है

उदारवादी क़िस्सा इंसान की आज़ादी को आला दर्ज़े का मूल्य मानकर उसका दुलार करता है। उसका तर्क है कि सारी प्रभुसत्ता अन्ततः अलग-अलग मनुष्यों की उन स्वतन्त्र इच्छाओं से उत्पन्न होती है, जो उनकी अनुभूतियों, आकांक्षाओं और चयनों में अभिव्यक्ति पाती हैं। राजनीति के क्षेत्र में उदारवाद मानता है कि मतदाता बेहतर समझता है। इसलिए वह लोकतान्त्रिक चुनाव कराता है। अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में उदारवाद की मान्यता है कि ग्राहक हमेशा सही होता है। इसलिए वह मुक्त बाज़ार के सिद्धान्तों की जय-जयकार करता है। निजी मामलों में उदारवाद लोगों को तब तक ख़ुद की आवाज़ पर कान देने, ख़ुद के प्रति सच्चा होने, और अपने हृदय का अनुसरण करने को प्रोत्साहित करता है - जब तक कि वे दूसरों की आज़ादी का उल्लंघन नहीं करते। यह निजी स्वतन्त्रता मानवाधिकारों में प्रतिष्ठापित है।

पश्चिम के राजनीतिक विमर्श में 'उदार' नामक शब्द आज कभी-कभी संकुचित पक्षपातपूर्ण अर्थ में उन लोगों की ओर संकेत करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है, जो समलैंगिक विवाहों, बन्दूक़ रखने, और गर्भपात जैसे विशिष्ट ध्येयों का समर्थन करते हैं, लेकिन ज़्यादातर तथाकथित रूढ़िवादी दरअसल व्यापक उदारवादी विश्वदृष्टि भी अपनाते हैं। ख़ासतौर से संयुक्त राज्य अमेरिका में रिपब्लिकन और डेमोक्रेट, दोनों ही गाहे-ब-गाहे ख़ुद को यह याद दिलाने के लिए अपने उग्र झगड़ों से विराम लेते हैं कि वे सभी लोग स्वतन्त्र चुनावों, एक स्वाधीन न्यायपालिका, और मानवाधिकारों जैसे बुनियादी मुद्दों पर एकमत हैं।

ख़ुद को परखकर देखिए। क्या आपको लगता है कि लोगों को आँख मूँदकर किसी राजा की आज्ञा मानते रहने की बजाय अपनी सरकार ख़ुद चुननी चाहिए? क्या आपको लगता है कि लोगों को किसी जाति में जन्मा होने की बजाय अपना व्यवसाय ख़ुद चुनना चाहिए? क्या आपको लगता है कि लोगों को अपने अभिभावकों द्वारा तय कर दिए गए लड़के/लड़की से शादी करने की बजाय अपने जीवन-साथी का चुनाव ख़ुद करना चाहिए? अगर आप इन तीनों सवालों का जवाब 'हाँ' में देते हैं, तो बधाई, आप उदारवादी हैं।

ख़ासतौर से यह याद रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि रोनाल्ड रीगन और मार्ग्रेट थैचर जैसे रूढ़िवाद नायक न सिर्फ़ आर्थिक स्वतन्त्रताओं, बल्कि वैयक्तिक आज़ादी के भी महान हिमायती हुआ करते थे। 1987 में दिए गए अपने एक प्रसिद्ध साक्षात्कार में थैचर ने कहा था कि "समाज जैसी कोई चीज़ नहीं होती। पुरुषों और स्त्रियों का (एक) जीवन्त चित्रपट है...हमारे जीवन की गुणवत्ता इस बात पर निर्भर करेगी कि हममें से हरेक अपनी ज़िम्मेदारी लेने को कितना तैयार है।"

थैचर के कन्ज़र्वेटिव पार्टी के उत्तराधिकारी लेबर पार्टी से इस मामले में पूरी तरह सहमत हैं कि राजनीतिक प्रभुसत्ता अपने में विशिष्ट मतदाताओं की अनुभूतियों, चयनों और स्वतन्त्र इच्छाओं से उत्पन्न होती है। इसलिए जब ब्रिटेन को यह निर्णय लेने की ज़रूरत पड़ी कि उसको यूरोपीय यूनियन को छोड़ देनी चाहिए या नहीं, तो प्रधानमन्त्री डेविड कैमरन ने महारानी एलिज़ाबेथ II , केंटबरी के आर्चबिशॉप, या ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के महान प्रध्यापकों से इस मुद्दे का समाधान करने का आग्रह नहीं किया। उन्होंने संसद सदस्यों तक से नहीं पूछा। इसकी बजाय, उन्होंने एक जनमत-संग्रह कराया, जिसमें एक-एक ब्रितानी नागरिक से पूछा गया था : 'आप इस बारे में क्या *महसूस* करते हैं?'

आप आपत्ति कर सकते हैं लोगों से 'आप इस बारे में क्या महसूस करते हैं?' की बजाय 'आप क्या सोचते हैं?' पूछा जाना चाहिए था, लेकिन यह एक आम ग़लत धारणा है। जनमत-संग्रह और चुनाव हमेशा मनुष्यों की अनुभूतियों से ताल्लुक़ रखते हैं, न कि मनुष्यों की तर्कबुद्धि से। अगर लोकतन्त्र तार्किक निर्णय-प्रक्रिया का मसला होता, तो तमाम लोगों को समान मताधिकार - या सम्भवतः मताधिकार मात्र - देने का कोई कारण न होता। इसके भरपूर प्रमाण मौजूद हैं कि कुछ लोग दूसरों की तुलना में बहुत ज़्यादा अक़्लमन्द और तर्कशील होते हैं, ख़ासतौर से तब तो निश्चय ही जब सवाल विशिष्ट रूप से आर्थिक और राजनीतिक होते हैं। ब्रेक्ज़िट मतदान के बाद, लब्धप्रतिष्ठ जीवविज्ञानी रिचर्ड डॉकिन्स ने विरोध जताया था कि ब्रितानी समाज के बहुसंख्यक हिस्से से - जिनमें वे स्वयं शामिल थे - इस जनमत-संग्रह में मतदान करने के लिए नहीं कहा जाना चाहिए था, क्योंकि उनके पास अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र की ज़रूरी पृष्ठभूमि नहीं है। "फिर तो आप यह निर्णय करने के लिए एक राष्ट्रव्यापी जनमत-संग्रह का आह्वान कर सकते हैं कि

आइंस्टाइन का बीजगणित सही था या नहीं, या यात्रियों से इस बारे में मतदान करा सकते हैं कि पायलट को किस रनवे पर वायुयान को उतारना चाहिए।"

लेकिन यह बेहतर हो या बदतर, चुनावों और जनमत-संग्रहों का सम्बन्ध इस बात से नहीं होता कि हम क्या सोचते हैं। उनका सम्बन्ध इस बात से होता है कि हम क्या महसूस करते हैं। और जब अहसासों का सवाल उठता है, तो आइंस्टाइन और डॉकिन्स तमाम दूसरे लोगों से बेहतर नहीं होते। लोकतन्त्र मानकर चलता है कि मनुष्य की अनुभूतियाँ एक रहस्यमय और गहन 'स्वतन्त्र इच्छा' को प्रतिबिम्बित करती हैं, कि यह 'स्वतन्त्र इच्छा' प्रभुत्व का अन्तिम स्रोत है, और हालाँकि कुछ लोग अन्य लोगों की तुलना में ज़्यादा बुद्धिमान होते हैं, लेकिन सारे मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्र हैं। आइंस्टाइन और डॉकिन्स की ही तरह एक निरक्षर नौकरानी की भी स्वतन्त्र इच्छा होती है, इसलिए चुनाव के दिन उसके मत में प्रतिबिम्बित होती उसकी अनुभूतियाँ उतना ही महत्त्व रखती हैं, जितना किसी दूसरे व्यक्ति की अनुभूतियाँ रखती हैं।

अनुभूतियाँ सिर्फ़ मतदाताओं का ही नहीं, बल्कि नेताओं का भी मार्गदर्शन करती हैं। 2016 के ब्रेक्ज़िट जनमत-संग्रह में यूरोपीय यूनियन को छोड़ने की मुहिम का नेतृत्व बोरिस जॉनसन और माइकेल गोव संयुक्त रूप से कर रहे थे। डेविड कैमरन के त्यागपत्र देने के बाद गोव ने शुरुआत में प्रधानमन्त्री पद के लिए जॉनसन का समर्थन किया था, लेकिन आख़िरी क्षण में गोव ने जॉनसन को इस पद के अयोग्य क़रार दिया और ख़ुद ही इस ज़िम्मेदारी को सँभालने के अपने इरादे का ऐलान कर दिया। जॉनसन की सम्भावनाओं को बर्बाद कर देने वाले गोव के इस कृत्य को कपटपूर्ण राजनीतिक हत्या की संज्ञा दी गई थी। लेकिन गोव ने अपने इस आचरण का बचाव अपनी अनुभूतियों का हवाला देते हुए स्पष्ट किया कि "मैंने अपने राजनीतिक जीवन के हर मक़ाम पर ख़ुद से एक सवाल पूछा है : "उचित कृत्य क्या है? आपका दिल आपसे क्या कहता है?" गोव के मुताबिक़, यही वज़ह थी कि उन्होंने ब्रेक्ज़िट के लिए इतनी ज़बरदस्त लड़ाई लड़ी थी, और यही वज़ह थी कि वे अपने पूर्व सहयोगी बोरिस जॉनसन की पीठ में छुरा भोंकने को मजबूर हुए और उस पद के लिए अपनी दावेदारी पेश की, क्योंकि उनके दिल ने उनसे ऐसा करने को कहा था।

दिल पर यह भरोसा उदार लोकतन्त्र के लिए अकिलीज़ हील (कमज़ोर बिंदु) साबित हो सकता है, क्योंकि जैसे ही कोई व्यक्ति (चाहे बीजिंग में हो या सैन फ्रांसिस्को में) मनुष्य के हृदय में घुसपैठ करने और उसमें जोड़तोड़ करने की प्रौद्यागिकीय क़ाबिलियत हासिल कर लेता है, वैसे ही लोकतान्त्रिक राजनीति कठपुतली के भावनात्मक प्रदर्शन में बदल सकती है।

ऐल्गरिदम की सुनिए

व्यक्तियों की अनुभूतियों और मुक्त चयनों में उदारवादी विश्वास न तो कुदरती है और न बहुत प्राचीन। हज़ारों सालों तक लोग यह विश्वास करते आए थे कि प्रभुसत्ता का स्रोत मनुष्य के हृदय की बजाय दैवीय विधान होते हैं, और इसलिए हमें इंसानी आज़ादी की बजाय ईश्वर की वाणी को मान्य करना चाहिए। सिर्फ़ पिछली कुछ सदियों के दौरान ही प्रभुत्व का स्रोत अलौकिक देवताओं की बजाय हाड़-मांस के मनुष्य बने हैं।

प्रभुत्व का यह स्रोत जल्दी ही एक बार फिर स्थानान्तरित हो सकता है - मनुष्यों से ऐल्गरिदमों में। जिस तरह अलौकिक प्रभुत्व मज़हबी मिथकों द्वारा, और मानवीय प्रभुत्व उदारवादी क़िस्से द्वारा वैधीकृत किया गया था, उसी तरह आगामी प्रौद्योगिक क्रान्ति बिग डेटा ऐल्गरिदमों के प्रभुत्व को स्थापित कर सकती है, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की धारणा को खोखला कर सकती है।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय में उल्लेख किया था कि हमारे मस्तिष्कों और शरीरों के काम करने के ढंग के बारे में वैज्ञानिक अंतर्दृष्टियाँ यह संकेत करती हैं कि हमारी अनुभूतियाँ कोई अनूठे ढंग की मानवीय आध्यात्मिक विशेषताएँ नहीं हैं, और वे किसी तरह की 'स्वतन्त्र इच्छा' को प्रतिबिम्बित नहीं करतीं। इसकी बजाय, अनुभूतियाँ ऐसी जैवरासायनिक प्रक्रियाएँ हैं, जिनका इस्तेमाल सारे स्तनधारी प्राणी और पक्षी जीवित बने रहने तथा प्रजनन करते रहने की सम्भावनाओं का फुर्ती से आकलन करने के लिए करते हैं। अनुभूतियाँ सहज बोध, अन्तःप्रेरणा या स्वतन्त्रता पर आधारित नहीं होतीं, बल्कि वे आकलन पर आधारित होती हैं।

जब कोई बन्दर, चूहा या इंसान साँप को देखता है, तो भय उत्पन्न होता है,क्योंकि मस्तिष्क के लाखों न्यूरॉन बहुत तेज़ी के साथ सम्बन्धित सूचना का आकलन करते हैं और इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मृत्यु की आशंका बहुत ज़्यादा है। काम-वासना की अनुभूतियाँ तब जागती हैं, जब दूसरे जैविक ऐल्गरिदम आकलन करते हैं कि पास में मौजूद व्यक्ति कामयाब संसर्ग, सामाजिक सम्बन्ध, या किसी अन्य इच्छित लक्ष्य को पूरा करने की भरपूर सम्भावनाओं से युक्त है। क्रोध, अपराध-बोध या क्षमा जैसी नैतिक अनुभूतियाँ उन स्नायुविक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती हैं, जो सामूहिक सहकार को सक्षम बनाने के लिए विकसित हुई थीं। ये सारे ऐल्गरिदम विकास-प्रक्रिया के लाखों सालों के दौरान धारदार बने हैं। अगर किसी प्राचीन पूर्वज के जज़्बातों ने कोई ग़लती की होती थी, तो इन जज़्बातों को गढ़ने वाले जीन्स अगली पीढ़ी में स्थानान्तरित नहीं होते थे। इस तरह जज़्बात तार्किकता के विलोम नहीं हैं, बल्कि वे विकासपरक तार्किकता को रूपायित करते हैं।

हम आमतौर पर इस बात को समझ पाने में चूक जाते हैं कि जज़्बात वस्तुतः आकलन होते हैं, क्योंकि आकलन की तेज़ प्रक्रिया हमारी सजगता की देहरी के बहुत नीचे घटित होती है। हम जीवित बने रहने और प्रजनन करते रहने की सम्भावनाओं का मस्तिष्क में

परिकलन (कम्प्यूटिंग) करते लाखों न्यूरॉनों को महसूस नहीं करते, इसलिए हम ग़लत ढंग से यह विश्वास कर बैठते हैं कि साँप को लेकर हमारा भय, सहवास के लिए हमारा चयन, या यूरोपीय यूनियन को लेकर हमारी राय किसी रहस्यमय 'स्वतन्त्र इच्छा' का परिणाम हैं।

इसलिए, यद्यपि उदारवाद का यह विचार ग़लत है कि हमारे जज़्बात स्वतन्त्र इच्छा को प्रतिबिम्बित करते हैं, तब भी आज तक जज़्बातों पर भरोसा एक अच्छा व्यावहारिक विचार बना रहा है, क्योंकि हालाँकि हमारे जज़्बातों में जादुई या स्वतन्त्र जैसा कुछ नहीं था, तब भी वे इस संसार में इस बात का निर्णय लेने के लिहाज़ से सबसे अच्छी विधि थे कि क्या अध्ययन किया जाए, किससे विवाह किया जाए, और किस पार्टी को वोट दिया जाए। और मेरे जज़्बातों को समझने की उम्मीद मुझसे बेहतर कोई भी बाहरी व्यवस्था नहीं कर सकती। यहाँ तक कि अगर स्पेनिश इन्क़्वीज़ीशन या सोवियत केजीबी ने हर दिन हर मिनिट मेरी जासूसी की होती, तब भी उनमें मेरी आकांक्षाओं और चुनावों को गढ़ने वाली जैवरासायनिक प्रक्रियाओं में घुसपैठ कर उनका पता लगाने के लिए ज़रूरी जीववैज्ञानिक ज्ञान और परिकलन शक्ति का अभाव था। बुनियादी तौर पर, यह एक युक्तिसंगत तर्क था कि मैं स्वतन्त्र इच्छा रखता हूँ, क्योंकि मेरी इच्छा मुख्यतः उन आन्तरिक शक्तियों की परस्पर-क्रिया द्वारा गढ़ी गई थी, जिनको कोई बाहरी व्यक्ति देख नहीं सकता था। मैं यह भ्रम पाले रह सकता था कि मैं अपने गुप्त आन्तरिक कर्मक्षेत्र को नियन्त्रित करता हूँ, जबकि बाहरी लोग वाक़ई कभी इस बात को नहीं समझ सकते कि मेरे अन्दर क्या चल रहा है और मैं निर्णय कैसे लेता हूँ।

तदनुसार, उदारवाद द्वारा लोगों को किसी पुरोहित या पार्टी के वफ़ादार और वरिष्ठ नेता के निर्देशों का पालन करने की बजाय अपने हृदय का अनुसरण करने का परामर्श देना उचित था, लेकिन जल्दी ही ऐसा वक़्त आएगा, जब कम्प्यूटर ऐल्गरिदम आपको इंसानी जज़्बातों की तुलना में बेहतर परामर्श दे सकेंगे। जिस तरह स्पेनिश इन्क़्वीज़ीशन और केजीबी ने गूगल और बैदू के सामने घुटने टेक दिए, उसी तरह मुमकिन है कि भविष्य में 'स्वतन्त्र इच्छा' भी एक मिथक के रूप में उजागर हो जाए और उदारवाद अपनी व्यावहारिक उपयोगिताओं को गँवा दे।

हम इस वक़्त दो विराट क्रान्तियों के संगम पर हैं। एक ओर जीवविज्ञानी मानव-देह, और विशेष रूप से मस्तिष्क और इंसानी जज़्बातों के रहस्यों को सुलझा रहे हैं। और इसी के साथ-साथ कम्प्यूटर-विज्ञानी हमें डेटा-प्रॉसेसिंग की अपूर्व क्षमता प्रदान कर रहे हैं। जिस वक़्त जैवप्रौद्योगिक क्रान्ति का सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति के साथ विलय हो जाएगा, तो यह उन बिग डेटा ऐल्गरिदमों को पैदा करेगा, जो मेरे जज़्बातों पर मुझसे बेहतर ढंग से निगरानी रख सकेंगे और मुझसे बेहतर ढंग से उनको समझ सकेंगे, और तब प्रभुत्व मनुष्यों के हाथ से निकलकर कम्प्यूटरों के हाथ में आ जाएगा। मेरा सामना जैसे-जैसे प्रतिदिन ऐसी संस्थाओं, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों और सरकार की प्रतिनिधि संस्थाओं के साथ होगा,

जो उस क्षेत्र को समझने और परिचालित करने लगेंगी, जो अब तक दूसरों की पहुँच से परे मेरा आन्तरिक क्षेत्र हुआ करता था, वैसे ही स्वतन्त्र इच्छा के मेरे भ्रम के टूटने की पूरी सम्भावना है।

इस बात को संक्षेप में रखने के लिए हम नीचे अंकित सूत्र का इस्तेमाल कर सकते हैं :

b*c*d = ahh !

बायोलॉजिकल नॉलेज (जीववैज्ञानिक ज्ञान) गुणित कम्प्यूटिंग पॉवर (संगणन क्षमता) गुणित डेटा बराबर एबिलिटी टु हैक ह्यूमन्स (मनुष्यों में घुसपैठ कर उनके अन्दर की जानकारियों को चुरा लेने की क्षमता)। चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में यह सूत्र किस तरह काम करता है, इसे हम पहले ही देख सकते हैं। हमारे जीवन के चिकित्सा-सम्बन्धी सबसे महत्त्वपूर्ण फ़ैसले बीमार होने या स्वस्थ होने के हमारे अहसासों पर, या हमारे डॉक्टर के बुद्धिमत्तापूर्ण पूर्वानुमानों तक पर निर्भर नहीं करते, बल्कि उन कम्प्यूटरों के आकलनों पर निर्भर करते हैं, जो हमारे शरीरों को हम से बेहतर ढंग से समझते हैं। कुछ ही दशकों के भीतर, बायोमैट्रिक डेटा के निरन्तर प्रवाह से अक़्लमन्द बिग डेटा ऐल्गरिदम हमारे स्वास्थ्य की चौबीसों घण्टे निगरानी कर सकेंगे। वे इन्फ़्लुएन्ज़ा, कैंसर या अल्ज़ाइमर बीमारियों का उनकी एकदम शुरुआत में ही पता लगा लेंगे, उसके बहुत पहले कि हमें ख़ुद को लेकर कोई गड़बड़ी महसूस हो। इसके बाद वे हमारी विशिष्ट शारीरिक बनावट, डीएनए और व्यक्तित्व की ज़रूरतों के अनुरूप ढली एकदम सटीक चिकित्साओं, आहार और रोज़मर्रा के परहेज़ों का परामर्श दे सकेंगे।

लोग इतिहास की श्रेष्ठतम चिकित्सा-सेवा का लाभ उठाएँगे, लेकिन ठीक इसी वज़ह से उनमें सम्भवतः पूरे समय बीमार होने का बोध भी बना रहेगा। शरीर में हर समय कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई गड़बड़ी होती ही है। अतीत में, जब तक आपको कहीं कोई दर्द महसूस नहीं होता था या आप लँगड़ाने जैसी किसी स्पष्ट शारीरिक अक्षमता के शिकार नहीं होते थे, तब तक आप पूरी तरह तन्दुरुस्त महसूस करते थे, लेकिन 2050 के आते-आते, मुमकिन है कि बायोमैट्रिक सेंसरों और बिग डेटा ऐल्गरिदमों की मेहरबानी से, इससे बहुत पहले कि बीमारियाँ किसी तरह के दर्द या अपंगता का कारण बनें, उनका पता लगा लिया जाए और इलाज कर दिया जाए। इसके परिणामस्वरूप, आप हर वक़्त ख़ुद को किसी 'चिकित्सकीय परिस्थिति' का शिकार पाएँगे और इस या उस ऐल्गरिदमीय परामर्श का अनुसरण कर रहे होंगे। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे, तो शायद आपके चिकित्सा-बीमा की वैधता समाप्त हो जाए, या आपका बॉस आपको नौकरी से निकाल दे। आख़िर उनको आपकी ज़िद की क़ीमत क्यों चुकानी चाहिए?

यह एक बात है कि आप, उन सामान्य आँकड़ों के बावजूद जो धूम्रपान को फेंफड़ों के कैंसर से जोड़ते हैं, धूम्रपान जारी रखें, लेकिन यह बहुत अलग बात है कि आप एक

बायोमैट्रिक सेंसर द्वारा दी गई ठोस चेतावनी के बावजूद धूम्रपान जारी रखें, जिसने अभी-अभी आपके बाएँ फेफड़े के ऊपरी हिस्से में सत्रह कैंसरीय कोशिकाओं का पता लगाया है। और अगर आप इस सेंसर की चेतावनी को अनसुना करना चाहते हैं, तो तब आप क्या करेंगे, जब यह सेंसर इस चेतावनी को आपकी बीमा एजेंसी, आपके मैनेजर और आपकी माँ तक पहुँचा देगा?

इन तमाम बीमारियों से निपटने के लिए वक़्त और ऊर्जा किसके पास होगी? पूरी सम्भावना है कि हम अपने स्वास्थ्य ऐल्गरिदम को निर्देश दे दें कि वही अपने उपयुक्त ढंग से इन सारी समस्याओं से निपटे। ज़्यादा-से-ज़्यादा वह समय-समय पर हमारे स्मार्टफ़ोन पर ताज़ा स्थिति की जानकारी भेजते हुए हमें यह बताता रहे कि 'सत्रह कैंसरीय कोशिकाओं का पता लगाया गया और उनको नष्ट कर दिया गया'। हो सकता है कि रोग की आशंका से पीड़ित रहने वाले लोग इन ताज़ा जानकारियों को पढ़ें, लेकिन हममें से ज़्यादातर लोग इनकी तरफ़ उसी तरह ध्यान न दें, जिस तरह हम अपने कम्प्यूटर के झल्ला देने वाली एंटी-वायरस चेतावनियों पर ध्यान नहीं देते।

निर्णय-प्रक्रिया का नाटक

जिस चीज़ की शुरुआत चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में पहले ही हो रही है, वही अन्य क्षेत्रों में होने की सम्भावना है। सबसे प्रमुख आविष्कार है बायोमैट्रिक सेंसर, जिसको लोग अपने शरीर पर या उसके अन्दर लगा सकते हैं, और जो जैविक प्रक्रियाओं को उस इलेक्ट्रॉनिक सूचना में बदल देता है, जिसका संग्रह और विश्लेषण कम्प्यूटर कर सकता है। समुचित बायोमैट्रिक डेटा और समुचित संगणन क्षमता के चलते बाहरी डेटा-प्रॉसेसिंग-प्रणालियाँ आपकी सारी आकांक्षाओं, निर्णयों और धारणाओं में घुसपैठ कर सकती हैं। वे ठीक-ठीक यह पता लगा सकती हैं कि आप कौन हैं।

ज़्यादातर लोग स्वयं को बहुत अच्छी तरह से नहीं जानते। जब मैं इक्कीस साल का था, तब कई सालों तक अपने समलैंगिक होने के तथ्य से इंकार करने के बाद अन्ततः मुझे समझ में आया कि मैं एक समलैंगिक हूँ। यह कोई अपवाद नहीं है। बहुत-से समलैंगिक पुरुष अपनी यौनपरक स्थिति के बारे में अनिश्चित बने रहते हुए अपनी सारी किशोरावस्था बिता देते हैं। अब ज़रा 2050 की स्थिति की कल्पना करें, जब एक ऐल्गरिदम किसी भी किशोर को ठीक-ठीक यह बता सकेगा कि समलैंगिक/विषमलैंगिक परिदृश्य में वह कहाँ पर है (और यहाँ तक कि वह स्थिति किस तरह लचीली है)। हो सकता है कि वह ऐल्गरिदम आपको आकर्षक पुरुषों और स्त्रियों की तसवीरें या वीडियो दिखाए, आपकी आँखों की भंगिमाओं, रक्तचाप और मस्तिष्क की गतिविधि का पीछा करे, और पाँच

मिनिट के भीतर किन्से स्केल (किन्से स्केल को विषमलैंगिक-समलैंगिक रेटिंग स्केल भी कहा जाता है। इसका इस्तेमाल किसी व्यक्ति की यौन-प्रवृत्ति की जाँच करने के लिए किया जाता है। यह जाँच एक निश्चित समय में उस व्यक्ति के अनुभवों और प्रतिक्रियाओं पर आधारित होती है।) पर एक नम्बर प्रदर्शित कर दे। इसने मुझे कुण्ठा के कई वर्षों से बचा लिया होता। हो सकता है आप व्यक्तिगत तौर पर इस तरह की जाँच न कराना चाहते हों, लेकिन तब हो सकता है कि आप ख़ुद को मिशेल की उबाऊ बर्थडे पार्टी में शामिल दोस्तों के समूह में पाएँ, और कोई सलाह दे कि आप सब एक-के-बाद एक इस नए तटस्थ ऐल्गरिदम पर ख़ुद को जाँचें (जहाँ हर कोई आपके इर्द-गिर्द परिणाम देखने- और उन पर टिप्पणी करने खड़ा होगा)। क्या आप वहाँ से चुपचाप चलते बनेंगे?

अगर आप ऐसा करते भी हैं, और आप ख़ुद से तथा अपने दोस्तों से इस बात को छिपाए रखते हैं, तब भी आप अमेज़ॉन, अलीबाबा और ख़ुफ़िया पुलिस की निगाहों से बचे रहने में कामयाब नहीं होंगे। आप जैसे ही वेब को सर्फ़ करेंगे, यू ट्यूब देखेंगे या सोशल मीडिया पर आए सन्देशों को पढ़ेंगे, ये ऐल्गरिदम चुपचाप आप पर निगाह रखेंगे, आपका विश्लेषण करेंगे, और कोका-कोला से कहेंगे कि अगर वह आपको कोई फेनिल पेय बेचना चाहता है, तो बेहतर होगा कि वह आपको बिना कमीज़ वाली लड़की की जगह बिना कमीज़ वाले लड़के वाला विज्ञापन दिखाए। आपको पता भी नहीं चलेगा, लेकिन उनको मालूम होगा, और यह जानकारी अरबों डॉलर मूल्य की होगी।

लेकिन फिर, हो सकता है सब कुछ खुले में आ जाए, और लोग बेहतर परामर्श हासिल करने के लिए - और अन्ततः अपने बारे में ऐल्गरिदम को फ़ैसला लेने देने के लिए - ख़ुशी-ख़ुशी अपनी जानकारी आपस में साझा करने लगें। इसकी शुरुआत साधारण चीज़ों के साथ होती है, जैसे कि यह फ़ैसला लेने के साथ कि कौन-सी फ़िल्म देखी जाए। आप जैसे ही एक आरामदायक शाम बिताने अपने दोस्तों के साथ टीवी के सामने बैठते हैं, आपको सबसे पहले यह चयन करना होता है कि क्या देखा जाए। पचास साल पहले आपके पास ऐसा चयन उपलब्ध नहीं था, लेकिन आज - माँग-पर-देखो (व्यू-ऑन-डिमांड) सेवाओं के चलते - फ़िल्मों आदि के हज़ारों शीर्षक उपलब्ध हैं। एक राय क़ायम करना ख़ासा मुश्किल हो सकता है, क्योंकि जहाँ आपको व्यक्तिगत रूप से साइंस-फ़िक्शन थ्रिलर पसन्द हैं, वहीं जैक्स को रोमानी कॉमेडियाँ अच्छी लगती हैं, और जिल कलात्मक फ़्रांसीसी फ़िल्मों के पक्ष में है। नतीजतन, हो सकता है कि आप किसी औसत दर्जे की बी-श्रेणी की फ़िल्म देखने पर राज़ी हो जाएँ, जो आप सबको निराश करने वाली निकले।

ऐल्गरिदम इसमें आपकी मदद कर सकता है। आप कह सकते हैं कि पिछली कौन-सी फ़िल्म आप सबको पसन्द आई थी, और तब यह ऐल्गरिदम अपने विराट सांख्यिकीय डेटाबेस के आधार पर आपकी मण्डली की रुचि की एकदम सही फ़िल्म ढूँढ निकाले। बदक़िस्मती से, इस तरह के एक अपरिष्कृत ऐल्गरिदम को आसानी के साथ गुमराह किया

जा सकता है, ख़ासतौर से इसलिए कि ख़ुद दी गई सूचना लोगों की सच्ची प्राथमिकताओं के सन्दर्भ में एक कुख्यात रूप से अविश्वसनीय पैमाना होती है। अक्सर ऐसा होता है कि ढेरों लोग किसी फ़िल्म की तारीफ़ करते हुए उसको आला दर्ज़े की फ़िल्म बताते हैं, और इस तारीफ़ को सुनकर हम उस फ़िल्म को देखने को मजबूर हो जाते हैं, और भले ही हम आधी फ़िल्म के दौरान सो जाएँ, लेकिन चूँकि हम अशिक्षित नहीं दिखना चाहते, इसलिए हम हर किसी से यही कहते हैं कि उस फ़िल्म को देखना एक अद्भुत अनुभव रहा।

लेकिन इस तरह की समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं, बशर्ते कि हम अपनी स्वयं दी गई सन्देहास्पद जानकारी पर भरोसा करने की बजाय ऐल्गरिदम को गुंजाइश दें कि जब भी हम सचमुच फ़िल्में देख रहे हों, तब वह हमारे बारे में रियल-टाइम डेटा एकत्र करे। पहले क़दम के तौर पर, यह ऐल्गरिदम इस चीज़ पर निगाह रख सकता है कि हमने कौन-सी फ़िल्में पूरी देखीं, और कौन-सी आधी देखकर छोड़ दीं। अगर हम सारी दुनिया से कहते फिरें कि *गॉन विद द विंड* अब तक की सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म है, तब भी ऐल्गरिदम को यह बात मालूम होगी कि हमने इसे पहले आधे घण्टे से आगे कभी नहीं देखा, और हमने अटलांटा बर्निंग तो कभी देखी ही नहीं।

लेकिन ऐल्गरिदम इससे भी ज़्यादा गहराई में जा सकता है। इंजीनियर इस वक़्त एक ऐसा सॉफ़्टवेयर तैयार करने में लगे हैं, जो हमारी आँखों और चेहरे की मांसपेशियों की हरक़तों के आधार पर हमारी भावनाओं को पकड़ सकेंगे। टेलीविज़न के साथ एक अच्छा कैमरा जोड़िए, और इस तरह का सॉफ़्टवेयर यह जान जाएगा कि किस दृश्य ने हमें हँसाया, किसने हमें उदास किया, और किस दृश्य ने हमें उबाया। इसके बाद, ऐल्गरिदम को बायोमैट्रिक सेंसर के साथ जोड़िए, और ऐल्गरिदम यह जान जाएगा कि किस तरह हर दृश्य ने हमारे दिल की धड़कनों, हमारे रक्तचाप, और हमारे मस्तिष्क की गतिविधियों पर प्रभाव डाला। मान लीजिए कि हम टेरेंटिनो की *पल्प फ़िक्शन* देखते हैं, तो यह ऐल्गरिदम इस बात को देख लेगा कि बलात्कार के दृश्य ने हमारे भीतर कामोत्तेजना की एक ऐसी सनसनी पैदा कर दी थी, जिसका लगभग हमें ख़ुद पता नहीं चला, इसके बाद जब विन्सेंट अनजाने में मार्विन के चेहरे पर गोली मार देता है, तो यह घटना हमें अपराध-बोध के साथ हँसा देती है, और यह कि हम हालाँकि बिग काहुना बर्गर के बारे में मज़ाक़ को समझ नहीं पाते, तब भी हम हँस देते हैं, ताकि हम बेवकूफ़ न समझ लिए जाएँ। जब आप ख़ुद को जबरन हँसाते हैं, तो आप जिन मस्तिष्क-सर्किटों और मांसपेशियों का इस्तेमाल करते हैं, वे उससे भिन्न होते हैं, जिनका इस्तेमाल आप सचमुच की किसी हास्यास्पद बात पर हँसने के लिए करते हैं। इंसान इस फ़र्क़ को आम तौर से पकड़ नहीं पाते, लेकिन एक बायोमैट्रिक सेंसर पकड़ सकता है।

Television शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - ग्रीक भाषा के 'tele ', जिसका मतलब है 'दूर', और लैटिन के 'visio ' जिसका मतलब है दर्शन। इसको मूलतः एक ऐसे

उपकरण के रूप में देखा गया था, जो हमें बहुत दूर से देखने की गुंजाइश देता है, लेकिन बहुत जल्द ही यह हमें दूर से देखे जाने की गुंजाइश दे सकता है। जैसा कि जॉर्ज ऑरवेल ने *नाइनटीन ऐटी-फ़ोर* में कल्पना की थी, जिस वक़्त हम टेलीविज़न देख रहे होंगे, उसी वक़्त टेलीविज़न हमें देख रहा होगा। जब हम टेरेंटिनो की सारी फ़िल्में देख चुके होंगे, तो हम उनमें से ज़्यादातर को भूल चुके होंगे, लेकिन नैटफ़्लिक्स, या अमेज़ॉन, या जिस किसी के भी पास टीवी ऐल्गरिदम होगा, उसको हमारे व्यक्तित्व-रूप और इस बात की भी जानकारी होगी कि हमारे जज़्बाती बटनों को किस तरह दबाया जाए। इस तरह के डेटा नैटफ़्लिक्स और अमेज़ॉन को रहस्यमय अचूकता के साथ हमारे लिए फ़िल्मों का चयन करने में सक्षम बनाएँगे, लेकिन ये उनको हमारी ज़िन्दगी के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण फ़ैसले - जैसे कि क्या पढ़ाई करें, कहाँ काम करें, और किससे शादी करें जैसे फ़ैसले - लेने में भी सक्षम बना सकते हैं।

बेशक, अमेज़ान सारे समय सही नहीं होगा। यह असम्भव है। अपर्याप्त डेटा, दोषपूर्ण प्रोग्रामिंग, लक्ष्य की भ्रामक परिभाषाओं और जीवन की अराजक प्रकृति के चलते ऐल्गरिदम बार-बार ग़लतियाँ करेंगे। लेकिन अमेज़ॉन को अचूक होने की ज़रूरत नहीं होगी। उसको सिर्फ़ हम इंसानों की तुलना में औसतन बेहतर होने भर की ज़रूरत होगी। और ये उतना मुश्किल नहीं है, क्योंकि ज़्यादातर लोग ख़ुद को बहुत ठीक-से नहीं समझते, और ज़्यादातर लोग अपनी ज़िन्दगी के सबसे अहम फ़ैसले लेने के मामले में भयावह ग़लतियाँ करते हैं। यहाँ तक कि ऐल्गरिदमों से कहीं ज़्यादा इंसान अपर्याप्त डेटा, दोषपूर्ण प्रोग्रामिंग (जनेटिक और सांस्कृतिक, दोनों ही तरह की), भ्रामक परिभाषाओं, और जीवन की अराजकता के शिकार होते हैं।

आप शायद ऐसी बहुत-सी समस्याओं की फ़ेहरिस्त तैयार कर सकते हैं, जो ऐल्गरिदमों को घेरे रहती हैं, और यह नतीजा निकाल सकते हैं कि लोग उन पर कभी भरोसा नहीं करेंगे, लेकिन यह लोकतन्त्र की सारी त्रुटियों की फ़ेहरिस्त तैयार करके यह नतीजा निकालने जैसा होगा कि कोई भी दिमाग़ी तौर पर दुरुस्त व्यक्ति इस तरह की प्रणाली को कभी नहीं चुनेगा। विन्सेंट चर्चिल का यह कथन प्रसिद्ध है कि लोकतन्त्र, बाक़ी दूसरी राजनीतिक प्रणालियों के अलावा, दुनिया की सबसे बदतर राजनीतिक प्रणाली है। सही हो या ग़लत, लोग बिग डेटा ऐल्गरिदमों के बारे में भी ऐसा ही नतीजा निकाल सकते हैं : उनमें ढेरों अड़चनें हैं, लेकिन हमारे पास कोई बेहतर विकल्प भी नहीं हैं।

जैसे-जैसे वैज्ञानिक हम मनुष्यों के निर्णय लेने के ढंग की गहरी समझ हासिल करते जाएँगे, वैसे-वैसे ऐल्गरिदमों पर भरोसा करने का लोभ बढ़ते जाने की सम्भावना है। मनुष्य की निर्णय-प्रक्रिया में घुसपैठ बिग डेटा ऐल्गरिदमों को अधिक भरोसे के योग्य ही नहीं बनाएगी, बल्कि वह इसी के साथ-साथ मनुष्यों के जज़्बातों को *कम* विश्वसनीय भी बना देगी। जैसे-जैसे सरकारें और व्यापारिक प्रतिष्ठान इंसानी कार्य-प्रणाली (ह्यूमन ऑपरेटिंग

सिस्टम) में घुसपैठ करने में कामयाब होते जाएँगे, वैसे-वैसे सटीकता से निर्देशित चालबाज़ियों, विज्ञापन और प्रचारपरक हथकण्डों की झड़ी हमें चारों ओर से घेरती जाएगी। हमारे विचारों और भावनाओं के साथ छल करना इतना आसान हो सकता है कि हम ऐल्गरिदमों पर उसी तरह भरोसा करने को मजबूर होंगे, जिस तरह चक्कर के दौरे के शिकार पायलट को अपनी ख़ुद की इन्द्रियों की बात को नज़रअन्दाज़ करना और अपना सारा भरोसा कल-पुर्ज़ों पर केन्द्रित करना अनिवार्य हो जाता है।

कुछ मुल्कों और कुछ परिस्थितियों में यह भी मुमकिन है कि लोगों को कोई विकल्प ही न दिए जाएँ, और वे बिग डेटा ऐल्गरिदमों के फ़ैसलों को मानने को बाध्य हों, लेकिन कथित रूप से मुक्त समाजों में भी, ऐल्गरिदम प्रभुत्व हासिल कर सकते हैं, क्योंकि हम अपने अनुभव के आधार पर उन पर ज़्यादा-से-ज़्यादा मुद्दों पर भरोसा करना सीखते जाएँगे, और धीरे-धीरे अपने फ़ैसले स्वयं लेने की क़ाबिलियत खोते जाएँगे। ज़रा सोचिए कि किस तरह मात्र दो दशकों के भीतर अरबों लोगों ने गूगल सर्च ऐल्गरिदम को एक सबसे महत्त्वपूर्ण काम की ज़िम्मेदारी सौंप दी : प्रासंगिक और विश्वसनीय जानकारी की खोज की ज़िम्मेदारी। अब हम जानकारी नहीं खोजते। इसकी बजाय, हम गूगल करते हैं। और जैसे-जैसे जवाबों के लिए गूगल पर हमारा भरोसा बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे स्वयं जानकारी तलाशने की हमारी क़ाबिलियत ख़त्म होती जाती है। आज पहले ही यह स्थिति बन चुकी है कि 'सत्य' गूगल सर्च के शीर्षस्थ परिणामों से परिभाषित होने लगा है।

यह शारीरिक क्षमताओं के साथ भी होने लगा है, जैसे कि रास्ता ढूँढने के मामले में। लोग गूगल से आग्रह करते हैं कि वह उनको रास्ता दिखाए। जब वे किसी चौराहे पर पहुँचते हैं, तो उनका मन उनसे 'बाएँ मुड़ने' को कह सकता है, लेकिन गूगल मैप्स कहता है 'दाएँ मुड़िए'। पहले वे अपने मन की बात ही सुनते हैं, बाएँ मुड़ते हैं, ट्रैफ़िक जाम में फँस जाते हैं, और एक महत्त्वपूर्ण बैठक में नहीं पहुँच पाते। अगली बार वे गूगल की सुनते हैं, दाएँ मुड़ते हैं, और वक़्त पर अपने गन्तव्य पर पहुँच जाते हैं। वे अपने इस अनुभव से गूगल पर भरोसा करना सीखते हैं। एक या दो साल के भीतर गूगल मैप्स उनसे जो कुछ भी कहता है, उस पर वे आँख बन्द कर भरोसा करने लगते हैं, और अगर उनका स्मार्टफ़ोन काम नहीं करता, तो उनको कुछ नहीं सूझता।

मार्च 2012 में ऑस्ट्रेलिया में तीन जापानी पर्यटकों ने समुद्र-तट से दूर एक छोटे-से द्वीप पर एक दिन की सैर करने का निर्णय लिया, और अपनी कार सीधे प्रशान्त महासागर में घुसा दी। यूज़ु नोडा नामक इक्कीस साल की ड्राइवर ने बाद में बताया कि उसने तो सिर्फ़ जीपीएस (गूगल पोजीशनिंग सिस्टम) के निर्देशों का पालन किया था और "उसने हमसे कहा था कि हम वहाँ ड्राइव कर सकते हैं। वह हमसे कहता रहा कि वह हमें एक सड़क पर ले जाएगा। हम फँस गए।" इसी तरह की कई घटनाएँ हुई हैं, जिनमें लोगों ने स्पष्ट तौर पर जीपीएस के निर्देशों का पालन करते हुए किसी तालाब में कार घुसा दी, या

किसी टूटे पुल से नीचे जा गिरे। रास्ता ढूँढने की क़ाबिलियत एक मांसपेशी की तरह है - उसका इस्तेमाल करिये या उसे खो दीजिए। यही बात जीवन-साथियों या व्यवसायों के चयन पर भी लागू होती है।

हर साल लाखों नौजवानों को यह निर्णय लेने की ज़रूरत पड़ती है कि वे विश्वविद्यालय में जाकर क्या पढ़ें। यह बहुत अहम और बहुत मुश्किल सवाल होता है। आपके ऊपर आपके अभिभावकों, आपके दोस्तों और आपके अध्यापकों का दबाव होता है। आपकी अपनी जानी-मानी आशंकाएँ और दिवास्वप्न भी होते हैं, जिनसे आपको निपटना होता है। आपका विवेक हॉलीवुड की लोकप्रिय फ़िल्मों, घटिया उपन्यासों, और विज्ञापन की परिष्कृत मुहिमों से भ्रमित होता है। कोई अक़्लमन्द फ़ैसला लेना, ख़ासतौर से इसलिए भी मुश्किल होता है, क्योंकि आपको वाक़ई पता नहीं होता कि विभिन्न व्यवसायों में कामयाबी की क्या कुंजियाँ होती हैं, और ज़रूरी नहीं कि आपके पास आपकी अपनी क्षमताओं और कमज़ोरियों की कोई वास्तविक तसवीर हो। एक वकील के रूप में कामयाब होने के लिए किस तरह की दक्षता ज़रूरी है? मैं दबाव की परिस्थिति में किस तरह काम कर सकता हूँ? क्या मैं एक अच्छा टीम-वर्कर हूँ?

एक छात्रा क़ानून की पढ़ाई शुरू कर सकती है, क्योंकि उसके पास उसकी अपनी दक्षताओं की एक ग़लत तसवीर, और इस बात को लेकर उससे भी ज़्यादा विकृत दृष्टिकोण है कि वकील होने के वास्तविक निहितार्थ क्या हैं (आपको सारे दिन सिर्फ़ नाटकीय दलीलें देते हुए 'ऑब्जेक्शन, यॉर ऑनर!' ही नहीं चिल्लाते रहना होता)। इस बीच, उसकी सहेली अपने बचपन का एक ख़्वाब पूरा करने की कोशिश करती हुई पेशेवर बैले नृत्य का अध्ययन करने का फ़ैसला करती है, बावजूद इसके कि उसके पास इसके लिए आवश्यक हड्डियों की बनावट या अनुशासन का अभाव होता है। वर्षों बाद, दोनों को अपने इन फ़ैसला को लेकर गहरा पछतावा होता है। भविष्य में हम अपने बारे में ऐसे फ़ैसलों के लिए गूगल पर निर्भर कर सकते हैं। गूगल मुझे बता सकता है कि लॉ स्कूल में, या बैले स्कूल में मैं अपना वक़्त बर्बाद कर रही होऊँगी - लेकिन मैं एक कमाल की (और बहुत सुखी) मनोवैज्ञानिक या प्लम्बर बन सकती हूँ।

जैसे ही एआई हमारे व्यवसाय और सम्भवतः हमारे रिश्तों के सन्दर्भ में हमसे बेहतर निर्णय लेने लगेगा, मानवता और जीवन की हमारी अवधारणा को बदलना ज़रूरी हो जाएगा। मनुष्य जीवन को निर्णय-प्रक्रिया के नाटक के रूप में देखते रहे हैं। उदार लोकतन्त्र और मुक्त बाज़ार पूँजीवाद व्यक्ति को दुनिया के बारे में निरन्तर विकल्पों का चयन करते एक स्वायत्त कारक के रूप में देखते हैं। कलाकृतियाँ - वे चाहे शेक्सपियर के नाटक हों, जेन ऑस्टीन के उपन्यास हों, या हॉलीवुड की सस्ती कॉमेडियाँ हों - आमतौर पर एक ऐसे मुख्य किरदार के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती हैं जिसे कोई अहम फ़ैसला लेना होता है। जिऊँ या मरूँ? अपनी बीवी की बात सुनूँ और किंग डंकन का क़त्ल कर दूँ, या

अपने अन्तःकरण की आवाज़ सुनूँ और उसको बख़्श दूँ? मिस्टर कॉलिन से शादी करूँ या मिस्टर डेर्सी से? ईसाई और मुस्लिम धर्मशास्त्र भी इसी तरह निर्णय-प्रक्रिया के नाटक पर ध्यान केन्द्रित करते हुए यह तर्क देते हैं कि शाश्वत मुक्ति या नर्क उचित विकल्प का चयन करने पर निर्भर करते हैं।

इस जीवन-दृष्टि का उस वक़्त क्या हश्र होगा, जब हम अपने निर्णयों को लेकर उत्तरोत्तर एआई पर निर्भर होते चले जाएँगे? फ़िलहाल हम फ़िल्मों की सिफ़ारिश के लिए नैटफ़्लिक्स, दाएँ या बाएँ मुड़ने के चयन के लिए गूगल मैप्स पर भरोसा करते हैं, लेकिन जैसे ही हम एआई पर इस तरह के फ़ैसलों के लिए निर्भर करने लगेंगे कि क्या पढ़ाई करें, कहाँ काम करें, और किससे शादी करें, वैसे ही मानव-जीवन निर्णय-प्रक्रिया का नाटक नहीं रह जाएगा। लोकतान्त्रिक चुनावों और मुक्त बाज़ारों का कोई ख़ास अर्थ नहीं रह जाएगा। यही हाल ज़्यादातर मज़हबों और कलाकृतियों का होगा। ज़रा उस अन्ना कैरेनिना की कल्पना कीजिए, जो अपना स्मार्टफ़ोन निकालकर फ़ेसबुक ऐल्गरिदम से यह पूछ रही होगी कि उसको कैरेनिन से शादी करनी चाहिए या जोशीले काउंट व्रोन्स्की के साथ भाग जाना चाहिए। या शेक्सपियर द्वारा लिखे गए आपके प्रिय नाटक की कल्पना कीजिए, जिसमें सारे अहम फ़ैसले गूगल ऐल्गारिदम द्वारा लिए जा रहे हों। हैमलेट और मैकबेथ के जीवन कहीं ज़्यादा आरामदेह होंगे, लेकिन ये जीवन किस तरह के होंगे? क्या हमारे पास इस तरह के जीवन के अर्थ को समझने के कोई मॉडल हैं?

जैसे ही प्रभुत्व मनुष्यों के हाथों से फ़िसलकर ऐल्गरिदमों के हाथ में आ जाएगा, वैसे ही हम दुनिया को सही विकल्पों को चुनने का संघर्ष करते स्वायत्त व्यक्तियों के क्रीड़ा-स्थल के रूप में नहीं देख पाएँगे। इसकी बजाय हम समूची सृष्टि को डेटा के प्रवाह के रूप में समझने लग सकते हैं, जीवों को जैवरासायनिक ऐल्गरिदमों से थोड़े-से बेहतर रूप में देखने लग सकते हैं, और यह विश्वास करने लग सकते हैं कि मनुष्यता का ब्रह्माण्डीय उद्यम एक सर्वव्यापी डेटा-प्रॉसेसिंग प्रणाली को रचना और उसमें विलीन हो जाना है। पहले से ही आज हम एक ऐसी भीमकाय डेटा-प्रॉसेसिंग प्रणाली के भीतर की एक छोटी-सी चिप बनते जा रहे हैं, जिसको वास्तव में कोई नहीं समझता। सारे दिन मैं ई-मेलों, ट्वीटों और लेखों के मार्फ़त अन्तहीन डेटा बिट ग्रहण करता हूँ, डेटा प्रॉसेस करता हूँ, तथा और भी ई-मेलों, ट्वीटों तथा लेखों की मार्फ़त नए बिट प्रेशित करता हूँ। मैं सचमुच नहीं जानता कि सृष्टि की इस महान योजना में मेरी सही जगह कहाँ पर है, और डेटा के मेरे बिट अरबों दूसरे मनुष्यों और कम्प्यूटरों द्वारा उत्पन्न किए जा रहे बिट्स से किस तरह रिश्ता बनाते हैं। यह सब पता लगाने का समय मेरे पास नहीं है, क्योंकि मैं इन सारे ई-मेलों का जवाब देने में ही बहुत व्यस्त हूँ।

दार्शनिक कार

लोग आपत्ति उठा सकते हैं कि ऐल्गरिदम हमारे महत्त्वपूर्ण निर्णय कभी नहीं ले सकते, क्योंकि महत्त्वपूर्ण निर्णयों में आमतौर पर एक नैतिक आयाम शामिल होता है, और ऐल्गरिदम नैतिकी की समझ नहीं रखते, लेकिन ऐसा मानकर चलने की कोई वज़ह नहीं है कि ऐल्गरिदम नैतिकी के क्षेत्र में भी मनुष्यों को मात देने में सक्षम नहीं हो पाएँगे। आज पहले ही यह स्थिति है कि जब स्मार्टफ़ोन और स्वचालित वाहन जैसे उपकरण उन निर्णयों को अपने हाथों में लेते हैं, जिन पर मनुष्य का एकाधिकार हुआ करता था, तो वे उसी तरह की नैतिक समस्याओं का सामना करते हैं, जो मनुष्यों को हज़ारों सालों से सताती रही हैं।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि एक गेंद का पीछा करते दो बच्चे एक स्वचालित कार के सामने कूद पड़ते हैं। इस कार को ड्राइव कर रहा ऐल्गरिदम बिजली की रफ़्तार के साथ किए जाते अपने आकलन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालता है कि इन दो बच्चों को टक्कर मारने से बचने का एकमात्र तरीक़ा विपरीत लेन में मुड़ जाना, और सामने से आते ट्रक से टकरा जाना है। ऐल्गरिदम आकलन करता है कि ऐसे मामलों में इस तरह की 70 % सम्भावना होती है कि पिछली सीट पर गहरी नींद में सोया कार का मालिक मारा जाए। तब ऐल्गरिदम को क्या करना चाहए?

दार्शनिक इस तरह की नैतिक दुविधाओं से सम्बन्धित समस्याओं ('ट्रॉली प्रॉब्लम्स') के बारे में हज़ारों सालों से बहस करते आ रहे हैं (इनको 'ट्राली प्रॉब्लम्स' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि आधुनिक दार्शनिक बहसों में पाठ्यपुस्तकीय उदाहरण किसी स्वचालित कार की बजाय रेल की पटरी के समानान्तर भागती एक ट्रॉली कार का उदाहरण दिया जाता है)। अब तक इन तर्कों का वास्तविक आचरण पर शर्मनाक ढंग से बहुत कम प्रभाव पड़ा है, क्योंकि संकट की घड़ियों में मनुष्य ज़्यादातर अपने दार्शनिक दृष्टिकोणों को भूल जाते हैं और अपने जज़्बातों और सहज प्रवृत्तियों के मुताबिक़ आचरण करते हैं।

सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में इतिहास का सबसे भयानक प्रयोग दिसम्बर 1970 में प्रिन्स्टन थियोलॉजिकल सेमिनरी (यहूदी पुरोहितों की पाठशाला) के छात्रों के समूह पर किया गया था, जिनको प्रेसबाइटेरियन चर्च के पादरी बनने का प्रशिक्षण दिया जा रहा था। प्रत्येक छात्र से जल्दी से दूर स्थित एक व्याख्यान-कक्ष में जाकर भले समेरिटन की उस नीतिकथा पर एक व्याख्यान देने को कहा गया, जिसमें बताया गया है कि किस तरह यरुशलम से जेरिको के सफ़र पर जाते हुए एक यहूदी को अपराधियों द्वारा लूटा और पीटा गया था, और इसके बाद उसको सड़क किनारे मरने के लिए छोड़ दिया गया था।

इस घटना के कुछ देर बाद एक यहूदी पुरोहित और उसका एक सहयोगी (लीवाइट) वहाँ से गुज़रे, लेकिन दोनों ने ही उस आदमी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत, जब एक समेरिटन - उस पन्थ का एक सदस्य, जिससे यहूदी बहुत घृणा करते हैं

- वहाँ से गुज़रा, तो वह इस असहाय आदमी को देखकर रुक गया, उसने उसकी सेवा की और उसकी जान बचाई। इस नीति-कथा का सन्देश यह है कि लोगों की अच्छाई का आकलन इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए कि वे किस मज़हब से जुड़े हैं, बल्कि उनके वास्तविक आचरण के आधार पर किया जाना चाहिए।

सेमिनरी के वे नौजवान छात्र भले समेरिटन की इस नीति-कथा में निहित नैतिक सन्देश की व्याख्या के सबसे अच्छे ढंग पर रास्तेभर विचार करते हुए उस व्याख्यान-कक्ष की ओर भागे जा रहे थे, लेकिन प्रयोग करने वालों ने उनकी राह में चिथड़े पहने एक आदमी को जानबूझकर छोड़ दिया, जो एक दरवाज़े पर कन्धे झुकाए, सिर नीचा किए और आँखें बन्द किए बैठा था। जैसे ही इस चाल से अनजान सेमिनरी का हरेक छात्र उसके पास से तेज़ी-से गुज़रता, वह 'असहाय' व्यक्ति दयनीय ढंग से खाँसने और कराहने लगता। ज़्यादातर छात्र तो उस आदमी की मदद करना तो दूर, उससे यह पूछने के लिए रुके तक नहीं कि उसको क्या तकलीफ़ थी। व्याख्यान-कक्ष की ओर भागने की हड़बड़ी ने उन छात्रों में जो भावनात्मक तनाव पैदा कर दिया था, वह तनाव असहाय अजनबियों की मदद करने की उनकी ज़िम्मेदारी पर भारी पड़ा।

ऐसी असंख्य परिस्थितियों में मानवीय भावनाएँ दार्शनिक सिद्धान्तों पर भारी पड़ती हैं। यह चीज़ दुनिया के नैतिक और दार्शनिक इतिहास को अवसाद से भर देने वाला एक ऐसा क़िस्सा बना देती है, जो अद्भुत आदर्शों और न्यूनतम आदर्श आचरण से युक्त है। कितने ईसाई हैं, जो सचमुच अपना दूसरा गाल आगे कर देते हैं, बौद्ध धर्म के कितने ऐसे अनुयायी हैं, जो अपनी अहंकारी मानसिकता से सचमुच ऊपर उठ पाते हैं, और कितने ऐसे यहूदी हैं, जो अपने पड़ोसियों को सचमुच उतना ही प्यार करते है, जितना वे ख़ुद को करते हैं? प्राकृतिक वरण (नेचुरल सिलेक्शन) ने *होमो सेपियन्स* को इसी तरह ढाला है। तमाम स्तनधारियों की ही तरह *होमो सेपियन्स* भी जीवन और मृत्यु के बारे में फ़ुर्ती-से फ़ैसले लेने के लिए भावनाओं का इस्तेमाल करते हैं। अपने क्रोध, अपने भय और अपनी वासना को हमने अपने उन लाखों पूर्वजों से विरासत में पाया है, जिन सबने प्राकृतिक वरण की गुणवत्ता-नियन्त्रण की कठिनतम परीक्षाओं को पास किया है।

बदक़िस्मती से, जो चीज़ दस लाख साल पहले अफ़्रीकी घास के मैदानों में जीवित बने रहने और प्रजनन करते रहने के लिए सही हुआ करती थी, वह ज़रूरी नहीं कि इक्कीसवीं सदी के मोटरमार्गों पर ज़िम्मेदार आचरण के लिए सही हो। असावधान, नाराज़ और बेचैन इंसानी ड्राइवर यातायात दुर्घटनाओं में हर साल दस लाख से ज़्यादा लोगों को मार डालते हैं। हम इन ड्राइवरों को नैतिकता का उपदेश देने के लिए अपने सारे दार्शनिकों, पैग़म्बरों और पुरोहितों को भेज सकते हैं, लेकिन सड़कों पर तब भी स्तनपायी भावनाएँ (मेमेलियन इमोशन्स) और घास के मैदानों की सहज प्रवृत्तियाँ आगे निकल जाती हैं। नतीजतन,

इसीलिए हड़बड़ी में भागते सेमिनरी के छात्र पीड़ित लोगों की उपेक्षा करते रहेंगे, और ड्राइवर असहाय पैदलों को कुचलते हुए निकल जाएँगे।

सेमिनरी और सड़क के बीच का अलगाव नीतिशास्त्र की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक है। इमानुएल कांट, जॉन स्टुअर्ट मिल और जॉन रॉल्स किसी विश्वविद्यालय के आरामदायक कक्ष में बैठकर कई दिनों तक नैतिकी की सैद्धान्तिक समस्याओं पर चर्चा कर सकते हैं, लेकिन क्या उनकी इन चर्चाओं के निष्कर्षों को क्षणिक आकस्मिकता में फँसे तनावग्रस्त ड्राइवरों द्वारा क्रियान्वित किया जाएगा? शायद माइकल शूमाकर (फ़ार्मूला वन चैम्पियन, जिनको इतिहास का श्रेष्ठतम ड्राइवर माना जाता है) में कार को दौड़ाते वक़्त दर्शनशास्त्र के बारे में सोचने की क़ाबिलियत रही हो, लेकिन हम में से ज़्यादातर लोग शूमाकर नहीं हैं।

लेकिन कम्प्यूटर ऐल्गरिदमों को प्राकृतिक वरण के हाथों नहीं गढ़ा गया है, और उनमें न तो जज़्बात होते हैं, न ही सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं। इसलिए संकट की घड़ियों में वे नैतिक दिशा-निर्देशों का पालन मनुष्यों से बेहतर ढंग से कर सकते हैं, बशर्ते कि हम ऐसा कोई तरीक़ा ढूँढ लें, जिसकी मदद से नैतिकी को सटीक संख्याओं और सांख्यिकी के संकेतों में कूटबद्ध किया जा सके। अगर हम कांट, मिल और रॉल्स से ये कूट लिखने को कहें, तो वे अपनी आरामदेह प्रयोगशालाओं में सावधानी के साथ स्वचालित कारों को प्रोग्राम कर सकते हैं, और इस बारे में निश्चिन्त हो सकते हैं कि वह कार हाइवे पर उनके निर्देशों का पालन करेगी। जिसका मतलब व्यावहारिक अर्थ में यह होगा कि हर कार संयुक्त रूप से माइकल शूमाकर और इमानुएल कांट द्वारा चलाई जा रही होगी।

इस तरह अगर आप एक स्वचालित कार को इस तरह के निर्देशों से लैस कर सकें कि वह रुक कर पीड़ित अजनबियों की मदद करे, तो वह किसी भी तरह की मुश्किल के बावजूद ऐसा करेगी (बेशक, तभी जब आपने उसमें मुश्किल परिस्थितियों के लिए अपवाद की कोई शर्त न डाली हो)। इसी तरह, अगर आपकी स्वचालित कार रास्ते के दो बच्चों को बचाने के लिए विपरीत लेन में मुड़ने के निर्देश से लैस है, तो आप पक्के तौर पर कह सकते हैं कि वह वैसा ही करेगी। जिसका मतलब है कि अपनी स्वचालित कारों को गढ़ते समय टोयोटा या टेस्ला नैतिकी के दर्शन की सैद्धान्तिक समस्या को इंजीनियरिंग की व्यावहारिक समस्या में बदल रही होंगी।

मान लिया कि इस तरह के दार्शनिक ऐल्गरिदम कभी अचूक नहीं होंगे। चूकें तब भी होंगी, जिनके नतीजे ज़ख़्मों, मौतों और बेहद जटिल क़िस्म के मुक़दमों के रूप में सामने आएँगे। (इतिहास में पहली बार, आप किसी दार्शनिक के सिद्धान्तों के दुर्भाग्यपूर्ण नतीजों के लिए उसकी नालिश कर सकेंगे, क्योंकि इतिहास में पहली बार आप दार्शनिक विचारों और वास्तविक जीवन की घटनाओं के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध को साबित कर पाएँगे।) लेकिन, इंसानी ड्राइवरों की ज़िम्मेदारी सँभालने के लिए ऐल्गरिदमों को अचूक होना

ज़रूरी नहीं होगा। उनको सिर्फ़ इंसानों से बेहतर होना भर आवश्यक होगा। इस तथ्य को देखते हुए कि इंसानी ड्राइवर हर साल दस लाख से ज़्यादा लोगों की जानें ले लेते हैं, यह कोई मुश्किल काम नहीं है। सब कुछ पर विचार करने के बाद, आप अपने आगे की कार के सन्दर्भ में क्या पसन्द करेंगे - क्या यह कि उसे नशे में धुत्त कोई किशोर चला रहा हो, या यह कि उसको शूमाकर-कांट की टीम संचालित कर रही हो?

यही तर्क सिर्फ़ ड्राइविंग पर नहीं, बल्कि दूसरी परिस्थितियों पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिए रोज़गार के आवेदनों को ही ले लें। इक्कीसवीं सदी में, किसी व्यक्ति को नौकरी पर रखने या न रखने का निर्णय उत्तरोत्तर ऐल्गरिदमों द्वारा लिया जाने लगेगा। हम प्रासंगिक नैतिक मानदण्ड स्थापित करने के लिए मशीन पर भरोसा नहीं कर सकते - यह काम करने के लिए मनुष्यों की ज़रूरत बनी रहेगी, लेकिन जैसे ही हम रोज़गार के क्षेत्र में कोई नैतिक मानदण्ड तय कर लेते हैं - जैसे यह कि अश्वेतों या स्त्रियों के प्रति भेदभाव बरतना ग़लत है - वैसे ही हम इस मानदण्ड को बेहतर ढंग से क्रियान्वित करने के मामले में इंसानों से ज़्यादा मशीनों पर भरोसा कर सकते हैं।

एक इंसानी मैनेजर को यह बात मालूम हो सकती है और वह इस पर सहमत भी हो सकता है कि अश्वेतों और स्त्रियों के प्रति भेदभाव बरतना अनैतिक है, लेकिन फिर, जब कोई एक अश्वेत स्त्री नौकरी के लिए आवेदन करती है, तो वह मैनेजर अवचेतन रूप से उसके प्रति भेदभाव बरतता है, और उसको नौकरी पर न रखने का निर्णय लेता है। अगर हम एक कम्प्यूटर को रोज़गार सम्बन्धी आवेदनों का मूल्यांकन करने की छूट दें, और उस कम्प्यूटर को नस्ल और लिंग की पूरी तरह से उपेक्षा करने के निर्देशों से लैस कर दें, तो हम पक्के तौर पर मानकर चल सकते हैं कि कम्प्यूटर निश्चय ही इन तथ्यों की उपेक्षा करेगा, क्योंकि कम्प्यूटरों का कोई अवचेतन नहीं होता। बेशक, रोज़गार आवेदनों का मूल्यांकन करने के लिए कोड लिखना आसान नहीं होगा, और यह ख़तरा हमेशा बना रहेगा कि इंजीनियर किसी न किसी तरह उस सॉफ़्टवेयर को अपने अवचेतन पूर्वाग्रहों से लैस कर देंगे। लेकिन जैसे ही हमें इस चूक का पता चल जाएगा, तो मनुष्यों को उनके नस्लपरक और स्त्रीद्वेषी पूर्वाग्रहों से छुटकारा दिलाने की बजाय उस सॉफ़्टवेयर की उस चूक को हटा देना ज़्यादा आसान होगा।

हमने देखा कि आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस ज़्यादातर मनुष्यों को रोज़गार की दुनिया से बाहर धकेल सकता है, जिनमें ड्राइवर और यातायात पुलिस शामिल होगी (जब उपद्रवी मनुष्यों की जगह आज्ञाकारी ऐल्गरिदम ले लेंगे, तो यातायात पुलिस फ़ालतू हो जाएगी), लेकिन, दार्शनिकों के लिए रोज़गार के कुछ नए अवसर पैदा हो जाएँगे, क्योंकि उनकी दक्षताओं की - जो अब तक किसी ख़ास बाज़ार-मूल्य से वंचित थीं - अचानक बहुत ज़्यादा माँग होने लगेगी। इसलिए अगर आप किसी ऐसे विषय का अध्ययन करना चाहते

हैं, जो भविष्य में अच्छे रोज़गार की गारंटी देता हो, तो दर्शनशास्त्र पर यह दाँव लगाना ज़्यादा बुरा नहीं होगा।

बेशक, कार्रवाई की सही दिशा को लेकर दार्शनिक बमुश्किल ही एकमत होते हैं। ऐसी बहुत थोड़ी-सी 'ट्रॉली प्राब्लम्स' हैं, जिनके समाधान से सारे दार्शनिक सन्तुष्ट हों, और जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे परिणामवादी चिन्तक (जो किसी कृत्य के औचित्य को उसके परिणामों के आधार पर परखते हैं) इमानुएल कांट जैसे कारणवादियों (जो कृत्यों को परम मूल्यों के आधार पर परखते हैं) से नितान्त भिन्न राय रखते हैं। क्या टेस्ला किसी कार का उत्पादन करने के लिए इस तरह के पेचीदा मसलों पर विचार करेगी?

ख़ैर, हो सकता है टेस्ला इसे बाज़ार पर छोड़ दे। टेस्ला स्वचालित कारों के दो मॉडल तैयार करेगी : टेस्ला परोपकारी (टेस्ला अल्ट्रूइस्ट) और टेस्ला आत्मोपकारी (टेस्ला इगोइस्ट)। संकट की परिस्थिति में टेस्ला परोपकारी एक महान ध्येय की ख़ातिर अपने मालिक की बलि दे देगी, जबकि आत्मोपकारी अपने मालिक की रक्षा में पूरी ताक़त झोंक देगी, भले ही इसके लिए उसे उन दो बच्चों की जान ही क्यों न लेनी पड़े। इसके बाद ग्राहक ख़ुद उस मॉडल को खरीदेंगे, जो उनके प्रिय दार्शनिक दृष्टिकोण से सबसे अच्छी तरह से मेल खाता होगा। अगर ज़्यादा लोग टेस्ला आत्मोपकारी को ख़रीदते हैं, तो इसके लिए आप टेस्ला को दोषी नहीं ठहरा सकेंगे। आख़िरकार ग्राहक हमेशा सही होता है।

यह मज़ाक़ नहीं है। 2015 के एक अग्रगामी अध्ययन के तहत लोगों के सामने एक काल्पनिक परिस्थिति पेश की गई, जिसके तहत एक स्वचालित कार कई पैदल चलने वालों को कुचल डालने वाली थी। ज़्यादातर लोगों का कहना था कि इस तरह की परिस्थिति में कार को अपने मालिक के मारे जाने की क़ीमत पर भी पैदल चलने वालों को बचाना चाहिए। जब उनसे पूछा गया कि क्या वे स्वयं ऐसी कार ख़रीदना चाहेंगे, जो एक महान ध्येय की ख़ातिर अपने मालिक की बलि देने के निर्देश से लैस हो, तो ज़्यादातर लोगों ने इंकार कर दिया। अपने लिए वे टेस्ला आत्मोपकारी ख़रीदना चाहेंगे।

ज़रा इस स्थिति की कल्पना कीजिए : आपने एक नई कार ख़रीदी है, लेकिन कार को चालू करने से पहले आपको सेटिंग्स मेन्यू में जाकर उसके कई ख़ानों में से किसी एक ख़ाने पर सही का निशान लगाना अनिवार्य है। क्या आप चाहती हैं कि दुर्घटना की दशा में कार आपकी बलि दे दे, या दूसरे वाहन में सवार परिवार की जान ले ले? क्या आप चुनाव करना भी चाहेंगी? ज़रा उन बहसों के बारे में सोचिए जो आपको अपने पति के साथ इस मुद्दे पर करना पड़ेंगी कि किस ख़ाने में सही का निशान लगाया जाए।

तब क्या मुमकिन है कि बाज़ार को नियन्त्रित करने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना, और एक ऐसी नैतिक संहिता निर्धारित करना ज़रूरी होगा, जो सारी स्वचालित कारों के लिए बन्धनकारी हो? कुछ क़ानून-निर्माता निश्चय ही अन्ततः ऐसे क़ानून बनाने का अवसर मिलने से रोमांचित होंगे, जिनका हमेशा अक्षरशः पालन किया जाने वाला होगा। दूसरे

क़ानून-निर्माता इस तरह की अपूर्व और सर्वसत्तावादी ज़िम्मेदारी से चौकन्ने हो उठेंगे। आख़िरकार समूचे इतिहास के दौरान क़ानून के क्रियान्वयन की मर्यादाएँ क़ानून-निर्माताओं के पूर्वाग्रहों, चूकों और अत्याचारां पर स्वागत योग्य लगाम लगाती रही हैं। यह बेहद खुशक़िस्मती की बात थी कि समलैंगिकता के ख़िलाफ़ और धर्मद्रोह के ख़िलाफ़ बनाए गए क़ानूनों को, आंशिक रूप से ही, अमल में लाया गया। क्या हमें वास्तव में एक ऐसी व्यवस्था की ज़रूरत है, जिसमें राजनेताओं के निर्णय गुरुत्वाकर्षण की तरह अपरिहार्य बने रहें?

डिजिटल तानाशाही

एआई लोगों को अक्सर इसलिए भयभीत करती है, क्योंकि उनको एआई के आज्ञाकारी बने रहने का भरोसा नहीं होता। हमने ऐसी बहुत-सी साइंस-फ़िक्शन फ़िल्में देख रखी हैं, जिनमें रोबोट अपने इंसानी मालिकों के ख़िलाफ़ विद्रोह कर उठते हैं और बेक़ाबू होकर सड़कों पर भागते हुए हर किसी को मार डालते हैं, लेकिन रोबोटों के साथ वास्तविक समस्या इसके ठीक विपरीत है। हमें उनसे इसलिए डरना चाहिए कि वे सम्भवतः हमेशा अपने मालिकों की आज्ञा मानेंगे और कभी विद्रोह नहीं करेंगे।

बेशक, आँख मूँदकर आज्ञा मानते रहने में तब तक कोई बुराई नहीं है, जब तक रोबोट भले और दयालु मालिकों की सेवा में लगे रहें। यहाँ तक कि युद्ध में भी हत्यारे रोबोटों पर भरोसा इस बात को सुनिश्चित कर सकता है कि इतिहास में पहली बार युद्ध के मैदान में युद्ध के नियमों का पालन किया जाएगा। इंसानी सैनिक कभी-कभी युद्ध के नियमों का उल्लंघन कर हत्या, लूटपाट और बलात्कार करने की अपनी भावनाओं के वशीभूत हो जाते हैं। हम आमतौर पर भावनाओं को करुणा, प्रेम को सहानुभूति से जोड़कर देखते हैं, लेकिन युद्ध के समय जो भावनाएँ नियन्त्रण करने लगती हैं, वे अक्सर भय, घृणा और क्रूरता की होती हैं। चूँकि रोबोटों में कोई भावनाएँ नहीं होतीं, उन पर हमेशा भरोसा किया जा सकता है कि वे सैन्य संहिताओं के शुष्क शब्दों से दृढ़तापूर्वक चिपके रहेंगे, और निजी भयों और घृणाओं से परिचालित नहीं होंगे।

16 मार्च 1968 को अमेरिकी सैनिकों की एक टुकड़ी आवेश में भरकर वियतनामी गाँव माई लाई में घुसी और उसने 400 नागरिकों की सामूहिक हत्याएँ कर दीं। यह युद्ध-अपराध उन लोगों की स्थानीय पहल का नतीजा था, जो कई महीनों से जंगलों में रहकर गुरिल्ला लड़ाई में लगे थे। इसने कोई रणनीतिक हित पूरा नहीं किया, और संयुक्त राज्य अमेरिका की विधिसंहिता तथा सैन्य नीति, दोनों का उल्लंघन किया। यह इंसानी जज़्बातों

की ग़लती थी। अगर संयुक्त राज्य अमेरिका ने वियतनाम में मारक रोबोट तैनात किए होते, तो माई लाई का जनसंहार कभी न हुआ होता।

तब भी, इसके पहले कि हम मारक रोबोटों को गढ़ने और उनको तैनात करने की हड़बड़ी मचाएँ, हमें ख़ुद को यह याद दिलाना ज़रूरी है कि रोबोट हमेशा अपने कोडों के गुणों को प्रकट करते हैं और उनको विस्तार देते हैं। अगर कोड संयमित और दयालु हुआ, तो रोबोट सम्भवतः औसत इंसानी सैनिक के मुक़ाबले बहुत बड़ा सुधार होगा, लेकिन अगर वह कोड बेरहम और क्रूर हुआ, तो नतीजे विनाशकारी होंगे। रोबोटों के साथ वास्तविक समस्या उनकी ख़ुद की कृत्रिम बुद्धि (आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस) नहीं है, बल्कि उनके मालिकों की कुदरती मूर्खता और क्रूरता है।

जुलाई 1995 में बोसनियाई सर्ब सेनाओं ने स्रेब्रेनिका नगर के क़रीब 8,000 से ज़्यादा मुसलमान बोस्नियाइयों का नरसंहार कर दिया था। माई लाई के बेतरतीब जनसंहार से भिन्न यह स्रेब्रनिका नरसंहार एक विस्तीर्ण और सुव्यवस्थित कार्रवाई थी, जो बोसनिया को मुसलमानों से रिक्त करने की 'प्रजातीय सफ़ाई' (एथनिक क्लीन्सिंग) की बोसनिया की सर्ब नीति को प्रतिबिम्बित करता था। अगर 1995 में बोसनियाई सर्बों के पास मारक रोबोट होते, तो इसने इस क्रूरता को कमतर बनाने की बजाय बदतर बना दिया होता। जो भी आदेश राबोटों को दिए गए होते, उनको अंजाम देने में एक भी रोबेट ज़रा भी न हिचकिचाया होता, और उसने करुणा, अरुचि, या महज़ सुस्ती की वज़ह से एक भी मुसलमान को न छोड़ा होता।

इस तरह के मारक रोबोटों से लैस किसी निर्मम तानाशाह को कभी इस बात का भय नहीं सताएगा कि उसके सैनिक उसके ख़िलाफ़ बग़ावत कर देंगे, भले ही उसके आदेश कितने ही निष्ठुर और पागलपन से भरे क्यों न हों। एक रोबोट सेना ने शायद फ़्रांसीसी क्रान्ति का गला 1789 में उसके पालने में घोंट दिया होता, और अगर 2011 में हुस्नी मुबारक के पास मारक रोबोटों की एक टुकड़ी होती, तो उन्होंने बग़ावत के ख़ौफ़ के बिना उनको आबादी पर खुला छोड़ दिया होता। इसी तरह रोबोट की सेना पर भरोसा करने वाली एक साम्राज्यवादी सरकार अलोकप्रिय युद्ध छेड़ सकती है, इस बात की कोई परवाह किए बिना कि इसके रोबोट अपने ध्येय से भटक सकते हैं, या उनके परिवार विरोध-प्रदर्शन कर सकते हैं। अगर संयुक्त राज्य अमेरिका के पास वियतनाम युद्ध के दौरान मारक रोबोट होते, तो माई लाई नरसंहार को रोका जा सकता था, लेकिन स्वयं यह युद्ध कई और सालों तक घिसटता रहता, क्योंकि अमेरिकी सरकार को हतोत्साहित सैनिकों, युद्ध-विरोधी विशाल प्रदर्शनों, या 'युद्ध के ख़िलाफ़ पूर्व रोबोटों' के आन्दोलन को लेकर बहुत थोड़ी-सी चिन्ताएँ होतीं (कुछ अमेरिकी नागरिकों ने तब भी युद्ध का विरोध किया होता, लेकिन सेना में भर्ती कर लिए जाने, व्यक्तिगत रूप से अत्याचारों में शामिल होने की स्मृतियों, या अपने

किसी प्रियजन को खो देने की पीड़ा के अभाव में इन विरोध-प्रदर्शनकारियों की संख्या कम होती और अपने विरोध के प्रति उनकी प्रतिबद्धता कम होती)।

इस तरह की समस्याएँ स्वायत्त असैनिक वाहनों के सन्दर्भ में बहुत कम प्रासंगिकता रखती हैं, क्योंकि कोई भी कार-निर्माता अपने वाहनों को दुर्भावनापूर्ण ढंग से इस तरह लैस नहीं करेगा कि वह लोगों को निशाना बनाकर उनकी जानें ले, लेकिन स्वायत्त हथियार-प्रणालियाँ एक ऐसा सर्वनाश है, जो घटित होने का इन्तज़ार कर रहा है, क्योंकि ऐसी सरकारों की संख्या बहुत ज़्यादा है, जो अगर पूरी तरह से शैतानियत की ओर नहीं, तो नैतिक रूप से भ्रष्ट होने की ओर प्रवृत्त हैं।

ख़तरा हत्यारी मशीनों तक ही सीमित नहीं है। निगरानी-प्रणालियाँ भी उतनी ही जोखिमपूर्ण हो सकती हैं। किसी सौम्य और दयालु सरकार के हाथ में निगरानी करने वाले शक्तिशाली ऐल्गरिदम मानव-जाति की अब तक की श्रेष्ठतम उपलब्धि हो सकते हैं, लेकिन वही बिग डेटा ऐल्गरिदम भविष्य के किसी बिग ब्रॅदर की ताक़त में कुछ इस तरह इज़ाफ़ा कर सकते हैं कि हमारा पाला जॉर्ज ऑरवेल के उपन्यास 1984 की तरह की निगरानी करने वाली किसी ऐसी हुकूमत से पड़ सकता है, जिसमें सारे व्यक्तियों पर सारे समय निगरानी रखी जा रही होगी।

सच तो यह है कि हमारा पाला किसी ऐसी चीज़ से पड़ सकता है, जिसकी कल्पना शायद ऑरवेल भी न कर सके होते : सम्पूर्ण निगरानी रखने वाली एक ऐसी शासन-व्यवस्था, जो न सिर्फ़ हमारी बाहरी गतिविधियों और उच्चारणों पर निगाह रखेगी, बल्कि जो हमारी चमड़ी को भेदकर हमारे अन्दरूनी अनुभवों को भी ताड़ती रह सकती है। उदाहरण के लिए, विचार कर देखिए कि उत्तर कोरिया में किम की शासन-व्यवस्था इस नई प्रौद्योगिकी का किस तरह इस्तेमाल कर सकती है। भविष्य में उत्तर कोरिया के हर नागरिक को एक ऐसा बायोमैट्रिक कड़ा पहनना अनिवार्य हो सकता है, जो आपकी हर करनी और कथनी पर - साथ ही आपके रक्तचाप और मस्तिष्क की गतिविधि पर - निगरानी रखेगा। इंसानी मस्तिष्क की उत्तरोत्तर बढ़ती समझ का इस्तेमाल करते हुए, और मशीन लर्निंग की अपरिमित शक्ति का इस्तेमाल करते हुए उत्तर कोरियाई शासन-व्यवस्था इतिहास में पहली बार इस बात की थाह लेने में सक्षम हो सकती है कि हर नागरिक हर क्षण क्या सोच रहा है। अगर आप किम जोंग-उन की तसवीर की ओर देखेंगे और बायोमैट्रिक सेंसर आपके मन में उठ रहे ग़ुस्से के चुग़लख़ोर संकेतों (उच्च रक्तचाप, ऐमिग्डाल की बढ़ी हुई गतिविधियों) को पकड़ लेते हैं, तो अगली सुबह आप गुलाग में होंगे।

माना कि अपने अलग-थलग पड़े होने की वज़ह से उत्तर कोरियाई हुकूमत को अपने दम पर इस तरह की प्रौद्योगिकी विकसित करने में कठिनाई होगी, लेकिन इस प्रौद्योगिकी की अगुवाई प्रौद्योगिकी में पारंगत दूसरे मुल्कों द्वारा की जा सकती है और उत्तर कोरियाई तथा दूसरी पिछड़ी हुई तानाशाहियों द्वारा उसकी नक़ल की जा सकती है या उसको

आयात किया जा सकता है। चीन और रूस, दोनों ही अपने निगरानी-उपकरणों को निरन्तर उन्नत बनाने में लगे हैं, जिस तरह संयुक्त राज्य अमेरिका से लेकर मेरे अपने मुल्क इज़रायल तक, बहुत-से लोकतान्त्रिक देश भी कर रहे हैं। 'स्टार्ट-अप-नेशन' के उपनाम से प्रसिद्ध इज़रायल का अपना एक अत्यन्त जोशीला उच्च-तकनीकी कार्य-क्षेत्र, और विकास की उच्च अवस्था में पहुँचा हुआ साइबर-सुरक्षा उद्योग है। इसी के साथ-साथ यह फ़िलिस्तीनियों के साथ एक घातक टकराव की स्थिति में भी है, और जैसे ही कम-से-कम इसके कुछ नेताओं, सेनाध्यक्षों और नागरिकों के हाथ में आवश्यक प्रौद्योगिकी आ जाएगी, वे शायद ख़ुशी-ख़ुशी पश्चिमी तट में एक सम्पूर्ण निगरानीपरक हुकूमत खड़ी करके प्रसन्न होंगे।

आज भी जब कभी फ़िलिस्तीनी कोई फ़ोन करते हैं, फ़ेसबुक पर कुछ पोस्ट करते हैं या एक शहर से दूसरे शहर जाते हैं, तो सम्भवतः उन पर इज़रायली माइक्रोफ़ोनों, कैमरों, ड्रोनों या जासूस सॉफ़्टवेयर द्वारा निगाह रखी जाती है। इसके बाद इस निगरानी से एकत्र सूचना का बिग डेटा ऐल्गरिदमों की मदद से विश्लेषण किया जाता है। इससे इज़रायल के सुरक्षा बलों को ढेरों सैनिकों को तैनात किए बिना ही सम्भावित ख़तरों का ठीक-ठीक पता लगाने और बेअसर करने में मदद मिलती है। फ़िलिस्तीनियों का पश्चिमी तट के कुछ नगरों और गाँवों पर शासन हो सकता है, लेकिन इज़रायलियों का नियन्त्रण आकाश, हवाई मार्गों और साइबरस्पेस पर है। इसीलिए पश्चिमी तट के लगभग 2.5 लाख फ़िलिस्तीनियों को कारगर ढंग से नियन्त्रित करने में आश्चर्यजनक रूप से बहुत थोड़े-से सैनिकों की ज़रूरत पड़ती है।

अक्टूबर 2017 की एक त्रासद-हास्यास्पद घटना के तहत एक फ़िलिस्तीनी मज़दूर ने अपने निजी फ़ेसबुक एकाउंट पर एक बुल्डोज़र के साथ अपनी एक तसवीर पोस्ट की थी, जिसमें वह अपने कार्यस्थल पर काम करते हुए दर्शाया गया था। इस तसवीर के साथ उसने 'गुड मॉर्निंग!' लिखा था। एक स्वचालित ऐल्गरिदम ने अरबी भाषा के अक्षरों का लिप्यान्तरण करते हुए एक छोटी-सी ग़लती कर दी। इस ऐल्गरिदम ने इन अक्षरों को Ysabechhum !' (जिसका मतलब 'गुड मॉर्निंग' होता है) की जगह Ydbachhum !' (जिसका मतलब 'उनको चोट पहुँचाओ' होता है) के रूप में पहचाना। इज़रायली सुरक्षा बलों को सन्देह हुआ कि वह आदमी आतंकवादी है, जो लोगों पर बुल्डोज़र चलाना चाहता है, और इसलिए उन्होंने उसको तुरन्त गिरफ़्तार कर लिया। बाद में जब उनको ऐल्गरिदम की चूक का अहसास हुआ, तब उसको छोड़ा गया, लेकिन उस आक्रमक फ़ेसबुक पोस्ट को तब भी हटा दिया गया। भले ही ज़रूरी न हो, लेकिन सावधान तो रहना चाहिए। फ़िलिस्तीनी आज पश्चिमी तट में जो भोग रहे हैं, वह उस हालत का महज़ एक प्राथमिक पूर्वप्रदर्शन साबित हो सकता है, जिसे अन्ततः अरबों लोग समूचे ग्रह पर भोगेंगे।

बीसवीं सदी के बाद के दिनों में लोकतन्त्रें ने आमतौर पर तानाशाहियों को मात दे दी थी, क्योंकि लोकतन्त्र डेटा-प्रॉसेसिंग के मामले में बेहतर थे। लोकतन्त्र सूचना को प्रॉसेस करने और निर्णय लेने की शक्ति को बहुत-से लोगों और संस्थाओं के बीच छितरा देता है, जबकि तानाशाही सूचना और सत्ता को एक जगह पर जमा करके रखती है। बीसवीं सदी की प्रौद्योगिकी को देखते हुए बहुत अधिक सूचना और सत्ता को एक जगह पर जमा करके रखना कारगर नहीं था। इतनी क्षमता किसी में नहीं थी कि वह सारी की सारी सूचना को पर्याप्त तेज़ी के साथ प्रॉसेस कर पाता और निर्णय ले पाता। यही वज़ह थी, जिससे सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में बदतर फ़ैसले लिए, और क्यों सोवियत अर्थव्यवस्था उसके मुक़ाबले पीछे घिसटती रही।

लेकिन एआई जल्दी ही पेंडुलम को विपरीत दिशा में मोड़ सकता है। एआई मुमकिन बनाता है कि सूचना की अपरिमित तादाद को केन्द्रीय स्तर पर प्रॉसेस किया जा सके। दरअसल, एआई केन्द्रीकृत व्यवस्थाओं को विकेन्द्रित व्यवस्थाओं के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा कारगर बना सकता है, क्योंकि मशीन लर्निंग जितनी ही ज़्यादा सूचना को प्रॉसेस कर सकती है, उतना ही बेहतर ढंग से वह काम कर सकती है। अगर आप गोपनीयता की तमाम चिन्ताओं को ताक में रखकर अरबों लोगों से सम्बन्धित सारी सूचना को एक डेटाबेस में केन्द्रित कर देते हैं, तो आप उससे बेहतर ऐल्गरिदम तैयार कर सकते हैं, जितना आप तब कर सकते हैं, जब आप वैयक्तिक गोपनीयता का सम्मान करते हुए मात्र दस लाख लोगों की आंशिक सूचना अपने डेटाबेस में रखते हैं। उदाहरण के लिए, अगर कोई सर्वसत्तावादी सरकार अपने सारे नागरिकों को अपने-अपने डीएनए स्कैन कराने और अपने चिकित्सकीय डेटा में किसी केन्द्रीय अधिकरण से साझा करने का आदेश देती है, तो वह जनेटिक्स और चिकित्सा-वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में उन समाजों के मुक़ाबले अपरिमित लाभ की स्थिति में रहेगी, जिनमें चिकित्सकीय डेटा पूरी तरह से गोपनीय होता है। बीसवीं सदी में सर्वसत्तावादी शासन-व्यवस्थाओं की मुख्य अक्षमता - सारी सूचना को एक स्थान पर केन्द्रित करने की कोशिश - इक्कीसवीं सदी में उनकी निर्णायक सफलता बन सकती है।

जैसे ही ऐल्गरिदम हमें बहुत अच्छी तरह जानने की स्थिति में आ जाएँगे, वैसे ही सर्वसत्तावादी सरकारें अपने नागरिकों पर एकछत्र नियन्त्रण हासिल कर सकती हैं, उससे भी कहीं ज़्यादा जितना नाज़ी जर्मनी में था, और ऐसी हुकूमतों का प्रतिरोध नितान्त असम्भव हो सकता है। ऐसी हुकूमत को न सिर्फ़ इस बात की ठीक-ठीक जानकारी होगी कि आप कैसा महसूस करते हैं, बल्कि वह आपको उस तरह महसूस करने पर बाध्य कर सकती है, जैसा वह चाहती है। तानाशाह अपने नागरिकों को चिकित्सा-सेवा और समानता भले ही न मुहैया करा सके, लेकिन वह उनको बाध्य कर सकता है कि वे उसको प्रेम करें और उसके प्रतिपक्षियों से नफ़रत करें। लोकतन्त्र अपने वर्तमान रूप में जैवप्रौद्योगिकी

और सूचना प्रौद्योगिकी के विलय के सामने टिका नहीं रह सकता। या तो लोकतन्त्र को एक आमूलचूल नए रूप में अपना सफलतापूर्ण कायाकल्प करना होगा, या मनुष्यों को 'डिजिटल तानाशाही' के अधीन रहने को मजबूर होना होगा।

यह हिटलर और स्तालिन के युगों में वापसी नहीं होगी। डिजिटल तानाशाही नाज़ी जर्मनी से उतनी ही भिन्न होगी, जितनी नाज़ी जर्मनी फ़्रांस की ओसियाँ रिज़ीम (मध्ययुगीन शासन-व्यवस्था) से भिन्न थी। लुई XIV केन्द्रीकरण करने वाला स्वेच्छाचारी शासक था, लेकिन उसके पास एक आधुनिक सर्वसत्तावादी राज्य स्थापित करने के लिए कोई प्रौद्योगिकी नहीं थी। उसको अपनी हुकूमत के किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा था, तब भी रेडियो, टेलीफ़ोन और ट्रेनों के अभाव में सुदूर ब्रेताँ गाँवों में रहने वाले किसानों, या पेरिस के बीचों-बीच रह रहे नगरीय समाज के रोज़मर्रा जीवन पर उसका कोई ख़ास नियन्त्रण नहीं था। कोई सामूहिक राजनीतिक दल (मास पार्टी), नौजवानों का कोई देशव्यापी आन्दोलन, या कोई राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली विकसित करने की न तो उसकी इच्छा थी, न ही इसकी क़ाबिलियत उसमें थी। ये बीसवीं सदी की नई प्रौद्योगिकियाँ थीं, जिन्होंने हिटलर को इस तरह की चीज़ें करने की प्रेरणा और क्षमता प्रदान की थी। जो लोग 1930 के दशक की लड़ाइयों को फिर लड़ने की तैयारी में लगे हैं, वे एक नितान्त भिन्न दिशा से होने जा रहे हमले से हक्का-बक्का रह सकते हैं।

यहाँ तक कि अगर लोकतन्त्र किसी तरह सामंजस्य स्थापित कर ले और जीवित बचा रहे, तो भी लोग नए तरह के दमन और भेदभाव के शिकार होंगे। आज पहले ही ज़्यादा से ज़्यादा बैंक, व्यावसायिक प्रतिष्ठान और संस्थाएँ डेटा का विश्लेषण करने और हमारे बारे में फ़ैसले लेने के लिए ऐल्गरिदमों का इस्तेमाल कर रहे हैं। जब आप अपने बैंक में क़र्ज़ के लिए आवेदन करते हैं, तो इसकी पूरी सम्भावना होती है कि आपके उस आवेदन को किसी इंसान की बजाय एक ऐल्गरिदम द्वारा प्रॉसेस किया जाए। यह ऐल्गरिदम आपके और लाखों दूसरे लोगों के बारे में आँकड़ों का विश्लेषण करता है, और फिर फ़ैसला करता है कि क्या आप इतने भरोसे के क़ाबिल हैं कि आपको क़र्ज़ दिया जा सके। अक्सर यह ऐल्गरिदम किसी इंसानी बैंककर्मी से बेहतर सेवा देता है, लेकिन समस्या यह है कि अगर यह ऐल्गरिदम किन्हीं लोगों के प्रति अन्यायपूर्वक भेदभाव बरतता है, तो इस बात को जानना मुश्किल है। अगर बैंक आपको क़र्ज़ देने से इंकार कर देता है, और आप पूछते हैं कि 'क्यों?', तो बैंक जवाब देता है कि 'ऐल्गरिदम ने मना किया है।' आप पूछते हैं, 'ऐल्गरिदम ने मना क्यों किया? मेरी क्या ग़लती है?', और बैंक जवाब देता है, 'हम नहीं जानते। इस ऐल्गरिदम को कोई इंसान नहीं समझता, क्योंकि यह उन्नत मशीन लर्निंग पर आधारित है, लेकिन हम अपने ऐल्गरिदम पर भरोसा करते हैं, इसलिए हम आपको क़र्ज़ नहीं देंगे।'

जब इस तरह का भेदभाव किन्हीं पूरे के पूरे समुदायों, जैसे कि स्त्रियों या अश्वेतों - के ख़िलाफ़ बरता जाता है, तो ये समुदाय सामूहिक भेदभाव के ख़िलाफ़ संगठित होकर विरोध प्रदर्शन कर सकते हैं, लेकिन आज एक ऐल्गरिदम आपके ख़िलाफ़ व्यक्तिगत तौर पर भेदभाव बरत सकता है, और आपको कोई इल्म नहीं होता कि ऐसा क्यों है। हो सकता है कि उस ऐल्गरिदम को आपके डीएनए में, आपके निजी इतिहास में या आपके फ़ेसबुक एकाउंट में ऐसी कोई चीज़ मिली हो, जो उसको पसन्द न आती हो। यह ऐल्गरिदम आपके प्रति भेदभाव इसलिए नहीं बरतता क्योंकि आप एक स्त्री, या एक अफ़्रीकी अमेरिकी हैं, बल्कि इसलिए कि आप आख़िर आप हैं। आप में ही ऐसी कोई ख़ास चीज़ है, जो उस ऐल्गरिदम को पसन्द नहीं है। आप नहीं जानते कि वह चीज़ क्या है, और अगर आप जानते भी हों, तो आप विरोध जताने के लिए दूसरे लोगों के साथ एकजुट नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसे दूसरे लोग हैं ही नहीं, जो इसी तरह के पूर्वाग्रह के शिकार हों। ये सिर्फ़ आप हैं। बजाय महज़ सामूहिक भेदभाव के, इक्कीसवीं सदी में हम व्यक्तिगत भेदभाव की बढ़ती हुई समस्या का सामना कर सकते हैं।

प्रभुत्व के उच्चतम स्तरों पर हम शायद नाममात्र के इंसानी मुखियाओं को बनाए रख पाएँ, जो हमें यह भ्रम देते रहें कि ऐल्गरिदम तो महज़ सलाहकार हैं, और अन्तिम प्रभुसत्ता अभी भी मनुष्यों के हाथ में है। हम जर्मनी के चांसलर या गूगल के सीईओ के रूप में किसी ऐल्गरिदम को नियुक्त नहीं करेंगे, लेकिन चांसलर और सीईओ के फ़ैसले गढ़े जाएँगे एआई द्वारा। चांसलर अभी भी बहुत-से अलग-अलग विकल्पों में से चुनाव करने में सक्षम होगा, लेकिन ये सारे विकल्प बिग डेटा विश्लेषण का परिणाम होंगे, और वे दुनिया को देखने के इंसानी दृष्टिकोणों से ज़्यादा एआई दृष्टिकोणों को प्रतिबिम्बित करेंगे।

एक इसी से मिलता-जुलता उदाहरण लें, तो आज दुनियाभर के राजनेता अलग-अलग तरह की कई आर्थिक नीतियों में से कोई नीति चुन सकते हैं, लेकिन लगभग हर मामले में ये सारी उपलब्ध नीतियाँ अर्थव्यवस्था के बारे में पूँजीवादी नज़रिये को प्रतिबिम्बित करती हैं। राजनेता चयन का भ्रम ज़रूर बनाए रखते हैं, लेकिन वास्तविक महत्त्वपूर्ण फ़ैसले बहुत पहले ही उन अर्थशास्त्रियों, बैंककर्मियों और व्यापारियों द्वारा लिए जा चुके होते हैं, जिन्होंने मेन्यू के विभिन्न विकल्पों को गढ़ा होता है। कुछ ही दशकों के भीतर राजनेता स्वयं को एआई द्वारा लिखे गए मेन्यू में से चुनाव करता पाएँगे।

आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस और क़ुदरती मूर्खता

एक अच्छी ख़बर यह है कि कम-से-कम अगले कुछ दशकों में हमें पूर्ण-विकसित साइंस फ़िक्शन के उस दु:स्वप्न से निपटने की ज़रूरत नहीं होगी, जिसमें एआई चेतना हासिल कर

मनुष्यता को ग़ुलाम बना लेते हैं या ख़त्म कर देने का फ़ैसला कर लेते हैं। हम इस मामले में तो ऐल्गरिदमों पर उत्तरोत्तर निर्भर होते जाएँगे कि वे हमारे बारे में फ़ैसले लें, लेकिन इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि ऐल्गरिदम सचेतन ढंग से हमें संचालित करना शुरू कर देंगे। उनमें कोई चेतना नहीं होगी।

साइंस फ़िक्शन बुद्धि को चेतना से भ्रमित करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, और मानकर चलते हैं कि मानवीय बुद्धि की बराबरी करने या उसको पीछे छोड़ देने के लिए कम्प्यूटरों को चेतना विकसित करनी होगी। एआई के बारे में लगभग तमाम फ़िल्मों और उपन्यासों के कथानक उस जादुई क्षण के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते हैं, जब कोई कम्प्यूटर या रोबोट चेतना हासिल कर लेता है। जैसे ही यह होता है, वैसे ही या तो इंसानी हीरो को रोबोट से इश्क़ हो जाता है, या रोबोट सारे इंसानों को मार डालने की कोशिश करता है, या दोनों चीज़ें एक साथ होती हैं।

लेकिन वास्तव में यह मान लेने की कोई वज़ह नहीं है कि आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस चेतना हासिल कर लेगा, क्योंकि बुद्धि और चेतना बहुत अलग-अलग चीज़ें होती हैं। बुद्धि समस्याओं को हल करने की क़ाबिलियत है। चेतना चीज़ों को, जैसे कि दर्द, आनन्द, प्रेम और ग़ुस्से को महसूस करने की क़ाबिलियत है। हम इन दोनों को एक-दूसरे से भ्रमित करने की कोशिश इसलिए करते हैं, क्योंकि इंसानों में और दूसरे स्तनधारी जीवों में बुद्धि और चेतना साथ-साथ काम करते हैं। स्तनधारी जीव चीज़ों को महसूस कर ज़्यादातर समस्याओं को सुलझाते हैं, लेकिन कम्प्यूटर समस्याओं को बहुत अलग ढंग से सुलझाता है।

बुद्धि की उच्च अवस्था तक ले जाने वाले बहुत-से रास्ते हैं, और इनमें से कुछ ही रास्ते हैं, जिनमें चेतना हासिल करना शामिल है। जिस तरह हवाई जहाज़ पंख विकसित किए बिना परिन्दों से तेज़ उड़ लेते हैं, उसी तरह कम्प्यूटर अनुभूतियों को विकसित किए बिना समस्याओं को स्तनधारियों के मुक़ाबले बेहतर ढंग से सुलझाने की स्थिति में आ सकते हैं। यह सही है कि एआई को इंसानों की बीमारियों का इलाज करने, इंसानी आतंकवादियों की पहचान करने, इंसानी जीवन-साथियों के बारे में सिफ़ारिश करने और इंसानी पदयात्रियों से भरी सड़क पर अपना रास्ता बनाने के लिए मानवीय अनुभूतियों का ठीक-ठीक विश्लेषण करना होगा, लेकिन ऐसा वह अपनी ख़ुद की किन्हीं अनुभूतियों के बिना कर सकता है। एक ऐल्गरिदम को आनन्द-मग्न, क्रोधित या डरे हुए वानरों के विभिन्न जैवरासायनिक पैटर्नों की पहचान करने के लिए ख़ुद आनन्द, क्रोध या डर महसूस करना ज़रूरी नहीं है।

बेशक, यह पूरी तरह से असम्भव नहीं है कि एआई अपनी ख़ुद की अनुभूतियाँ विकसित कर ले। हम अभी भी चेतना के बारे में निश्चित तौर पर पर्याप्त जानकारी नहीं रखते। सामान्यतः, हमें तीन सम्भावनाओं को ध्यान में रखने की ज़रूरत है :

1. चेतना किसी रूप में जीवों की जैवरासायनिकी से इस तरह जुड़ी हुई है कि अ-जैविक प्रणालियों में चेतना उत्पन्न करना कभी सम्भव नहीं होगा।
2. चेतना जीवों की जैवरासायनिकी से जुड़ी हुई नहीं है, लेकिन वह बुद्धि से कुछ इस तरह जुड़ी हुई है कि कम्प्यूटर चेतना विकसित कर सकते हैं, और अगर कम्प्यूटर बुद्धि की एक निश्चित दहलीज़ को पार करना चाहते हैं, तो उनको चेतना विकसित *करनी ही* होगी।
3. जीवों की जैवरासायनिकी या बुद्धि की उच्च अवस्था के साथ चेतना अनिवार्यतः जुड़ी हुई नहीं है। इसलिए कम्प्यूटर चेतना विकसित कर सकते हैं, लेकिन अनिवार्य तौर पर नहीं। वे चेतना-शून्य होने के बावजूद अति-बुद्धिमान हो सकते हैं।

ज्ञान की हमारी वर्तमान अवस्था में हम इनमें से किसी भी विकल्प को ख़ारिज़ नहीं कर सकते, लेकिन ठीक इसी वज़ह से कि हम चेतना के बारे में बहुत कम जानते हैं, यह असम्भव प्रतीत होता है कि हम जल्दी ही किसी भी समय कम्प्यूटरों को चेतना से लैस कर सकते हैं। इसलिए आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस की अपरिमित शक्ति के बावजूद इसका उपयोग निकट भविष्य में किसी हद तक मानवीय चेतना पर निर्भर करता रहेगा।

ख़तरा यह है कि अगर हम एआई को विकसित करने पर बहुत ज़्यादा और मानवीय चेतना को विकसित करने पर बहुत कम निवेश करते हैं, तो मुमकिन है कि कम्प्यूटरों का अत्यन्त परिष्कृत आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस सिर्फ़ इंसानों की कुदरती मूर्खता को सशक्त बनाने की भूमिका ही निभा सके। इसकी सम्भावना नहीं है कि हमें आने वाले दशकों में रोबोट विद्रोह का सामना करना पड़े, लेकिन हमें ऐसे ढेरों रोबोटों से निपटना पड़ सकता है, जो जज़्बाती बटनों को हमारी माँ से बेहतर दबाना जानते हैं, और इस भयावह क़ाबिलियत का इस्तेमाल हमें कोई चीज़ बेचने के लिए करते हैं- वह चीज़ चाहे एक कार हो, एक राजनेता हो, या एक समूची विचारधारा हो। ये रोबोट हमारे अन्तरतम डरों, घृणाओं और लालसाओं को पहचान सकेंगे, और इन आन्तरिक क्षमताओं का इस्तेमाल हमारे ख़िलाफ़ कर सकते हैं। इसका स्वाद हमें सारी दुनिया में हाल ही में हुए चुनावों और जनमत-संग्रहों में पहले ही चखाया जा चुका है, जहाँ हैकर्स ने यह सीख लिया है कि स्वतन्त्र मतदाताओं के डेटा का विश्लेषण करके और उनके मौजूदा पूर्वाग्रहों का शोषण करके किस तरह इन मतदाताओं को अपनी अँगुलियों पर नचाया जाए। जहाँ साइंस फ़िक्शन थ्रिलर आग और धुएँ के नाटकीय महाविनाश की ओर आकर्षित होते हैं, वहीं वास्तविकता में हम बटन दबाने से छोटी-मोटी क़यामत (banal apocalypse) का सामना कर रहे हो सकते हैं।

इस तरह के नतीजों को टालने के लिए, अक़्लमन्दी इस बात में होगी कि हम आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस को उन्नत करने पर निवेश किए जा रहे प्रत्येक डॉलर और प्रत्येक मिनिट के बदले में एक डॉलर और एक मिनिट का निवेश मानवीय चेतना को

विकसित करने के लिए करें। दुर्भाग्य से, फ़िलहाल हम मानवीय चेतना के क्षेत्र में अनुसन्धान और विकास के लिए बहुत ज़्यादा काम नहीं कर रहे हैं। इंसानी क़ाबिलियतों के क्षेत्र में हम चेतन सत्ताओं के रूप में अपनी ख़ुद की दीर्घकालिक ज़रूरतों के मुताबिक़ नहीं, बल्कि मुख्यतः आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की तात्कालिक ज़रूरतों के मुताबिक़ अनुसन्धान और विकास कर रहे हैं। मेरा बॉस चाहता है कि मैं जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी ई-मेलों के जवाब दूँ, लेकिन जो खाना मैं खा रहा होता हूँ, उसका स्वाद लेने और उसकी प्रशंसा करने की मेरी योग्यता में उसकी बहुत कम दिलचस्पी होती है। नतीजतन, मैं खाना खाते हुए भी ई-मेल चेक करता रहता हूँ, वहीं मैं अपनी अनुभूतियों के प्रति ध्यान देने की अपनी क़ाबिलियत खोता रहता हूँ। आर्थिक तन्त्र मुझ पर अपने निवेश पोर्टफ़ोलियो का विस्तार करने और उसको विविधतापूर्ण बनाने का दबाव डालता है, लेकिन वह मेरी करुणा को विस्तार और विविधता देने के लिए कोई प्रेरणा नहीं देता। इसलिए मैं शेयर बाज़ार के रहस्यों को समझने की जी-तोड़ कोशिश करता रहता हूँ, वहीं दुःख के गहरे कारणों को समझने की बहुत कम कोशिश करता हूँ।

इस मामले में, मनुष्य दूसरे पालतू जानवरों जैसे ही हैं। हमने ऐसी आज्ञाकारी गायों को तैयार किया, जो बड़ी मात्रा में दूध देती हैं, लेकिन जो अपने जंगली पूर्वजों की तुलना में बहुत हीन कोटि की हैं। वे बहुत कम फुर्तीली, बहुत कम जिज्ञासु और बहुत कम युक्तिसम्पन्न हैं। अब हम ऐसे पालतू इंसानों को गढ़ने में लगे हैं, जो विपुल मात्रा में डेटा उत्पन्न करते हैं और विराट डेटा-प्रॉसेसिंग तन्त्र में अत्यन्त प्रभावशाली चिप्स की भूमिका निभाते हैं, लेकिन ये डेटा-गायें मानवीय सम्भावनाओं में कोई ख़ास वृद्धि नहीं करतीं। दरअसल, हमें पता ही नहीं है कि सम्पूर्ण मानवीय सम्भावना होती क्या है, क्योंकि हमें मनुष्य के दिमाग़ की बहुत कम जानकारी है। तब भी हम मानव मन की गहराई से छानबीन करने पर बहुत कम निवेश करते हैं, और इसकी बजाय हम अपने इंटरनेट कनेक्षनों की रफ़्तार और अपने बिग डेटा ऐल्गरिदमों की दक्षता बढ़ाने पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। अगर हम सावधानी नहीं बरतते, तो अन्त में हमारे पास ऐसे निचले दर्ज़े के इंसान बचेंगे, जो ख़ुद और दुनिया को तबाह करने के लिए ऊँचे दर्ज़े के कम्प्यूटरों का दुरुपयोग करेंगे।

डिजिटल तानाशाही वह अकेला ख़तरा नहीं है, जो हमारा इन्तज़ार कर रहा है। उदारवादी व्यवस्था ने आज़ादी के साथ-साथ समानता के मूल्य पर भी बहुत बल दिया है। उदारवाद ने राजनीतिक समानता को हमेशा दुलारा है, और वह धीरे-धीरे इस बात को समझती गई है कि आर्थिक समानता भी लगभग उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सामाजिक सुरक्षा-जाल और थोड़ी-सी आर्थिक समानता के बिना आज़ादी अर्थहीन है, लेकिन जिस तरह बिग डेटा ऐल्गरिदम आज़ादी को निस्तेज कर सकते हैं, उसी तरह वे इसी के साथ-साथ अब तक के सबसे ज़्यादा ग़ैरबराबरी वाले समाजों की रचना भी कर

सकते हैं। सारी सम्पत्ति और सत्ता मुट्ठी-भर कुलीन-वर्ग के हाथों में सिमट सकती है, और ज़्यादातर लोग शोषण के नहीं, बल्कि उससे बहुत बदतर चीज़ यानी अप्रासंगिकता के शिकार हो सकते हैं।

4

समानता

जिनके हाथों में डेटा है, उनके हाथों में भविष्य है

पिछले कुछ दशकों में सारी दुनिया के लोगों से कहा जाता रहा था कि मानव-जाति समानता की राह पर है, और भूमण्डलीकरण तथा नई प्रौद्योगिकियाँ हमें जल्दी ही वहाँ पहुँचा देंगी। हक़ीक़त यह है कि इक्कीसवीं सदी इतिहास के सबसे ज़्यादा ग़ैरबराबरी वाले समाजों की रचना कर सकती है, हालाँकि, भूमण्डलीकरण और इंटरनेट मुल्कों के बीच के अन्तरालों को पाटते हैं, लेकिन वे वर्गों के बीच दरारों को चौड़ा करने का ख़तरा पैदा करते हैं। जहाँ मानव-जाति भूमण्डलीय एकीकरण को हासिल करती प्रतीत होती है, उसी वक़्त स्वयं यह प्रजाति विभिन्न जैविक जातियों में विभाजित हो सकती है।

ग़ैरबराबरी पाषाण युग से चली आ रही है। तीस हज़ार साल पहले शिकारी-संग्रहकर्ता क़बीलों ने अपने कुछ सदस्यों को हाथीदाँत के मनकों, कंगनों, ज़ेवरों और कला-वस्तुओं से भरी आलीशान क़ब्रों में दफ़नाया था, जबकि दूसरे लोगों को ज़मीन के एक ख़ाली गड्ढे से सन्तोष करना पड़ा था। तब भी, ये प्राचीन शिकारी-संग्रहकर्ता क़बीले बाद के किसी भी मनुष्य-समाज के मुक़ाबले ज़्यादा समतावादी थे, क्योंकि उनके पास बहुत कम सम्पत्ति हुआ करती थी। सम्पत्ति दीर्घकालीन ग़ैरबराबरी की पहली शर्त है।

कृषि क्रान्ति के बाद सम्पत्ति और उसी के साथ ग़ैरबराबरी भी बहुगुणित हो गई। जैसे ही भूमि, मवेशियों, वनस्पतियों और औज़ारों का स्वामित्व इंसानों के हाथों में आया, वैसे ही कठोर सोपानक्रम (हाइरार्की) वाले समाज प्रकट हुए, जिनमें सम्पत्ति और सत्ता पर थोड़े-से कुलीनों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी एकाधिकार स्थापित होता गया। मनुष्यों ने इस व्यवस्था को कुदरती, यहाँ तक कि अलौकिक नियति मानकर स्वीकार कर लिया। सोपानक्रम महज़ मानक नहीं था, बल्कि आदर्श भी था। कुलीनों और सामान्य जनों के

बीच, मर्दों और औरतों के बीच, या अभिभावकों और बच्चों के बीच ऊँच-नीच के स्पष्ट क्रम के बिना व्यवस्था कैसे क़ायम हो सकती है? सारी दुनिया के पुरोहितों, दार्शनिकों और कवियों ने धीरज के साथ लोगों को समझाया कि जिस तरह मनुष्य के शरीर के सारे अंग बराबरी की हैसियत नहीं रखते, उसी तरह समाज के सारे लोगों में बराबरी नहीं होती। पैरों को सिर की आज्ञा मानना ज़रूरी होता है। इसलिए मानव-समाज में बराबरी अराजकता के अलावा और कुछ पैदा नहीं कर सकती।

लेकिन आधुनिक युग के बाद के दौर में बराबरी लगभग सारे मानव-समाजों का आदर्श बन गई। आंशिक तौर पर इसका कारण साम्यवाद और उदारवाद की नई विचारधाराओं का उदित होना था, लेकिन एक कारण वह औद्योगिक क्रान्ति भी थी, जिसने जन-समुदायों को अपूर्व रूप से महत्त्वपूर्ण बना दिया था। जहाँ औद्योगिक अर्थव्यवस्थाएँ आम कामगारों के समूहों पर निर्भर करती थीं, वहीं औद्योगिक सेनाएँ आम सैनिकों के समूहों पर निर्भर करती थीं। लोकतन्त्रें और तानाशाहियों, दोनों में सरकारें स्वास्थ्य, शिक्षा और जनकल्याण के कार्यक्रमों पर भारी निवेश करती थीं, क्योंकि उनको क्रमबद्ध उत्पादन के संचालन के लिए लाखों की संख्या में स्वस्थ मज़दूरों और खन्दकों में जाकर लड़ने के लिए लाखों वफ़ादार सैनिकों की ज़रूरत होती थी। नतीजतन, बीसवीं सदी का इतिहास काफ़ी हद तक वर्गों, प्रजातियों और लिंगों के बीच की ग़ैरबराबरी में कमी लाने के इर्द-गिर्द घूमता था, हालाँकि, वर्ष 2000 की दुनिया में उच्च-निम्न का क्रम बना हुआ था, फिर भी वह 1900 की दुनिया के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा बराबरी का स्थल था। इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में लोगों ने अपेक्षा की थी कि समतावाद की प्रक्रिया न सिर्फ़ जारी रहेगी, बल्कि उसमें और भी गति आएगी। उन्होंने ख़ासतौर से, यह उम्मीद की थी कि भूमण्डलीकरण सारी दुनिया में आर्थिक समृद्धि को विस्तार देगा, और यह कि इसके नतीजे में हिन्दुस्तान और मिस्र के लोगों को वैसे ही अवसर और सुविधाएँ सुलभ होंगी, जैसी वे फ़िनलैंड और कनाडा के लोगों को सुलभ हैं। इस आश्वासन पर एक समूची पीढ़ी विकसित हुई थी।

अब ऐसा लगता है कि यह आश्वासन शायद पूरा न हो सके। भूमण्डलीकरण ने निश्चय ही मानवता के एक बड़े हिस्से को लाभ पहुँचाया है, लेकिन समाजों के बीच और उनके भीतर बढ़ती हुई ग़ैरबराबरी के संकेत मौजूद हैं। जहाँ कुछ समूहों का भूमण्डलीकरण के फलों पर एकाधिकार स्थापित होता गया, वहीं अरबों लोग पीछे छूटते गए हैं। पहले से ही आज दुनिया की आधी सम्पत्ति पर सबसे ज़्यादा समृद्ध 1 % लोगों का स्वामित्व है। इससे भी ज़्यादा चेतावनी देने वाली बात यह है कि सबसे ज़्यादा समृद्ध कुल सौ लोगों के पास निर्धनतम 4 अरब लोगों से ज़्यादा सम्पत्ति है।

यह स्थिति और भी बदतर हो सकती है। जैसा कि पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया गया है, एआई ज़्यादातर इंसानों के आर्थिक मूल्य और राजनीतिक शक्ति को ख़त्म कर सकती

है। इसी के साथ-साथ जैवप्रौद्योगिकी के क्षेत्र की प्रगतियाँ आर्थिक ग़ैरबराबरी को जैविक ग़ैरबराबरी में रूपान्तरित करना सम्भव बना सकती हैं। अति-समृद्ध लोगों को वाक़ई अपनी विशाल सम्पत्ति का कोई उचित उपयोग करना होगा। जहाँ अभी तक वे प्रतिष्ठा के प्रतीक से थोड़ा ज़्यादा कुछ ख़रीद सकते थे, वहीं वे जल्दी ही स्वयं जीवन को ख़रीदने में सक्षम हो सकते हैं। अगर जीवन की अवधि को बढ़ाने वाली, और शारीरिक तथा संज्ञानात्मक क़ाबिलियतों को उन्नत कर सकने वाली नई चिकित्साएँ मँहगी साबित हुईं, तो मानव-जाति जैविक जातियों में विभाजित हो सकती है।

समूचे इतिहास के दौरान अमीर और कुलीन वर्ग के लोग हमेशा यह कल्पना करते रहे थे कि उनके पास तमाम दूसरे लोगों की तुलना में श्रेष्ठ दक्षताएँ हैं, और इसीलिए ये दूसरे लोग नियन्त्रण में रहते हैं। जहाँ तक हमारी जानकारी है, यह बात सही नहीं थी। एक औसत ड्यूक, औसत किसान से ज़्यादा प्रतिभाशाली नहीं था - उसकी श्रेष्ठता सिर्फ़ अन्यायपूर्ण क़ानूनी और आर्थिक भेदभाव की वज़ह से थी, लेकिन 2100 तक आते-आते अमीर लोग वाक़ई झुग्गीवासियों के मुक़ाबले ज़्यादा प्रतिभाशाली, ज़्यादा सृजनात्मक और ज़्यादा बुद्धिमान हो सकते हैं। जैसे ही अमीरों और ग़रीबों के बीच योग्यता की वास्तविक खाई पैदा होगी, वैसे उसको पाटना लगभग असम्भव हो जाएगा। अगर अमीर लोग अपनी श्रेष्ठ योग्यताओं का इस्तेमाल ख़ुद को और ज़्यादा समृद्ध बनाने के लिए करते हैं, तथा अधिक पैसा उनके लिए उन्नत कायाएँ और मस्तिष्क सुलभ करा सकता है, तो समय बीतने के साथ यह खाई और ज़्यादा चौड़ी ही होगी। 2100 तक आते-आते न सिर्फ़ दुनिया की ज़्यादातर सम्पत्ति, बल्कि दुनिया की सुन्दरता, सृजनात्मकता और स्वास्थ्य पर भी इन 1 % समृद्धतम लोगों का स्वामित्व स्थापित हो सकता है।

इसलिए जैवप्रौद्योगिकी के साथ-साथ एआई के विकास की ये दोनों प्रक्रियाएँ मिलकर अतिमानवों के एक छोटे-से वर्ग और *होमो सेपियन्स* के विशालकाय निचले वर्ग में मानव-जाति के विभाजन का कारण बन सकती हैं। पहले से ही अनिष्टसूचक बन चुकी परिस्थिति को और भी बदतर बनाने वाली चीज़ यह है कि जैसे ही जन-समुदाय अपना आर्थिक महत्त्व खो देता है, वैसे ही राज्य उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण पर निवेश करने का कम-से-कम कुछ उत्साह तो खो ही सकता है। फ़ालतू होना बहुत ही ख़तरनाक है। इसलिए जन-समुदाय का भविष्य छोटे-से भद्र वर्ग की सदिच्छा पर निर्भर करेगा। हो सकता है कि यह सदिच्छा कुछ दशकों के लिए हो, लेकिन संकट के वक़्त में - जैसे कि जलवायुपरक विपत्ति के वक़्त में - अनावश्यक लोगों को मक्खी की तरह निकाल फेंकना काफ़ी ललचाने वाला और आसान काम होगा।

उदारवादी विश्वासों और कल्याणकारी-राज्यपरक कार्य-प्रणालियों की दीर्घ परम्परा से युक्त फ़्रांस और न्यू ज़ीलैंड जैसे देशों में, मुमकिन है कि जन-समुदाय की ज़रूरत न होने पर भी कुलीन वर्ग इस समुदाय की देखभाल जारी रखेगा, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका

जैसा अधिक पूँजीवादी देश अमेरिकी कल्याणकारी राज्य के बचे-खुचे हिस्से के विघटन के पहले अवसर का इस्तेमाल करना चाह सकता है। हिन्दुस्तान, चीन, दक्षिण अफ़्रीका और ब्राज़ील जैसे विशाल विकासशील देशों के सिर पर इससे बड़ी समस्या मँडरा रही है। वहाँ, जैसे ही जन-सामान्य अपना आर्थिक मूल्य खो देता है, ग़ैरबराबरी आसमान छूने लग सकती है।

नतीजतन, भूमण्डलीकरण वैश्विक एकता में फलित होने की बजाय दरअसल 'स्पीसिएशन' में - विभिन्न जैविक जातियों या विभिन्न प्रजातियों तक में मानव-जाति के विभेदीकरण में - फलित हो सकता है। भूमण्डलीकरण राष्ट्रीय सरहदों को मिटाते हुए दुनिया का उसके क्षैतिज विस्तार के स्तर पर तो एकीकरण करेगा, लेकिन इसी के साथ-साथ वह मनुष्यता को उसके अनुलम्ब स्तर पर विभाजित कर देगा। साधारण सेपियन्स के विशाल समुदाय के ख़िलाफ़ एक साझा ध्येय के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका से लेकर रूस तक विभिन्न मुल्कों के मुट्ठीभर सत्ताधारी आपस में मिल सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में, इस समय के 'उच्च वर्ग' के लोकलुभावन असन्तोष का एक ठोस आधार है। अगर हम सावधानी नहीं बरतते, तो सिलिकॉन वैली के शक्तिशाली उद्योगपतियों तथा मॉस्को के अरबपतियों के पोते-पोतियाँ एपलेचियाई देहातियों और साइबेरियाई ग्रामीणों के पोते-पातियों से श्रेष्ठ प्रजाति बन सकते हैं।

मुमकिन है, लम्बा समय बीतने पर इस तरह का परिदृश्य दुनिया का वि-भूमण्डलीकरण (डि-ग्लोबलाइज़) तक कर दे, जिसमें उच्च जाति स्वघोषित 'सभ्यता' के भीतर एकत्र हो जाए और बाहरी 'बर्बरों' के समूह को अपने से ज़ुदा करने के लिए चारों ओर दीवारें खड़ी कर ले और खाइयाँ बिछा ले। बीसवीं सदी में औद्योगिक सभ्यता सस्ते श्रम, कच्चे माल और बाज़ार के लिए इन 'बर्बरों' पर निर्भर करती थी। इसलिए उसने इनको जीत लिया था और अपना लिया था, लेकिन इक्कीसवीं सदी में एआई, जैवइंजीनियरी और नैनोटेक्नॉलॉजी पर भरोसा करने वाली उत्तर-औद्योगिक सभ्यता कहीं ज़्यादा आत्मनिर्भर और स्वपोषक हो सकती है। सिर्फ़ सारे के सारे वर्ग ही नहीं, बल्कि सारे के सारे मुल्क और महाद्वीप अप्रासंगिक हो सकते हैं। ड्रोनों और रोबोटों से संरक्षित क़िलेबन्दियाँ, जहाँ साइबोर्ग एक-दूसरे से तर्क-बमों की मदद से लड़ा करेंगे, इस स्वघोषित सभ्य इलाक़े को बर्बरों की उस दुनिया से अलग रख सकती हैं, जहाँ असभ्य मनुष्य एक-दूसरे से चाकुओं और कालाश्निकोवों की मदद से लड़ेंगे।

इस पूरी पुस्तक में मैंने मानव-जाति के भविष्य के बारे में बात करते हुए उत्तम पुरुष बहुवचन सर्वनाम का प्रयोग किया है। मैंने इस बारे में बात की है कि 'हमारी' समस्याओं के सन्दर्भ में 'हमें' क्या करना ज़रूरी है, लेकिन मुमकिन है कि ऐसा कोई 'हम' हो ही नहीं। मुमकिन है, 'हमारी' एक सबसे बड़ी समस्या यह हो कि अलग-अलग इंसानी समुदायों के भविष्य पूरी तरह से अलग-अलग हों। मुमकिन है कि दुनिया के किन्हीं हिस्सों में आपको

अपने बच्चों को कम्प्यूटर कोड लिखना सिखाना पड़े, जबकि दूसरे हिस्सों में तेज़ी से रिवॉल्वर खींचकर सीधे गोली मारना सिखाना पड़े।

डेटा का मालिक कौन है?

अगर हम सारी सम्पत्ति और सत्ता को मुट्ठीभर उच्च वर्ग के हाथों में सिमट जाने को रोकना चाहते हैं, तो इसका एक ही उपाय है कि हम डेटा के स्वामित्व को नियन्त्रित करें। प्राचीन युगों में भूमि दुनिया की सबसे महत्त्वपूर्ण परिसम्पत्ति हुआ करती थी, राजनीति भूमि को नियन्त्रित करने का संघर्ष हुआ करती थी, और अगर बहुत ज़्यादा भूमि थोड़े-से हाथों में केन्द्रित हो जाती थी, तो समाज कुलीन वर्ग और जनसाधारण में विभाजित हो जाता था। आधुनिक युग में मशीनें और कारख़ाने भूमि से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो गए, और राजनीतिक संघर्ष उत्पादन के इन आधारभूत साधनों को नियन्त्रित करने पर केन्द्रित हो गए। अगर बहुत सारी मशीनें थोड़े-से हाथों में केन्द्रित हो जाती थीं, तो समाज पूँजीवादियों और सर्वहारा वर्गों में विभाजित हो जाता था, लेकिन इक्कीसवीं सदी में भूमि और मशीनों, दोनों पर सबसे महत्त्वपूर्ण परिसम्पत्ति डेटा का ग्रहण लग जाएगा, और राजनीति डेटा के प्रवाह को नियन्त्रित करने का संघर्ष बन जाएगी। अगर डेटा थोड़े-से लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है, तो मानव-जाति विभिन्न प्रजातियों में विभाजित हो जाएगी।

डेटा को हासिल करने की दौड़ पहले ही शुरू हो चुकी है, जिसकी अगुवाई गूगल, फ़ेसबुक, बैदू और टेंसेंट जैसे डेटा-महाबली कर रहे हैं। अब तक, इनमें से कई महाबलियों ने 'अटेंशन मर्चेंट्स' का व्यापारिक मानक अपना लिया लगता है। ये हमें मुफ़्त सूचना, सेवाएँ, और मनोरंजन उपलब्ध कराते हुए हमारी रुचि जगाते हैं, और फिर हमारी इस रुचि को विज्ञापन कम्पनियों के लिए बेच देते हैं, लेकिन इन डेटा-महाबलियों का लक्ष्य शायद रुचि का व्यापार करने वाले पहले के लोगों से ज़्यादा बड़ा है। उनका वास्तविक कारोबार विज्ञापनों को बेचना क़तई नहीं है। इसकी बजाय, वे हमारी रुचि को जाग्रत कर हमारे बारे में अपरिमित तादाद में डेटा का संग्रह करते हैं, जो विज्ञापन से प्राप्त होने वाली आय से कहीं ज़्यादा मूल्यवान है। हम उनके ग्राहक नहीं हैं - हम उनके उत्पाद हैं।

मध्य अवधि में, डेटा का यह अम्बार एक ऐसे नितान्त भिन्न व्यापारिक मानक का रास्ता खोलता है, जिसका पहला शिकार स्वयं विज्ञापन उद्योग होगा। यह नया मानक सत्ता को मनुष्यों के हाथों से ऐल्गरिदमों के हाथों में स्थानान्तरित करने पर आधारित है, जिसमें चीज़ों को चुनने और ख़रीदने का अधिकार शामिल है। जैसे ही ऐल्गरिदम हमारे लिए चीज़ों को चुनना और ख़रीदना शुरू कर देते हैं, वैसे ही पारम्परिक विज्ञापन उद्योग ध्वस्त हो जाएगा। गूगल को ही लें। गूगल उस मक़ाम पर पहुँचना चाहता है, जहाँ हम उससे कुछ

भी पूछ सकते हैं, और दुनिया का श्रेष्ठतम जवाब प्राप्त कर सकते हैं। उस वक़्त क्या होगा, जब हम गूगल से यह पूछ सकेंगे कि "हाय गूगल, कारों के बारे में तुम जो सब कुछ जानते हो, और मेरे में तुम जो सब कुछ जानते हो (जिसमें मेरी ज़रूरतें, मेरी आदतें, ग्लोबल वार्मिंग के बारे में मेरे दृष्टिकोण, और यहाँ तक कि मध्य-पूर्व की राजनीति के बारे में मेरी धारणाएँ तक शामिल हैं), उन सारी जानकारियों के आधार पर मेरे लिए सबसे अच्छी कार कौन-सी होगी?" अगर गूगल हमें इसका एक अच्छा जवाब दे सकता है, और अगर हम बहुत आसानी से अँगुलियों पर नचाई जा चुकी अपनी अनुभूतियों की बजाय अपने अनुभव के आधार पर गूगल के विवेक पर भरोसा करना सीख लेते हैं, तो फिर कार के विज्ञापनों का क्या उपयोग रह जाएगा?

दीर्घकालिक स्तर पर, समुचित डेटा और परिकलन (कम्प्यूटिंग) की समुचित क्षमता को एकजुट कर ये डेटा-महाबली जीवन के गहनतम रहस्यों में घुसपैठ कर सकते हैं, और इस ज्ञान का उपयोग हमारे लिए विकल्पों का चुनाव करने या हमें नियन्त्रित करने में ही नहीं, बल्कि जैविक अस्तित्व को नए सिरे से गढ़ने और अजैविक जीवन-रूपों की रचना करने के लिए कर सकते हैं। हो सकता है कि विज्ञापनों को बेचना इन महाबलियों के लिए अल्पकालिक स्तर पर टिके रहने के वास्ते ज़रूरी हो, लेकिन वे कम्प्यूटर-एप्लीकेशनों, उत्पादनों और कम्पनियों का मूल्यांकन इनके द्वारा पैदा किए गए पैसे की बजाय प्रायः इनके द्वारा उपजाए गए डेटा के आधार पर करते हैं। किसी लोकप्रिय कम्प्यूटर एप्लीकेशन के पास व्यापार के एक मानक का अभाव हो सकता है और वह अल्पकालिक तौर पर पैसा भी गँवा सकता है, लेकिन जब तक वह डेटा को सोखने में सक्षम बनी रहेगी, तब तक वह अरबों के मूल्य की होगी। यहाँ तक कि अगर आप आज डेटा का दोहन करना नहीं भी जानते, तब भी वह बचाकर रखने लायक़ है, क्योंकि उसमें भविष्य में जीवन को नियन्त्रित करने और आकार देने की कुंजी मौजूद हो सकती है। मैं निश्चित तौर पर नहीं जानता कि डेटा-महाबली इसके बारे में स्पष्ट तौर पर इसी पदावली में सोचते हैं या नहीं, लेकिन उनके कृत्य इस ओर संकेत करते हैं कि वे डेटा को डॉलरों और सेंटों से ज़्यादा क़ीमती समझते हैं।

साधारण मनुष्यों के लिए इस प्रक्रिया पर क़ाबू पाना बहुत मुश्किल होगा। वर्तमान में, लोग निःशुल्क ई-मेल-सेवाओं और हास्यास्पद कैट वीडियो के बदले अपनी सबसे मूल्यवान परिसम्पत्ति - अपने निजी डेटा - सौंपकर ख़ुश होते हैं। यह कुछ-कुछ अफ़्रीका और अमेरिका के मूल निवासी क़बीलों के जैसी स्थिति है, जिन्होंने अनजाने में रंगीन मनकों और सस्ते आभूषणों के बदले में अपने पूरे-के-पूरे मुल्कों को यूरोप के साम्राज्यवादियों के हाथों बेच दिया था। अगर बाद में साधारण लोग डेटा के प्रवाह को अवरुद्ध करने की कोशिश का फ़ैसला करते हैं, तो यह उनके लिए उत्तरोत्तर मुश्किल प्रतीत होगा, ख़ासतौर से इसलिए कि वे अपने सारे फ़ैसलों के लिए, यहाँ तक कि अपनी

तन्दुरुस्ती और शारीरिक स्तर पर जीवित बने रहने के लिए भी, नेटवर्क पर निर्भर करने लग सकते हैं।

मनुष्यों और मशीनों का आपस में इस क़दर पूरी तरह विलय हो सकता है कि अगर मनुष्य नेटवर्क से कट जाएँगे, तो वे ख़ुद को जीवित बनाए रखने में भी सक्षम नहीं होंगे। वे गर्भ के समय से ही नेटवर्क से जुड़े होंगे, और अगर बाद के अपने जीवन में आप उससे कटना चाहेंगे, तो मुमकिन है कि बीमा ऐजेंसियाँ आपका बीमा करने से इंकार कर दें, नियोक्ता आपको नौकरी पर रखने से इंकार कर दें, और स्वास्थ्य सेवाएँ आपकी देखभाल करने से इंकार कर दें। स्वास्थ्य और गोपनीयता के बीच की बड़ी लड़ाई में स्वास्थ्य की निर्णायक जीत होने की सम्भावना है।

जैसे-जैसे डेटा आपके शरीर और मस्तिष्क से बायोमैट्रिक सेंसर के रास्ते प्रवाहित होकर बुद्धिमान मशीनों तक पहुँचते जाएँगे, वैसे-वैसे व्यापारिक प्रतिष्ठानों और सरकारी एजेंसियों के लिए आपको जानना, आपको मनमाने ढंग से परिचालित करना और आपकी ओर से फ़ैसले लेना आसान होता जाएगा। इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि वे तमाम शरीरों और मस्तिष्कों की अन्दरूनी कार्य-प्रणालियों को समझने में, और इस तरह जीवन को गढ़ने की शक्ति हासिल करने में सक्षम होंगे। अगर हम एक छोटे-से उच्च वर्ग को इस तरह की देवतानुमा शक्तियों पर एकाधिकार स्थापित करने से रोकना चाहते हैं, और अगर हम मानव-जाति को जैविक जातियों में विभाजित होने से रोकना चाहते हैं, तो मूल प्रश्न यह है : डेटा का स्वामित्व किसके हाथ में है? क्या मेरे डीएनए, मेरे मस्तिष्क और मेरे जीवन से सम्बन्धित डेटा पर मालिकाना हक़ मेरा है, सरकार का है, किसी व्यापारिक निगम का है, या मानव-समूह का है?

सरकार को डेटा का राष्ट्रीयकरण करने का जनादेश दे देने से सम्भवतः बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों की शक्ति पर लगाम लगाई जा सकती है, लेकिन इसका नतीजा ख़ौफ़नाक डिजिटल तानाशाहियों के रूप में भी सामने आ सकता है। राजनेता कुछ-कुछ संगीतकारों की तरह होते हैं, और जो वाद्य-यन्त्र वे बजाते हैं, वह है मनुष्यों का भावनात्मक और जैवरासायनिक तन्त्र। वे एक भाषण देते हैं - देश में आतंक की लहर फैल जाती है। वे ट्वीट करते हैं - और घृणा का विस्फोट हो जाता है। मुझे नहीं लगता कि हमें इन संगीतकारों के हाथ में एक अधिक परिष्कृत वाद्य-यन्त्र सौंपना चाहिए। जैसे ही राजनेता प्रत्यक्ष तौर पर मनमाने ढंग से हमारे भावनात्मक बटनों को दबाते हुए बेचैनी, नफ़रत, आनन्द और ऊब पैदा करने में सक्षम हो जाएँगे, वैसे ही राजनीति एक भावनात्मक सर्कस में बदल जाएगी। बावजूद इसके कि हमारे लिए व्यापारिक संस्थानों की शक्ति से डरना ज़रूरी है, इतिहास संकेत करता है कि ज़रूरी नहीं कि हम अति-शक्तिशाली सरकारों के हाथों में बेहतर स्थिति में हों। इस समय मार्च 1918 में, मैं अपने डेटा व्लादिमीर पुतिन के हाथों में सौंपने की बजाय मार्क ज़ुकरबर्ग को सौंपना पसन्द करूँगा (हालाँकि कैम्ब्रिज

ऐनालिटिका स्कैंडल ने इस बात को उजागर कर दिया है कि ज़ुकरबर्ग के हाथों में सौंपे गए कोई भी डेटा अनचाहे ही पुतिन तक पहुँच सकते हैं)।

व्यक्ति के अपने डेटा पर निजी स्वामित्व इनमें से सबसे ज़्यादा आकर्षक विकल्प प्रतीत होता है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि इसका मतलब क्या है। हमारे पास भूमि के मालिकाना हक़ को नियन्त्रित करने का हज़ारों साल लम्बा अनुभव है। हम जानते हैं कि खेत के चारों तरफ़ बाड़ किस तरह लगानी चाहिए, बाड़ के फाटक पर किस तरह रखवाले को तैनात करना चाहिए, और अन्दर कौन जा सकता है, इस पर किस तरह नियन्त्रण रखना चाहिए। पिछली दो सदियों के दौरान हमने उद्योगों के स्वामित्व को नियन्त्रित करने में अत्यन्त परिष्कार का परिचय दिया है - इसलिए आज मैं जनरल मोटर्स और टोयोटा के शेयर ख़रीदकर इनके एक हिस्से का स्वामित्व प्राप्त कर सकता हूँ, लेकिन डेटा के स्वामित्व को नियन्त्रित करने का, जो कि सहज ही बहुत ज़्यादा मुश्किल काम है, हमें बहुत ज़्यादा अनुभव नहीं है, क्योंकि भूमि और मशीनों से भिन्न, डेटा एक साथ हर कहीं और कहीं भी नहीं मौजूद है, यह प्रकाश की रफ़्तार से गतिशील हो सकता है, और आप इसकी मनचाहे ढंग से कितनी ही प्रतियाँ तैयार कर सकते हैं।

इसलिए बेहतर है कि हम अपने वकीलों, राजनेताओं, दार्शनिकों और यहाँ तक कि कवियों से भी इस पहेली की ओर ध्यान देने का अनुरोध करें : आप डेटा के स्वामित्व को किस तरह नियन्त्रित करते हैं? यह शायद हमारे युग का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सवाल हो सकता है? अगर हम जल्दी ही इस सवाल का जवाब नहीं दे सके, तो हमारी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था ध्वस्त हो सकती है। लोग पहले ही आने वाली तबाही को महसूस करने लगे हैं। शायद यही वज़ह है कि सारी दुनिया के नागरिक उस उदारवादी क़िस्से पर से अपना विश्वास खोते जा रहे हैं, जो एक दशक पहले अपरिहार्य रूप से सम्मोहक हुआ करता था।

तब फिर हम यहाँ से आगे कैसे बढ़ें, और जैवप्रौद्योगिकी तथा सूचना प्रौद्योगिकी की क्रान्तियों से उत्पन्न विशाल चुनौतियों से किस तरह निपटें? क्या सम्भवतः जिन वैज्ञानिकों और उद्यमियों ने सबसे पहले दुनिया में यह उथल-पुथल पैदा की है, वे ही इसका कोई प्रौद्योगिकीय समाधान गढ़ सकते हैं? उदाहरण के लिए, क्या कम्प्यूटरों से जुड़े (नेटवर्क्ड) ऐल्गरिदम विश्वव्यापी मानव-समुदाय के लिए ऐसा कोई ढाँचा तैयार कर सकते हैं, जहाँ यह मानव समुदाय सामूहिक रूप से सारे डेटा का स्वामित्व अपने हाथ में रख सके और जीवन के भावी घटनाक्रम पर नज़र रख सके? क्या यह मुमकिन है कि वैश्विक ग़ैरबराबरी के बढ़ने और सारी दुनिया में सामाजिक तनावों में इज़ाफ़ा होने के साथ ही मार्क ज़ुकरबर्ग अपने दो अरब दोस्तों से एकजुट होने और मिल-जुलकर कुछ करने का आह्वान करें?

II

राजनीतिक चुनौती

सूचना प्रौद्योगिकी और जैव प्रौद्योगिकी का विलय आधुनिकता के आज़ादी और समानता के केन्द्रीय मूल्यों को ख़तरा पैदा कर रहा है। इस प्रौद्योगिकीय चुनौती के किसी भी समाधान के लिए वैश्विक सहकार अनिवार्य है, लेकिन राष्ट्रवाद, मज़हब और संस्कृति मानव-जाति को परस्पर विरोधी खेमों में बाँटते हैं और वैश्विक स्तर के सहकार को बहुत कठिन बना देते हैं।

5

समुदाय

मनुष्यों के शरीर होते हैं

कैलिफ़ोर्निया भूकम्पों का अभ्यस्त है, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका के 2016 के चुनावों के झटके तब भी सिलिकॉन वैली के लिए आक्रामक सदमा साबित हुए थे। इस अहसास के चलते कि ये समस्या खड़ी कर सकते हैं, कम्प्यूटर विशेषज्ञों ने उनकी प्रतिक्रिया में वही किया, जो इंजीनियर सर्वश्रेष्ठ कर सकते थे : तकनीकी समाधान की खोज। यह प्रतिक्रिया मेन्लो पार्क स्थित फ़ेसबुक के मुख्यालय में जितनी प्रबल थी, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं थी। यह समझ में आने वाली बात है। चूँकि फ़ेसबुक का कारोबार सोशल नेटवर्किंग का है, इसलिए वह सामाजिक अशान्तियों के साथ ज़्यादा आसानी के साथ तालमेल बैठा सकती है।

आत्मानुसन्धान के तीन महीने बाद 16 फ़रवरी 2017 को मार्क ज़ुकरबर्ग ने एक वैश्विक समुदाय तैयार करने के बारे में, और इस परियोजना में फ़ेसबुक की भूमिका के बारे में एक साहसिक घोषणा-पत्र जारी किया। इसी के क्रम में बाद में 22 जून 2017 को कम्युनिटीज़ समिट के उद्घाटन के अवसर पर दिए गए अपने भाषण में ज़ुकरबर्ग ने स्पष्ट किया कि - नशीले पदार्थों की बेक़ाबू होती जा रही लत से लेकर हत्यारी सर्वसत्तावादी शासन-व्यवस्थाओं तक - हमारे वक़्त की सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल काफ़ी हद तक मानव-समुदायों के विघटन का परिणाम हैं। उन्होंने इस तथ्य पर गहरा दुःख व्यक्त किया कि “दशकों से तमाम तरह के समूहों की सदस्यता में एक-चौथाई तक की गिरावट आई है। ये लोगों की एक बड़ी संख्या है, जिनको आज किसी और जगह पर एक ध्येय और सहारे की ज़रूरत है।” उन्होंने वचन दिया कि फ़ेसबुक इन समुदायों को फिर स्थापित करने की ज़िम्मेदारी का नेतृत्व करेगी और उनके इंजीनियर उस बोझ को सँभालेंगे, जिससे

इलाक़े के पुरोहितों ने अपने कन्धे झाड़ लिए हैं। उन्होंने कहा, “हम ऐसे कुछ उपकरण पेश करने जा रहे हैं, जिनकी मदद से ‘समुदायों को खड़ा करना आसान होगा’।”

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि “हमने यह जानने के लिए एक परियोजना शुरू की थी कि क्या हम ऐसे किसी समूह का सुझाव दे सकते हैं, जो आपके लिए अर्थपूर्ण हो। हमने इसके लिए आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस तैयार करने की शुरुआत की, और यह कारगर रही। पहले छह महीनों में हमने 50 % लोगों की सार्थक समुदायों में शामिल होने में मदद की।” उनका चरम लक्ष्य ‘एक अरब लोगों की सार्थक समुदायों में शामिल होने में मदद करना है... “अगर हम यह कर सके, तो यह न सिर्फ़ सामुदायिक सदस्यता में आ रही उस गिरावट की दिशा बदल देगा, जिसे हम दशकों से देखते आ रहे हैं, बल्कि यह हमारे सामाजिक ताने-बाने को मज़बूती प्रदान करना भी शुरू करेगा और दुनिया के लोगों को एक-दूसरे के और ज़्यादा क़रीब लाएगा।” यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है, जिसे ‘हासिल करने की ख़ातिर ज़ुकरबर्ग ने फ़ेसबुक की समूची मुहिम को बदल डालने का बीड़ा उठाया है’। मानवीय समुदायों के भंग होने को लेकर ज़ुकरबर्ग का विलाप निश्चय ही सही है, लेकिन ज़ुकरबर्ग द्वारा यह प्रण लिए जाने के कई महीनों बाद, और ठीक उस वक़्त जब यह पुस्तक छपने जा रही थी, कैम्ब्रिज ऐनालिटिका स्कैंडल ने भण्डाफोड़ किया कि फ़ेसबुक पर भरोसा करके उसको सौंपे गए डेटा का दोहन तीसरे पक्षों द्वारा किया गया और उनका इस्तेमाल सारी दुनिया के चुनावों में जोड़-तोड़ करने के लिए किया गया। इस चीज़ ने ज़ुकरबर्ग के भव्य आश्वासनों को एक मज़ाक़ में बदल दिया, और फ़ेसबुक में सार्वजनिक विश्वास को हिलाकर रख दिया। आप सिर्फ़ यही उम्मीद कर सकते हैं कि नए मानव-समुदायों को खड़ा करने की ज़िम्मेदारी हाथ में लेने से पहले फ़ेसबुक मौजूदा समुदायों की गोपनीयता और सुरक्षा की रक्षा का आश्वासन दे।

तब भी फ़ेसबुक की सामुदायिक परिकल्पना पर गहराई से विचार करना, और इस बात का परीक्षण करना उचित है कि सुरक्षा के मज़बूत हो जाने के बाद क्या ऑनलाइन सोशल नेटवर्क मनुष्य के वैश्विक समुदाय की स्थापना करने में मदद कर सकते हैं। यद्यपि इक्कीसवीं सदी में मनुष्य देवताओं के रूप में उन्नत हो सकते हैं, लेकिन अभी 2018 में हम पाषाण युग के जन्तु ही हैं। फलने-फूलने के लिए हमें आत्मीय समुदायों में अपनी जड़ें जमाना ज़रूरी है। लाखों सालों तक मनुष्य ऐसे छोटे-छोटे क़बीलों में रहने के अनुरूप ढला रहा है, जिनमें सौ से ज़्यादा लोग नहीं हुआ करते थे। यहाँ तक कि आज भी हम में से ज़्यादातर के लिए 150 से ज़्यादा व्यक्तियों को जानना असम्भव होता है, भले ही हम कितने ही ज़्यादा फ़ेसबुक फ्रैंड्स होने की डींग क्यों न हाँकते हों। इन समूहों के बिना मनुष्य अकेला और अलगावग्रस्त महसूस करते हैं।

दुर्भाग्य से पिछली दो सदियों से आत्मीय समुदाय सचमुच ही विघटित होते रहे हैं। राष्ट्रों और राजनीतिक दलों के कल्पित समुदायों की जगह एक-दूसरे को सचमुच जानने

वाले लोगों के छोटे-छोटे समुदायों से भरने की कोशिश कभी पूरी तरह कामयाब नहीं हो सकी। राष्ट्रीय परिवार के आपके लाखों सदस्य और कम्युनिस्ट पार्टी के आपके लाखों कॉमरेड आपके लिए गर्मजोश आत्मीयता उपलब्ध नहीं करा सकते, जो आपका एक वास्तविक सहोदर या दोस्त उपलब्ध करा सकता है। नतीजतन, आज लोग हमेशा से कहीं ज़्यादा परस्पर जुड़े इस ग्रह पर हमेशा से कहीं ज़्यादा अकेलेपन का जीवन जीते हैं। हमारे वक़्त के बहुत-से सामाजिक और राजनीतिक बिखरावों की जड़ें इस रुग्णता में खोजी जा सकती हैं।

इसीलिए मनुष्यों को एक-दूसरे से फिर से जोड़ने का ज़ुकरबर्ग का सपना एक सामयिक महत्त्व रखता है, लेकिन वाणी कर्मों की तुलना में सुगम होती है, और इस सपने को पूरा करने के लिए फ़ेसबुक को अपने कारोबार के समूचे ढाँचे को बदलना पड़ सकता है। लोगों की रुचियों पर क़ब्ज़ा करके और फिर उनको विज्ञापनकर्ताओं को बेचकर आप वैश्विक समुदाय की स्थापना शायद ही कर सकें। इसके बावजूद इस तरह की कल्पना को गढ़ने की ज़ुकरबर्ग तत्परता भी सराहनीय है। ज़्यादातर व्यावसायिक प्रतिष्ठान यह मानते हैं कि उनको पैसा कमाने पर ध्यान देना चाहिए, सरकारों को जितना मुमकिन हो उतना कम हस्तक्षेप करना चाहिए, और मानव-जाति को सचमुच हमारी ओर से महत्त्वपूर्ण फ़ैसले लेने के लिए बाज़ार की ताक़तों पर भरोसा करना चाहिए। इसलिए अगर फ़ेसबुक मानव समुदायों की स्थापना के लिए एक वास्तविक विचारधारात्मक प्रतिबद्धता का इरादा रखती है, तो उसकी शक्ति से ख़ौफ़ खाने वालों को उसको 'बिग ब्रॅदर!' चीख़ते हुए व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के सुरक्षा-कवच में वापस नहीं धकेल देना चाहिए। इसकी बजाय, हमें दूसरे व्यावसायिक प्रतिष्ठानों, संस्थाओं और सरकारों से अनुरोध करना चाहिए कि वे अपनी विचारधारात्मक प्रतिबद्धताएँ तय करते हुए फ़ेसबुक से प्रतिस्पर्धा करें।

बेशक, ऐसे संगठनों की कमी नहीं है, जो मानवीय समुदायों के भंग होने को लेकर विलाप करते हैं और उनको फिर से खड़ा करने का उद्यम करना चाहते हैं। नारीवादी आन्दोलनकारियों से लेकर इस्लामी कट्टरपन्थियों तक, सारे लोग समुदाय-निर्माण के कारोबार में लगे हैं, और इनमें से कुछ उद्यमों का परीक्षण हम बाद के अध्यायों में करेंगे। जो चीज़ें फ़ेसबुक की इस पहल को अनूठा बनाती हैं, वे हैं इसका वैश्विक दायरा, इसका प्रतिष्ठानपरक आधार, और प्रौद्योगिकी में इसकी गहरी आस्था। ज़ुकरबर्ग इस बात से सहमत प्रतीत होते हैं कि फ़ेसबुक का नया एआई न सिर्फ़ 'सार्थक समुदायों' की पहचान कर सकता है, बल्कि यह "हमारी सामाजिक बनावट को मज़बूती भी प्रदान करेगा और दुनिया के लोगों को एक-दूसरे के और ज़्यादा क़रीब लाएगा।" यह कार को चलाने या कैंसर का पता लगाने के लिए एआई का इस्तेमाल करने से कहीं ज़्यादा बड़ी महत्त्वाकांक्षा है।

फ़ेसबुक की समुदाय की यह कल्पना वैश्विक पैमाने पर सोशल इंजीनियरी की केन्द्रीय स्तर पर तैयार की गई योजना के लिए आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस का इस्तेमाल करने की सम्भवतः पहली स्पष्ट कोशिश है। इसलिए यह परीक्षण का एक निर्णायक महत्त्व का मामला है। अगर यह कोशिश कामयाब होती है, तो सम्भव है कि हमें ऐसी बहुत-सी कोशिशें देखने को मिलें, और ऐल्गरिदमों को मनुष्य के सामाजिक ताने-बाने के नए नियन्ताओं के रूप में पहचाना जाए। अगर यह नाकामयाब रहती है, तो यह नई प्रौद्योगिकियों की सीमाओं को उजागर करेगी - ऐल्गरिदम वाहनों का मार्गदर्शन करने और बीमारियों को ठीक करने के मामले में तो ठीक होंगे, लेकिन जब सामाजिक समस्याओं को हल करने का मसला आएगा, तो हमें राजनेताओं और पुरोहितों पर ही निर्भर रहना ज़रूरी होगा।

ऑनलाइन बनाम ऑफ़लाइन

हाल के वर्षों में फ़ेसबुक ने आश्चर्यजनक सफलता हासिल की है, और इस वक़्त 2 अरब से ज़्यादा लोग इसका सक्रिय रूप से ऑनलाइन इस्तेमाल करते हैं। तब भी अपनी नई कल्पना को कार्यरूप देने के लिए इसे ऑनलाइन और ऑफ़लाइन के बीच की खाई को पाटना ज़रूरी होगा। एक समुदाय एक ऑनलाइन समूह के रूप में शुरुआत तो कर सकता है, लेकिन सच्चे अर्थों में फलने-फूलने के लिए इसको ऑफ़लाइन दुनिया में भी अपनी जड़ें जमानी होंगी। अगर किसी दिन कोई तानाशाह अपने देश में फ़ेसबुक पर रोक लगा देता है, या इंटरनेट के प्लग ही पूरी तरह से खींच लेता है, तब क्या ये समुदाय लुप्त हो जाएँगे, या वे फिर से संगठित होकर जवाबी लड़ाई लड़ेंगे? क्या वे ऑनलाइन संचार-सुविधा के बिना प्रदर्शन कर सकेंगे?

फ़रवरी 2017 के अपने घोषणा-पत्र में ज़ुकरबर्ग ने स्पष्ट किया था कि ऑनलाइन समुदाय ऑफ़लाइन समुदायों को बढ़ावा देने में मदद करते हैं। ये कभी-कभी सही होता है, लेकिन बहुत-से मामलों में ऑनलाइन ऑफ़लाइन की क़ीमत पर उपलब्ध होती है, और दोनों के बीच मूलभूत अन्तर है। वास्तविक समुदायों में जो गहराई होती है, उसका मुक़ाबला आभासी समुदाय नहीं कर सकते, कम-से-कम निकट भविष्य में तो नहीं ही कर सकते। अगर मैं इज़रायल में अपने घर में बीमार पड़ा हुआ हूँ, तो कैलिफ़ोर्निया के मेरे ऑनलाइन दोस्त मुझसे बात तो कर सकते हैं, लेकिन वे मेरे लिए सूप या एक कप चाय लाकर नहीं दे सकते।

मनुष्यों की कायाएँ होती हैं। पिछली सदी के दौरान प्रौद्योगिकी हमें हमारी कायाओं से दूर करती रही है। हम जो सूँघते और चखते हैं, उसकी ओर ध्यान देने की अपनी

क़ाबिलियत हम खोते जा रहे हैं। इसकी बजाय हम अपने स्मार्टफ़ोनों और कम्प्यूटरों में डूबे रहते हैं। हमारी दिलचस्पी इसमें ज़्यादा है कि साइबरस्पेस में क्या हो रहा है, इसमें कम है कि हमारे पास की सड़क पर क्या हो रहा है। स्विट्ज़रलैंड में बैठे अपने चचेरे भाई-बहनों से बात करना मेरे लिए पहले के मुक़ाबले बहुत आसान हो गया है, लेकिन साथ बैठकर नाष्ता करते अपने पति के साथ बात करना ज़्यादा मुश्किल है, क्योंकि वह मेरी ओर देखने की बजाय लगातार अपने स्मार्टफ़ोन की तरफ़ देखते रहते हैं।

अतीत में, मनुष्य इस तरह की लापरवाही नहीं बरत सकते थे। प्राचीन भोजन-खोजी हमेशा चौकन्ने और सतर्क रहा करते थे। मशरूमों की तलाश में जंगल में भटकते हुए वे ज़मीन के किसी भी ऐसे उभार पर नज़र रखते थे, जो उसके नीचे मशरूम होने की ख़ुफ़िया सूचना दे सकता था। वे घास की मामूली-सी सरसराहट पर भी कान लगाए रखते थे, यह जानने के लिए कि कहीं वहाँ कोई साँप तो नहीं छिपा बैठा है। जब उनको खाने लायक़ मशरूम मिल जाता था, तो वे उसको खाने के पहले इस फ़र्क़ का पूरा ध्यान रखते थे कि कहीं वह अपनी ज़हरीली प्रजाति का कोई चचेरा भाई तो नहीं है। हम अपने स्मार्टफ़ोनों पर मैसेज लिखते हुए सुपरमार्केट के गलियारों में भटकते रह सकते हैं, और उन हज़ारों व्यंजनों में से कोई भी व्यंजन ख़रीद सकते हैं, जिनका स्वास्थ्य अधिकारियों द्वारा निरीक्षण किया गया होता है, लेकिन हम जो भी कुछ चुनते हैं, अन्ततः उसको स्क्रीन के सामने बैठकर जल्दबाज़ी में खा लेते हैं, जिस दौरान हम अपने ई-मेल देखते रहते हैं या टेलीविज़न देखते रहते हैं, और जो कुछ खा रहे होते हैं उसके वास्तविक स्वाद की ओर शायद ही ध्यान देते हैं।

ज़ुकरबर्ग फ़ेसबुक के बारे में कहते हैं कि "हम अपने उपकरणों को उन्नत करना जारी रखने के लिए' प्रतिबद्ध हैं, 'ताकि वे आपको अपने अनुभवों को' दूसरों के साथ 'साझा करने की शक्ति दे सकें।" लेकिन लोगों को असल ज़रूरत ऐसे उपकरणों की है, जो उनको उनके अपने अनुभवों से जोड़ सकें। 'अनुभवों को साझा करने' के नाम पर लोग इस बात के लिए प्रोत्साहित किए जाते हैं कि जो कुछ भी उनके साथ होता है, उसको वे इस सन्दर्भ में समझें कि दूसरे लोग उसको किस तरह देखते हैं। अगर कोई उत्तेजक घटना घटित होती है, तो फ़ेसबुक का इस्तेमाल करने वालों की सहज बुद्धि उनसे स्मार्टफ़ोन निकालकर एक तसवीर खींचने, उसको ऑनलाइन पोस्ट करने, और 'लाइक्स' का इन्तज़ार करने को कहती है। इस पूरी प्रक्रिया में उनका ध्यान इस बात की ओर शायद ही जा पाता है कि वे ख़ुद क्या महसूस कर रहे हैं। वाक़ई, वे जो महसूस करते हैं, वह उत्तरोत्तर ऑनलाइन प्रतिक्रियाओं से निर्धारित होता जा रहा है।

सम्भावना यही है कि अपनी कायाओं, इन्द्रियों और भौतिक पर्यावरण से विरक्त ये लोग ख़ुद को अलगाव-ग्रस्त और भटका हुआ महसूस करें। विशेषज्ञ प्रायः अलगाव के इन अहसासों के लिए मज़हबी और राष्ट्रीय दायित्वों में आई गिरावट को दोषी ठहराते हैं,

लेकिन अपनी काया से सम्पर्क टूटना शायद कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य लाखों वर्षों तक चर्चों के बिना और राष्ट्र-राज्यों के बिना रहे हैं। वे शायद इनके बग़ैर इक्कीसवीं सदी में भी सुखपूर्वक रह सकते हैं, लेकिन अगर वे अपनी कायाओं से कट जाते हैं, तो वे सुखपूर्वक नहीं रह सकते। अगर आप अपनी काया के साथ आत्मीयता का अनुभव नहीं करते, तो आप इस दुनिया में भी कभी आत्मीयता महसूस नहीं कर पाएँगे।

अब तक, फ़ेसबुक के कारोबार के अपने मॉडल ने लोगों को अपना ज़्यादा-से-ज़्यादा समय ऑनलाइन ख़र्च करने के लिए प्रोत्साहित किया है, भले ही इसके नतीजे में उनके पास ऑफ़लाइन गतिविधियों को देने के लिए कम-से-कम समय और ऊर्जा क्यों न बचती हो। क्या यह कोई ऐसा नया मॉडल अपना सकती है, जो लोगों को प्रोत्साहित करे कि वे तभी ऑनलाइन हों, जब वह बहुत ज़रूरी हो, और वे अपने भौतिक पर्यावरण और अपनी ख़ुद की कायाओं और इन्द्रियों की ओर अधिक ध्यान दें? इस तरह के मॉडल के बारे में शेयरधारी क्या सोचते हैं? (इस तरह के वैकल्पिक मॉडल की एक रूपरेखा का सुझाव गूगल से जुड़े रहे और प्रौद्योगिकी-दार्शनिक ट्रिस्टान हैरिस ने हाल ही में दिया है, जिन्होंने 'सही ढंग से बिताए गए समय' का एक नया पैमाना पेश किया है।)

ऑनलाइन रिश्तों की सीमाएँ भी सामाजिक ध्रुवीकरण के ज़ुकरबर्ग के समाधान को कमज़ोर बनाती हैं। उन्होंने इस ओर ठीक ही ध्यान दिलाया है कि लोगों को एक-दूसरे से जोड़ देने और उनको विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने के अवसर उपलब्ध करा देने मात्र से सामाजिक खाइयाँ नहीं पट जाएँगी, क्योंकि "लोगों के सामने एक विपरीत परिप्रेक्ष्य से कोई आर्टिकल पेश कर देना वास्तव में दूसरे परिप्रेक्ष्यों को विजातीय परिप्रेक्ष्य बताकर घ्रुवीकरण को और गहराना है।" इसकी बजाय, ज़ुकरबर्ग का सुझाव है कि "विमर्श में सुधार लाने का सबसे अच्छा उपाय एक-दूसरे को महज़ दृष्टिकोणों के रूप में जानने की बजाय पूर्ण लोगों के रूप में जानने से पैदा हो सकता है - जो एक ऐसा उपाय है, जिसको करने में फ़ेसबुक अनूठे से ढंग से उपयुक्त है। अगर हम लोगों से उन चीज़ों के आधार पर जुड़ते हैं, जिन्हें हम साझा करते हैं - जैसे कि खेल-टीमें, टीवी-शो, रुचियाँ - तो जिन चीज़ों के बारे में हमारी असहमति होती है, उनके बारे में संवाद आसान हो जाता है।

लेकिन एक-दूसरे को 'पूर्ण' लोगों के रूप में जानना अत्यन्त कठिन है। इसमें बहुत ज़्यादा वक़्त लगता है, और यह प्रत्यक्ष अन्तर्क्रिया की माँग करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि एक औसत *होमो सेपियन्स* सम्भवतः 150 से ज़्यादा व्यक्तियों को निकट से जानने में असमर्थ होता है। आदर्श रूप से, समुदायों की स्थापना का नतीजा कुल-जमा-शून्य नहीं होना चाहिए। मनुष्य एक ही समय में विभिन्न समूहों के प्रति वफ़ादारी महसूस कर सकते हैं। दुर्भाग्य से, आत्मीय रिश्तों का नतीजा शायद कुल-जमा-शून्य ही होता है। एक निश्चित मक़ाम के परे, आप ईरान या नाइज़ीरिया के अपने दोस्तों को जानने के लिए

जो समय और ऊर्जा ख़र्च करेंगे, उसके लिए आपको अपने निकटतम पड़ोसी को जानने की अपनी क़ाबिलियत की क़ीमत चुकानी पड़ेगी।

फ़ेसबुक की निर्णायक परीक्षा की घड़ी तब आएगी, जब कोई इंजीनियर कोई ऐसा नया टूल ईजाद कर लेगा, जिससे लोग अपना समय ऑनलाइन चीज़ें ख़रीदने में कम और अपने दोस्तों के साथ ऑफ़लाइन गतिविधियों में ज़्यादा लगाएँगे। फ़ेसबुक इस तरह के टूल को अपनाएगी या उसको दबा देगी? क्या फ़ेसबुक एक अविश्वसनीय लगती चीज़ में विश्वास करेगी, और सामाजिक सरोकारों को आर्थिक हितों पर वरीयता देगी? अगर वह ऐसा करती है - और किसी तरह दिवालिया होने से बच जाती है - तो वह एक महान परिवर्तन होगा।

ऑफ़लाइन दुनिया पर अपनी तिमाही रिपोर्टों से ज़्यादा ध्यान केन्द्रित करने का असर फ़ेसबुक की कर-नीति पर भी पड़ेगा। अमेज़ॉन, गूगल, ऐपल और प्रौद्योगिकी के अनेक दूसरे महाबलियों की ही तरह फ़ेसबुक पर भी करों का भुगतान करने से बचने के आरोप लगते रहे हैं। ऑनलाइन गतिविधियों पर कर लगाने की स्वाभाविक मुश्किलें इन वैश्विक प्रतिष्ठानों के लिए तमाम तरह की क्रिएटिव अकाउंटिंग में प्रवृत्त होना आसान बना देती हैं। अगर आप सोचते हैं कि लोग मुख्यतः ऑनलाइन रहते हैं, और यह कि आप उनको उनके ऑनलाइन अस्तित्व के लिए ज़रूरी सारे साधन मुहैया कराते हैं, तो आप ख़ुद को एक हितकारी सामाजिक सेवा के रूप में देख सकते हैं, भले ही आप ऑफ़लाइन सरकारों को करों का भुगतान करने से बचते हों, लेकिन जैसे ही आप यह याद रखते हैं कि मनुष्यों की कायाएँ होती हैं, और इसलिए उनको सड़कों, अस्पतालों, और मल-निकासी-प्रणालियों की ज़रूरत होती है, तो फिर करों से बचने का औचित्य सिद्ध करना ज़्यादा मुश्किल हो जाता है। आप समुदाय की ख़ूबियों की सराहना कैसे कर सकते हैं, जबकि आप समुदाय की सबसे महत्त्वपूर्ण सेवाओं को वित्तीय सहारा देने से इंकार कर रहे हों?

हम सिर्फ़ यही उम्मीद कर सकते हैं कि फ़ेसबुक अपने कारोबार के मॉडल को बदल सकती है, एक ज़्यादा ऑफ़लाइन-सहयोगी कर-नीति अपना सकती है, दुनिया की एकजुट होने में मदद कर सकती है - और तब भी लाभ कमाती रह सकती है, लेकिन हमें फ़ेसबुक के वैश्विक समुदाय के सपने को साकार करने की क्षमता को लेकर अव्यावहारिक उम्मीदें नहीं पालनी चाहिए। ऐतिहासिक तौर पर, व्यावसायिक प्रतिष्ठान सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियों का नेतृत्व करने वाले आदर्श माध्यम नहीं रहे हैं। एक वास्तविक क्रान्ति आगे-पीछे ऐसी क़ुर्बानियों की माँग करती है, जिनके लिए व्यावसायिक प्रतिष्ठान, उनके कर्मचारी और उनके शेयरधारी तैयार नहीं होते। यही वज़ह है कि क्रान्तिकारी लोग चर्चों, राजनीतिक दलों और सेनाओं का निर्माण करते हैं। तथाकथित फ़ेसबुक और ट्विटर क्रान्तियों ने अरब दुनिया में उम्मीद से भरे ऑनलाइन समुदायों की शुरुआत की थी, लेकिन जैसे ही वे अस्त-व्यस्त ऑफ़लाइन दुनिया में प्रकट हुए, वैसे ही उन पर मज़हबी उन्मादियों

और सैन्य तानाशाहियों ने क़ब्ज़ा कर लिया था। अगर फ़ेसबुक आज एक वैश्विक क्रान्ति को प्रेरित करना चाहती है, तो उसको ऑनलाइन और ऑफ़लाइन के बीच की खाई को पाटने के लिए कहीं ज़्यादा मेहनत करनी होगी। वह और दूसरे ऑनलाइन महाबली मनुष्यों को दृश्य-श्रव्य प्राणियों के रूप में देखने की कोशिश करते हैं - दस अँगुलियों, एक स्क्रीन और एक क्रेडिट कार्ड से जुड़ी एक जोड़ी आँखों और एक जोड़ा कानों के रूप में। मानव-जाति को संगठित करने की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण क़दम इस बात को समझना है कि मनुष्यों की कायाएँ होती हैं।

बेशक, इस समझ का भी अपना नकारात्मक पहलू है। ऑनलाइन ऐल्गरिदमों की सीमाओं का अहसास प्रौद्योगिकी के महाबलियों को अपनी पहुँच में विस्तार करने के लिए ही उकसा सकता है। गूगल ग्लास जैसे उपकरण और पोकमॉन गो जैसे खेल ऑनलाइन और ऑफ़लाइन का एक एकल ऑगमेंटेड रियलिटी (कम्प्यूटर द्वारा तैयार और वास्तविक दुनिया के दृश्य के साथ मिलाकर देखी जाने वाली छवियाँ।) में विलय करते हुए दोनों के फ़र्क़ को मिटाने के लिए तैयार किए गए हैं। एक और भी गहरे स्तर पर बायोमैट्रिक सेंसरों और सीधे मस्तिष्क-कम्प्यूटर इंटरफेसों का उद्देश्य इलेक्ट्रॉनिक मशीनों और जैविक कायाओं के बीच की सीमाओं को धीरे-धीरे मिटाते जाना, और हमें साफ़ तौर पर खीझ से भर देना है। जैसे ही प्रौद्योगिकी के महाबली मनुष्य की काया को स्वीकार कर लेते हैं, वैसे ही वे हमारी समूची काया को उसी तरह नियन्त्रित करने लग सकते हैं, जिस तरह वे फ़िलहाल हमारी आँखों, अँगुलियों और क्रेडिट कार्डों को नियन्त्रित करते हैं। हमें उन पुराने भले दिनों की याद सताएगी, जब ऑनलाइन ऑफ़लाइन से अलग हुआ करता था।

6

सभ्यता

दुनिया में मात्र एक ही सभ्यता है

जहाँ मार्क ज़ुकरबर्ग मानव-जाति को ऑनलाइन संगठित करने का ख़्वाब देख रहे हैं, वहीं ऑफ़लाइन दुनिया की ताज़ा घटनाएँ 'सभ्यता का टकराव' की परिकल्पना में नए सिरे से प्राण फूँकती लग रही हैं। बहुत-से पण्डितों, राजनेताओं और साधारण नागरिकों का ऐसा विश्वास है कि सीरियाई गृहयुद्ध, इस्लामिक स्टेट का उदय, ब्रेक्ज़िट-अशान्ति तथा यूरोपीय यूनियन की अस्थिरता आदि ये सब 'पश्चिमी सभ्यता' और 'इस्लामी सभ्यता' के बीच टकराव के नतीजे हैं। मुसलमान राष्ट्रों पर लोकतन्त्र और मानवाधिकारों को थोपने की पश्चिम की कोशिशें हिंसक इस्लामी प्रतिक्रिया के रूप में सामने आई हैं, और इस्लामी आतंकवादी हमलों के साथ-साथ मुसलमानों के आगमन की लहर ने यूरोप के मतदाताओं को अज्ञात लोगों से भयभीत स्थानीय पहचानों के पक्ष में अपने बहुसांस्कृतिक सपनों को त्याग देने पर मजबूर कर दिया है।

इस परिकल्पना के अनुसार, मानव-जाति हमेशा से ऐसी विभिन्न सभ्यताओं में विभाजित रही है, जिनके सदस्य दुनिया को ऐसी दृष्टियों से देखते रहे हैं, जिनके बीच किसी तरह का समझौता मुमकिन नहीं है। ये परस्पर-विरोधी विश्वदृष्टियाँ सभ्यताओं के बीच टकराव को अपरिहार्य बना देती हैं। जिस तरह प्रकृति में विभिन्न प्रजातियाँ प्राकृतिक वरण के क्रूर नियमों के तहत अपने जीवित बने रहने का संघर्ष करती हैं, उसी तरह समूचे इतिहास के दौरान सभ्यताएँ बार-बार टकराती रही हैं और सिर्फ़ सबसे क़ाबिल लोग ही वास्तविकता का बयान करने के लिए बचे रह जाते हैं। जो लोग इस कठोर सच्चाई की अनदेखी करते हैं - वे चाहे उदारवादी राजनेता हों या ख़यालों की दुनिया में रहने वाले इंजीनियर हों - वे जानबूझकर जोखिम उठाते हैं।

‘सभ्यताओं के टकराव’ की इस परिकल्पना के दूरगामी राजनीतिक निहितार्थ हैं। इस परिकल्पना के समर्थकों की दलील है कि ‘पश्चिम’ और ‘मुस्लिम दुनिया’ के बीच सुलह क़ायम करने की कोई भी कोशिश विफल होने के लिए अभिशप्त है। मुसलमान मुल्क कभी भी पाश्चात्य मूल्यों को स्वीकार नहीं करेंगे, और पश्चिमी मुल्क कभी भी मुसलमान अल्पसंख्यकों को अपनाने में सफल नहीं हो सकते। तदनुसार, संयुक्त राज्य अमेरिका को सीरिया या इराक़ से आकर बसना चाहने वाले लोगों को प्रवेश नहीं देना चाहिए, यूरोपीय यूनियन को एक अटल पाश्चात्य अस्मिता के पक्ष में अपने बहुसांस्कृतिक भुलावे को त्याग देना चाहिए। दीर्घकालिक स्तर पर, केवल एक ही सभ्यता प्रकृतिक वरण की निर्मम परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर सकती है, और अगर ब्रुसेल्स के नौकरशाह पश्चिम को इस्लामी ख़तरे से बचाने से इंकार करते हैं, तो ब्रिटेन, डेनमार्क या फ़्रांस के लिए यही बेहतर है कि वे अपने स्तर पर कार्रवाई करें।

यद्यपि इस परिकल्पना को व्यापक समर्थन मिला हुआ है, तब भी यह गुमराह करने वाली है। इस्लामी कट्टरतावाद सचमुच ही एक अतिवादी चुनौती पेश कर रहा हो सकता है, लेकिन यह जिस ‘सभ्यता’ को चुनौती दे रहा है, वह विशिष्ट रूप से कोई पश्चिमी चीज़ न होकर एक वैश्विक सभ्यता है। यह अकारण नहीं कि इस्लामिक स्टेट अपने ख़िलाफ़ ईरान और संयुक्त राज्य अमेरिका को एकजुट करने में कामयाब रहा है। यहाँ तक कि इस्लामी कट्टरपन्थी, अपनी मध्ययुगीन फ़न्तासियों के बावजूद, सातवीं सदी के अरब की बजाय समकालीन वैश्विक संस्कृति में अपनी जड़ें जमाए हुए हैं। वे मध्ययुगीन किसानों या सौदागरों की बजाय अलग-थलग पड़ गए आधुनिक नौजवानों की आशंकाओं और उम्मीदों को जगाए हुए हैं। जैसा कि पंकज मिश्र और क्रिस्टोफ़र द बैलीग़ ने प्रभावशाली ढंग से तर्क दिया है कि उग्रवादी इस्लामपन्थी जितने मोहम्मद साहब से प्रभावित हैं, उतने ही मार्क्स और फ़ूको से प्रभावित हैं, और वे उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय अराजकतावादियों के उतने ही वारिस हैं, जितने उम”यद और अब्बासिद ख़लीफ़ाओं के हैं। इसलिए इस्लामिक स्टेट तक को किसी रहस्यमय अज्ञात वृक्ष की शाखा के रूप में देखने की बजाय ज़्यादा सही यह होगा कि हम उसे उस भूमण्डलीय संस्कृति की गुमराह सन्तान के रूप में देखें, जिस संस्कृति को हम सब साझा करते हैं।

इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि इतिहास और जैविकी के बीच जो तुलना ‘सभ्यताओं के टकराव’ की परिकल्पना को सहारा दिए हुए है, वह एक भ्रामक तुलना है। मानव समुदाय - छोटे-छोटे क़बीलों से लेकर विशाल सभ्यताओं तक फैले मानव समुदाय - मनुष्येतर प्राणियों की प्रजातियों से बुनियादी रूप से भिन्न हैं, और ऐतिहासिक टकराव प्राकृतिक वरण की प्रक्रियाओं से बहुत अलग हैं। मनुष्येतर प्राणियों की प्रजातियों की वस्तुनिष्ठ पहचान होती हैं, जो कि हज़ारों-हज़ार पीढ़ियों तक बनी रहती हैं। आप चिम्पांज़ी हैं या गोरिल्ला हैं, यह चीज़ आपकी आस्थाओं की बजाय आपके जीन्स पर निर्भर करती

है, और अलग-अलग तरह के जीन्स भिन्न क़िस्म के व्यवहारों के लिए दबाव डालते हैं। चिम्पांज़ी नरों और मादाओं के संयुक्त समूहों में रहते हैं। वे नरों और मादाओं, दोनों के बीच से समर्थकों को जुटाकर सत्ता के लिए संघर्ष करते हैं। इसके विपरीत गोरिल्लाओं में एक प्रभुत्त्वशाली नर मादाओं का एक हरम विकसित करता है और ऐसे किसी भी नर को झुण्ड से बाहर कर देता है, जो उसकी हैसियत को चुनौती दे सकता है, और जहाँ तक हमारी जानकारी है, ऐसी ही सामाजिक व्यवस्थाएँ न सिर्फ़ हाल के दशकों में, बल्कि हज़ारों सालों से, चिम्पांज़ियों और गोरिल्लाओं की ख़ासियतें रही हैं।

आपको मनुष्यों में इस तरह की कोई चीज़ देखने को नहीं मिलती। हाँ, मनुष्यों के समूहों की अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्थाएँ हो सकती हैं, लेकिन ये व्यवस्थाएँ जनेटिक कारकों से निर्धारित नहीं होतीं, और वे कुछ सदियों से ज़्यादा समय तक शायद ही टिकी रह पाती हैं। उदाहरण के लिए, बीसवीं सदी के जर्मनों के बारे में सोचें। सौ साल से भी कम के समय में जर्मनों ने स्वयं को छह अलग-अलग व्यवस्थाओं के अन्तर्गत संगठित किया : होहेंज़ोलर्न साम्राज्य, वाइमर गणराज्य, थर्ड राईख़, जर्मन डेमोक्रैटिक रिपब्लिक (उर्फ़ साम्यवादी पूर्वी जर्मनी), फ़ैडरल रिपब्लिक ऑफ़ जर्मनी (उर्फ़ पश्चिमी जर्मनी), और अन्त में एकीकृत लोकतान्त्रिक जर्मनी। हाँ, जर्मनों ने अपनी भाषा और बियर तथा *ब्राटवर्स्ट* (सॉसेज) के प्रति अपने प्रेम को बरक़रार रखा, लेकिन क्या ऐसा कोई अनूठा जर्मन सत्त्व है, जो उनको दूसरे तमाम राष्ट्रों से अलग करता हो, और जो विल्हेम प्प् से लेकर ऐंजेला मर्केल तक अपरिवर्तित बना रहा हो? और अगर आप ऐसी कोई चीज़ ढूँढ ही निकालें, तो क्या वह 1,000 साल पहले, या 5,000 साल पहले थी?

(अनुमोदित नहीं) प्रिएम्बल ऑफ़ यूरोपियन कॉन्स्टिट्यूशन (यूरोपीय संविधान की प्रस्तावना) की शुरुआत यह कहते हुए होती है कि यह 'यूरोप की उस सांस्कृतिक, मज़हबी और मानववादी विरासत से' प्रेरित है, 'जहाँ से मानव व्यक्ति, लोकतन्त्र, समानता, स्वतन्त्रता और विधि-सम्मत शासन के अनुलंघनीय और अविच्छेद्य अधिकारों के सार्वभौमिक मूल्य विकसित हुए हैं'। इससे किसी को आसानी से ऐसा लग सकता है कि मानवाधिकार, लोकतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता के मूल्य यूरोपीय सभ्यता की पहचान हैं। ऐसे अन्तहीन भाषण और दस्तावेज़ हैं, जो प्राचीन एथीनियाई लोकतन्त्र से लेकर आज के यूरोपीय यूनियन तक एक सीधी रेखा खींचते हुए यूरोपीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के 2,500 सालों का जश्न मनाते हैं। यह स्थिति उस लोक-प्रसिद्ध अन्धे की याद दिलाती है, जिसके हाथ में हाथी की पूँछ आती है और वह नतीजा निकालता है कि हाथी ब्रश जैसा होता है। हाँ, लोकतान्त्रिक विचार सदियों से यूरोपीय संस्कृति का हिस्सा रहे हैं, लेकिन वे पूर्ण कभी नहीं थे। अपनी सारी महिमा और प्रभाव के बावजूद एथीनियाई लोकतन्त्र एक अधूरे मन से किया गया प्रयोग था, जो बालकान्स के एक छोटे-से कोने में बमुश्किल 200 साल तक टिका रह सका था। अगर यूरोपीय सभ्यता पिछली पच्चीस सदियों से लोकतन्त्र

और मानवाधिकारों से परिभाशित होती रही है, तो हम स्पार्टा और जूलियस सीज़र, धर्मयोद्धाओं (क्रूसेडर्स) और विजेताओं (कॉन्क्विस्टाडोरों), धर्मपरीक्षणों और ग़ुलाम व्यापार, लुई XIV और नेपोलियन, हिटलर और स्तालिन की व्याख्या किस तरह करेंगे? क्या ये सारे लोग किसी विदेशी सभ्यता से आए घुसपैठिए थे?

सच्चाई यह है कि यूरोपीय सभ्यता वैसी क़तई नहीं है, जैसा यूरोपीय लोग उसको समझते हैं, ठीक उसी तरह जैसे ईसाइयत वैसी क़तई नहीं है, जैसा ईसाई उसको समझते हैं, इस्लाम वैसा क़तई नहीं है जैसा मुसलमान उसको समझते हैं, यहूदी मज़हब वैसा क़तई नहीं है जैसा यहूदी उसको समझते हैं। और उन्होंने सदियों के दौरान इसे आश्चर्यजनक ढंग से परिभाशित किया है। मनुष्यों के समूह निरंतरता बजाय उन परिवर्तनों से ज़्यादा पहचाने जाते हैं, जिनसे वे गुज़रे होते हैं, लेकिन तब भी वे अपनी क़िस्सागोई की दक्षताओं के चलते अपने लिए प्राचीन पहचानें गढ़ लेते हैं। उन्होंने किसी भी तरह की क्रान्तियों को क्यों न अनुभव किया हो, वे आमतौर से पुराने और नए को एक ही धागे में बुन लेते हैं।

यहाँ तक कि एक व्यक्ति तक क्रान्तिकारी निजी परिवर्तनों को एक सुसंगत और सशक्त जीवन-कथा में गूँथ ले सकता है : “मैं वह व्यक्ति हूँ, जो कभी एक समाजवादी हुआ करता था, लेकिन बाद में एक पूँजीवादी हो गया, मेरा जन्म फ़्रांस में हुआ था, और अब मैं संयुक्त राज्य अमेरिका में रहता हूँ, मैं विवाहित था, और मैंने तलाक ले लिया, मुझे कैंसर हो गया था, लेकिन फिर मैं ठीक हो गया।” इसी तरह से मसलन जर्मनों की तरह का कोई मानव समुदाय ख़ुद को उन परिवर्तनों से परिभाशित कर सकता है, जिनसे वह गुज़रा है : “एक समय था जब हम नाज़ी थे, लेकिन हमने सीख ली और अब हम शान्तिप्रिय लोकतान्त्रिक हैं।” आपको किसी ऐसे अनूठे जर्मन सत्त्व को ढूँढने की ज़रूरत नहीं है, जो ख़ुद को पहले विल्हेम II में, फिर हिटलर में, और अन्त में मर्केल में रूपायित करता हो। ये मूलगामी रूपान्तरण ही वास्तव में वे चीज़ें हैं, जो जर्मन अस्मिता को परिभाशित करती हैं। 2018 में जर्मन होने का अर्थ उदार और लोकतान्त्रिक मूल्यों का समर्थन करते हुए नाज़ीवाद की मुश्किल विरासत से निपटना है। कौन जानता है कि 2050 में इसका क्या मतलब होगा।

लोग अक्सर इन परिवर्तनों को देखने से इंकार करते हैं, ख़ासतौर से तब, जब बुनियादी राजनीतिक और मज़हबी मूल्यों का सवाल उठता है। हम ज़ोर देते हैं कि हमारे मूल्य प्राचीन पूर्वजों की मूल्यवान धरोहर हैं, लेकिन जो एकमात्र चीज़ हमें ऐसा कहने की गुंजाइश देती है, वह यह है कि हमारे वे पूर्वज बहुत पहले मर चुके होते हैं, और वे ख़ुद इसकी गवाही नहीं दे सकते। उदाहरण के लिए, स्त्रियों के प्रति यहूदियों के रवैये पर विचार करें। आज कट्टर परम्परावादी (ऑर्थोडॉक्स) यहूदी सार्वजनिक स्थलों पर स्त्रियों की छवियों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। कट्टर परम्परावादी यहूदियों को लक्ष्य कर तैयार किए जाने

वाले सूचना-पट्ट और विज्ञापन आमतौर से सिर्फ़ पुरुषों और लड़कों को ही चित्रित करते हैं, स्त्रियों और लड़कियों को कभी नहीं करते।

2011 में जब कट्टर परम्परावादी ब्रुकलिन अख़बार *डाई ज़ाइतुंग* ने ओसामा बिन-लादेन के परिसर पर मारे गए छापे को देख रहे अमेरिकी अधिकारियों की एक तसवीर छापी, लेकिन उस तसवीर से, सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट हिलेरी क्लिंटन समेत सारी स्त्रियों को डिजिटल ढंग से मिटा दिया, तो ज़बरदस्त हंगामा खड़ा हो गया था। अख़बार ने सफ़ाई पेश की कि ऐसा उसे यहूदी 'सदाचार के नियमों' के तहत करना पड़ा। ऐसा ही एक हंगामा उस वक़्त खड़ा हो गया था, जब *हा-मेवासर* अख़बार ने चार्ली हैब्दो के ख़िलाफ़ किए जा रहे प्रदर्शन की एक तसवीर से ऐंजेला मर्केल को इस आधार पर मिटा दिया था कि उनकी छवि श्रद्धालु पाठकों के मन में कामवासना के विचार जगा सकती थी। एक तीसरे कट्टर परम्परावादी अख़बार *हमोदिया* ने इस नीति का बचाव यह स्पष्टीकरण देते हुए किया था कि 'हमें हज़ारों साल पुरानी यहूदी परम्परा का समर्थन प्राप्त है।'

स्त्रियों को देखने पर जितना कड़ा प्रतिबन्ध सायनागॉग (यहूदी देवालय) में है, उतना और कहीं नहीं है। परम्परावादी सायनागॉगों में स्त्रियों को सावधानीपूर्वक पुरुषों से अलग रखा जाता है, और उनको ख़ुद को एक प्रतिबन्धित क्षेत्र तक सीमित रहना होता है, जहाँ वे एक पर्दे के पीछे छिपी रहती हैं, ताकि किसी मर्द को प्रार्थना करते समय या धर्मग्रन्थों का पाठ करते समय धोखे से भी किसी स्त्री की आकृति न दिख जाए, लेकिन अगर यह सबको हज़ारों साल पुरानी यहूदी परम्परा और अपरिवर्तनीय दैवीय विधानों का समर्थन प्राप्त है, तो इस तथ्य को किस तरह स्पष्ट किया जाए कि जब पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इज़रायल के मिशना और तलमूद के ज़माने के प्राचीन सायनागॉगों की ख़ुदाई की, तो उनको वहाँ न सिर्फ़ लैंगिक अलगाव के कोई निशान नहीं मिले, बल्कि उलटे फ़र्श की ऐसी ख़ूबसूरत पच्चीकारियाँ और भित्ति-चित्र मिले, जिन पर स्त्रियाँ चित्रित थीं, और उनमें कुछ ख़ासे कम वस्त्र पहने हुई थीं? जिन रब्बियों ने मिशना और तलमूद लिखे थे, वे इन सायनागॉगों में नियमित रूप से प्रार्थनाएँ और अध्ययन किया करते थे, लेकिन आज के ज़माने के परम्परावादी यहूदी उनको प्राचीन परम्पराओं का धर्मद्रोही अपवित्रीकरण मानेंगे।

प्राचीन परम्पराओं की इसी तरह की विकृतियाँ तमाम मज़हबों की ख़ासियतें हैं। इस्लामिक स्टेट शेखी बघारता है कि वह इस्लाम के शुद्ध और मौलिक रूप की ओर वापस लौटा है, लेकिन वास्तव में इस्लाम के बारे में उनकी धारणा पूरी तरह नई है। हाँ, वे बहुत-से मुक़द्दस मज़मूनों का हवाला देते हैं, लेकिन किन मज़मूनों का हवाला दिया जाए और किन की उपेक्षा की जाए, इसके चुनाव को लेकर, और उनकी व्याख्या करने के ढंग को लेकर वे जो मशक़्क़त करते हैं, उसमें बहुत ज़्यादा सावधानी बरतते हैं। वाक़ई, पवित्र पोथियों की व्याख्या को लेकर उनका स्व-विवेक के इस्तेमाल का रवैया अपने में बहुत आधुनिक है। पारम्परिक तौर पर, व्याख्या पर जानकार *उलेमाओं* का एकाधिकार हुआ करता था - उन

अध्येताओं का, जिन्होंने काहिरा के अल-अज़हर जैसे नामी विश्वविद्यालयों में मुस्लिम विधि-संहिता और धर्म-विद्या का अध्ययन किया होता था। इस्लामिक स्टेट के बहुत थोड़े-से नेताओं की ऐसी साख है, और अत्यन्त सम्मानित *उलेमाओं* ने अबू बक्र अल-बग़दादी और उन जैसों को जाहिल गुनहगार कहकर ख़ारिज़ कर दिया है।

इसका यह मतलब नहीं है कि इस्लामिक स्टेट 'ग़ैर-इस्लामी' या 'इस्लाम-विरोधी' है, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है। यह ख़ासतौर से तब विडम्बनापूर्ण हो जाता है, जब बराक ओबामा जैसे ईसाई नेता अबू बक्र अल-बग़दादी जैसे स्वघोषित मुसलमानों को यह बताने का दुस्साहस करते हैं कि मुसलमान होने का क्या मतलब होता है। इस्लाम के वास्तविक सार-तत्व को लेकर उग्र वाद-विवाद निहायत ही बेमतलब है। इस्लाम का कोई तयशुदा डीएनए नहीं है। मुसलमान जिस किसी भी रूप में इस्लाम को देखते हैं, वही इस्लाम है।

जर्मनीवासी और गोरिल्ले

मानव-समुदायों को दूसरे प्राणियों की प्रजातियों से अलग करने वाला एक और भी गहरा अन्तर है। प्रजातियाँ अक्सर टूटती हैं, लेकिन उनका आपस में मिलन कभी नहीं होता। लगभग 70 लाख साल पहले चिम्पांज़ियों और गोरिल्लाओं के पूर्वज एक ही हुआ करते थे। एकल पूर्वज वाली ये प्रजातियाँ दो आबादियों में विभाजित हुईं और अन्ततः विकास के दो अलग-अलग रास्तों पर चल पड़ीं। एक बार यह होने के बाद कोई वापसी नहीं हुई। चूँकि अलग-अलग प्रजातियों के व्यक्ति मिलकर प्रजनन में सक्षम सन्तानों को जन्म नहीं दे सकते, इसलिए प्रजातियों का आपस में कभी मिलन नहीं हो सकता। गोरिल्लाओं का चिम्पांज़ियों के साथ मिलन नहीं हो सकता, जिराफ़ों का हाथियों के साथ मिलन नहीं हो सकता, और कुत्तों का बिल्लियों के साथ मिलन नहीं हो सकता।

इसके विपरीत, इंसानी क़बीले समय के साथ-साथ उत्तरोत्तर बड़े समुदायों में एक होते जाते हैं। आधुनिक जर्मनों की रचना उन सैक्सनों, प्रशियावासियों, स्वबियाइयों और बावेरियाइयों के आपस में मिलने से हुई थी, जिनको ज़्यादा दिन नहीं हुए, जब ये एक-दूसरे पर थोड़ा भी प्रेम बर्बाद नहीं करते थे। कहा जाता है कि ऑटो वॉन बिस्मार्क ने (डार्विन की पुस्तक *ऑन द ओरिजन ऑफ़ स्पिशीज़* पढ़ने के बाद) टिप्पणी की थी कि ऑस्ट्रियाई और मनुष्य के बीच बावेरियाई छूटी हुई कड़ी है। फ़्रांसीसियों की उत्पत्ति फ्रैंकों, नॉर्मनों, ब्रेतनों, गास्कॅनों और प्रोवेंसलों के आपस में मिलने से हुई थी। उधर, चैनल के उस पार, ब्रिटेनवासियों की उत्पत्ति के लिए अँग्रेज़, स्कॉट, वेल्ज़ और आयरिश (स्वेच्छापूर्वक

या अनिच्छापूर्वक) आपस में मिले थे। वह भविष्य बहुत दूर नहीं है, जब जर्मन, फ़्रांसीसी और ब्रिटेनवासी आपस में मिलकर यूरोपीय हो सकते हैं।

परस्पर विलय हमेशा टिकाऊ नहीं होता, जैसा कि लन्दन, एडिनबरा और ब्रुसेल्स के लोगों को इन दिनों बहुत तीखा अहसास है। ब्रेक्ज़िट शायद एक साथ यूनाइटेड किंगडम और यूरोपीय यूनियन, दोनों को बिखेरने की शुरुआत कर सकता है, लेकिन दीर्घकालिक स्तर पर, इतिहास की दिशा बहुत स्पष्ट होती है। दस हज़ार साल पहले मानव-जाति असंख्य अलग-थलग क़बीलों में बँटी थी। हर गुज़रती सहस्राब्दी के साथ ये क़बीले उत्तरोत्तर बड़े होते समुदायों में विलीन होते गए, और ऐसी सभ्यताएँ रचते गए, जिनके बीच के भेद उत्तरोत्तर कम होते गए। हाल की पीढ़ियों में जो थोड़ी-सी बची हुई सभ्यताएँ हैं, वे एक एकल भूमण्डलीय सभ्यता में घुलने की ओर अग्रसर हैं। राजनीतिक, प्रजातीय, सांस्कृतिक और आर्थिक विभाजन बने रहते हैं, लेकिन वे एकता की बुनियाद को कमज़ोर नहीं करते। सच तो यह है कि कुछ विभाजन सबको समाहित करने वाली एक साझा संरचना की वज़ह से ही मुमकिन हो पाते हैं। उदाहरण के लिए, अर्थव्यवस्था में श्रम-विभाजन तब तक कामयाब नहीं हो सकता, जब तक कि हर व्यक्ति एक बाज़ार साझा न करता हो। एक देश कारों के निर्माण या तेल के उत्पादन में तब तक विशेषज्ञता हासिल नहीं कर सकता, जब तक कि वह उन दूसरे देशों से खाद्यान्न ख़रीदने की स्थिति में नहीं होता, जो गेहूँ और चावल पैदा करते हैं।

मनुष्य के एकीकरण की प्रक्रिया ने दो अलग-अलग रूप लिए हैं : अलग-अलग समुदायों के बीच सम्पर्क-सूत्र स्थापित करना, और सारे समुदायों के बीच के आचार-व्यवहारों में एकरूपता लाना। सम्पर्क-सूत्र उन समुदायों के बीच तक स्थापित किए जा सकते हैं, जो बहुत अलग-अलग ढंग से व्यवहार करना जारी रखते हैं। सच तो यह है कि कट्टर शत्रुओं के बीच तक सम्पर्क-सूत्र स्थापित किए जा सकते हैं। स्वयं युद्ध भी मनुष्यों के बीच के सबसे मज़बूत रिश्तों को उत्पन्न कर सकता है। इतिहासकार अक्सर यह तर्क देते हैं कि भूमण्डलीकरण अपनी पहली ऊँचाई पर 1913 में पहुँचा था, इसके बाद विश्वयुद्धों और शीत युद्ध के युग के दौरान इसमें लम्बी गिरावट आती गई, और फिर 1989 में जाकर ही उसमें फिर से सुधार आया। आर्थिक भूमण्डलीकरण के बारे में यह बात सही हो सकती है, लेकिन इसमें सैन्य भूमण्डलीकरण की भिन्न, किन्तु उतनी ही महत्त्वपूर्ण गतिशीलता की उपेक्षा निहित है। युद्ध विचारों, प्रौद्योगिकियों और लोगों को वाणिज्य के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा तेज़ी के साथ फैलाते हैं। 1918 में संयुक्त राज्य अमेरिका यूरोप से 1913 के मुक़ाबले ज़्यादा क़रीब से जुड़ा हुआ था, इसके बाद विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में दोनों के बीच दूरी बढ़ गई, और दूसरे विश्वयुद्ध और शीतयुद्ध के माध्यम से ही उनकी नियतियाँ आपस में अटूट रूप से गुँथ सकीं।

युद्ध लोगों की एक-दूसरे के प्रति दिलचस्पी में इज़ाफ़ा भी करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका शीत युद्ध के दौरान रूस के जितने निकट सम्पर्क में रहा, उतना कभी नहीं रहा था, जब मॉस्को के गलियारे में खाँसने की हर आवाज़ पर लोग वॉशिंगटन की सीढ़ियों पर तेज़ी-से चढ़ने-उतरने लगते थे। लोग अपने शत्रुओं से उससे ज़्यादा लगाव रखते हैं, जितना वे अपने व्यापारिक साझेदारों से रखते हैं। ताइवान के बारे में अमेरिका की हरेक फ़िल्म के बदले शायद वियतनाम के बारे में उसकी लगभग पचास फ़िल्में होंगी।

मध्ययुगीन ओलम्पिक्स

इक्कीसवीं सदी की शुरुआती दुनिया विभिन्न समुदायों के बीच सम्पर्क-सूत्र स्थापित करने से बहुत आगे निकल चुकी है। अब सारे भूमण्डल के लोग न सिर्फ़ एक-दूसरे के सम्पर्क में हैं, बल्कि एक जैसे विश्वासों और आचार-पद्धतियों में उनकी आपसी साझेदारी भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। एक हज़ार साल पहले, पृथ्वी ग्रह ने दर्जनों अलग-अलग तरह के राजनीतिक मानकों के लिए उपजाऊ ज़मीन उपलब्ध कराई थी। यूरोप में आपको स्वतन्त्र नगर राज्यों तथा बहुत छोटे-छोटे धर्मतन्त्रें के साथ होड़ करती सामन्तवादी रियासतें मिल सकती थीं। मुस्लिम दुनिया की अपनी ख़िलाफ़तें थीं, जो सार्वभौमिक सम्प्रभुता का दावा करती थीं, लेकिन जो राजतन्त्रें, सल्तनतों और अमीरातों के साथ प्रयोग भी करती थीं। चीनी साम्राज्य जहाँ स्वयं को एकमात्र जायज़ राजनीतिक हस्ती के रूप में देखता था, वहीं उत्तरी और पश्चिमी क़बीलाई राज्यसंघ पूरे उल्लास के साथ एक-दूसरे से लड़ते थे। हिन्दुस्तान और दक्षिण पूर्व एशिया में राज्यसत्ताओं का एक कलाइडस्कोप समाहित था, वहीं अमेरिका, अफ़्रीका और ऑस्ट्रेलिया की राज्य-व्यवस्थाएँ छोटे-छोटे शिकारी-संग्रहकर्ता क़बीलों से लेकर विशालकाय साम्राज्यों तक फैली थीं। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पड़ोस के मानव-समुदायों को साझा कूटनीतिक कार्यपद्धतियों तक पर एकमत होने में कठिनाई होती थी, अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों की बात तो छोड़ ही दें। हर समाज के अपने राजनीतिक प्रतिमान हुआ करते थे, और उनको पराई राजनीतिक अवधारणाओं को समझने और उनका सम्मान करने में मुश्किल होती थी।

इसके विपरीत, आज सर्वत्र एक ही राजनीतिक प्रतिमान मान्य है। पृथ्वी ग्रह लगभग 200 सम्प्रभु राज्यों में विभाजित है, जो आमतौर से एक जैसी कूटनीतिक परिपाटियों और साझा अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों पर सहमत हैं। स्वीडन, नाइज़ीरिया, थाईलैंड और ब्राज़ील हमारे एटलसों पर एक ही तरह की रंगीन आकृतियों से चिह्नित हैं। वे सभी संयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं, और अपने बेशुमार फ़र्क़ों के बावजूद वे सभी समान अधिकारों और विशेषाधिकारों से युक्त सम्प्रभु राज्यों के रूप में मान्य हैं। सच तो यह है कि वे बहुत-से

राजनीतिक विचारों और दस्तूरों को साझा करते हैं, जिनमें प्रतिनिधि निकायों, राजनीतिक दलों, सार्वभौमिक मताधिकार और मानवाधिकारों में कम-से-कम सांकेतिक विश्वास शामिल हैं। तेहरान, मॉस्को, केप टाउन, और नई दिल्ली में और लन्दन तथा पेरिस में संसदें हैं। जब इज़रायली और फ़िलिस्तीनी, रूसी और उक्रेनियाई, कुर्द और तुर्क वैश्विक जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए होड़ करते हैं, तो वे सब मानवाधिकारों, राज्य की सम्प्रभुता और अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों की एक जैसी भाषा का इस्तेमाल करते हैं।

दुनिया तरह-तरह के 'नाकामयाब राज्यों' से भरी हो सकती है, लेकिन वह कामयाब राज्य के एक ही प्रतिमान को स्वीकार करती है। नतीजतन, विश्व की राजनीति इस अन्ना कैरेनिना उसूल का अनुसरण करती है : सारे सफल राज्य एक जैसे होते हैं, लेकिन हर विफल राज्य अपने निजी ढंग से विफल होता है, जिसके तहत उसमें प्रभावशाली राजनीतिक पैकेज के इस या उस अंश का अभाव होता है। इस्लामिक स्टेट हाल ही में इस पैकेज के सम्पूर्ण तिरस्कार, और एक नितान्त भिन्न क़िस्म की राजनीतिक सत्ता - एक सार्वभौमिक ख़िलाफ़त - खड़ी करने की कोशिश में सबसे अलग खड़ा दिखाई दिया है, लेकिन ठीक इसी वज़ह से वह नाकामयाब हुआ है। बहुत-सी गोरिल्ला ताक़तें और आतंकवादी संगठन किसी तरह नए मुल्कों की स्थापना करने या मौजूदा मुल्कों को फ़तह करने में सफल रहे हैं, लेकिन उन्होंने ऐसा हमेशा विश्व की राजनीतिक व्यवस्था के बुनियादी उसूलों को स्वीकार करते हुए ही किया है। यहाँ तक कि तालिबान ने भी अफ़गानिस्तान के सम्प्रभु मुल्क की जायज़ हुकूमत के तौर पर अन्तरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करने की कोशिश की थी। वैश्विक राजनीति के उसूलों का तिरस्कार करने वाला कोई भी समुदाय अब तक किसी महत्त्वपूर्ण सत्ताक्षेत्र पर कोई दीर्घकालिक नियन्त्रण हासिल नहीं कर सका है।

वैश्विक राजनीतिक प्रतिमान की क्षमता को शायद युद्ध और कूटनीति के अटल राजनीतिक सवालों को ध्यान में रखते हुए नहीं, बल्कि 2016 के रियो ओलम्पिक्स जैसी किसी चीज़ को ध्यान में रखते हुए समझा जा सकता है। ज़रा पलभर को विचार कीजिए कि उसमें खेलों का संयोजन किस तरह किया गया था। 11,000 खिलाड़ियों के प्रतिनिधिमण्डल उनके मज़हब, वर्ग या भाषा के आधार पर नहीं, बल्कि उनकी राष्ट्रीयता के आधार पर तैयार किए गए थे। उसमें कोई बौद्ध प्रतिनिधिमण्डल, सर्वहारा प्रतिनिधिमण्डल, या अँग्रेज़ी-भाषी प्रतिनिधिमण्डल नहीं था। मुट्ठीभर मामलों को छोड़कर - जिनमें सबसे ज़्यादा उल्लेखनीय ताइवान और फ़िलिस्तीन थे - खिलाड़ियों की राष्ट्रीयता का निर्धारण एक सीधा-सरल मसला था।

5 अगस्त 2016 के उद्घाटन समारोह में इन खिलाड़ियों ने अलग-अलग समूहों में मार्चपास्ट किया, जिनमें से हर समूह अपने राष्ट्रीय ध्वज को फहरा रहा था। जब भी माइकल फ़ेल्प्स एक और स्वर्ण-पदक जीतता था, तो 'स्टार-स्पेंगल्ड बैनर' (संयुक्त राज्य

अमेरिका का राष्ट्रगान) की धुन के साथ स्टार्स एंड स्ट्रिप्स (संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्र-ध्वज) को ऊँचा उठाया जाता था। जब एमिली अन्देऑल ने जूडो में स्वर्ण-पदक जीता, तो फ़्रांसीसी तिरंगा फहराया गया और 'मार्सेलिएज़' (फ़्रांस का राष्ट्रगान) बजाया गया।

दुनिया के हर देश का, उसकी ज़रूरत के मुताबिक़, एक राष्ट्र गान होता है, जो एक ही सार्वभौमिक मानक का अनुसरण करता है। लगभग सारे के सारे राष्ट्र गान ऑर्केस्ट्रा पर तैयार किए गए कुछ मिनिट लम्बे होते हैं, वे बीस मिनिट लम्बे उन कीर्तनों की तरह नहीं होते, जिनको सिर्फ़ उन पुरोहितों द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है, जो उनके गायन में परम्परागत रूप से दक्ष होते हैं। यहाँ तक कि सऊदी अरब, पाकिस्तान और कांगो जैसे मुल्कों ने भी अपने राष्ट्र गानों के लिए पश्चिमी संगीतात्मक परिपाटियों को अपनाया है। इनमें से ज़्यादातर को सुनकर लगता है, जैसे वे बीथोवेन द्वारा किसी साधारण दिन में रची गई हों। (आप कोई एक शाम अपने दोस्तों के साथ यूट्यूब पर विभिन्न राष्ट्र गानों को बजाते हुए और यह अनुमान लगाते हुए बिता सकते हैं कि उनमें से कौन-सा गान कहाँ का है।) यहाँ तक कि इनके शब्द भी सारी दुनिया में लगभग एक जैसे हैं, जो राजनीति और सामुदायिक निष्ठा की साझा अवधारणाओं की ओर संकेत करते हैं। उदाहरण के लिए, आपके हिसाब से नीचे अंकित राष्ट्र गान किस देश का है? (मैंने सिर्फ़ देश के नाम की जगह 'माई कंट्री' लिख दिया है) :

My country, my homeland ,
The land where I have shed my blood ,
It is there I stand ,
To be my motherland's guard .
My country, my nation ,
My people and my homeland ,
Let us proclaim
'My country unite !'
Long live my land, long live my state ,
My nation, my homeland, in its entirety .
Build its soul, awaken its body ,
For my great country !
My great country, independent and free
My home and my country which I love .
My great country, independent and free ,
Long live my great country !

जवाब है इंडोनेशिया, लेकिन अगर मैंने कहा होता कि इसका जवाब दरअसल पोलैंड, नाइज़ीरिया या ब्राज़ील है, तो क्या आपको आश्चर्य हुआ होता?

राष्ट्रीय झण्डे भी इसी तरह की नीरस समानता का परिचय देते हैं। एक अपवाद को छोड़कर बाक़ी सारे झण्डे कपड़े की आयताकार बनावट के होते हैं, जिन पर अत्यन्त सीमित मात्रा में रंग, पट्टियाँ और ज्यामितीय आकृतियाँ अंकित होती हैं। नेपाल एक

निराला देश है, जिसके झण्डे में दो त्रिभुज हैं। (लेकिन उसने कभी भी ओलम्पिक पदक नहीं जीता।) इंडोनेशियाई झण्डे में सफ़ेद पट्टी पर एक लाल पट्टी है। पोलैंड के झण्डे में लाल पट्टी पर एक सफ़ेद पट्टी प्रदर्शित है। मोनाको का झण्डा इंडोनेशियाई झण्डे से मिलता-जुलता है। रंगों में भेद करने में अक्षम कोई व्यक्ति बेल्ज़ियम, चाड, आइवरी कोस्ट, फ़्रांस, गिनी, आयरलैंड, इटली, माली और रोमानिया के झण्डों में बमुश्किल ही फ़र्क़ कर सकता है। इन सभी में विभिन्न रंगों की खड़ी पट्टियाँ हैं।

इनमें से कुछ देश एक-दूसरे के साथ कठोर युद्ध करते रहे हैं, लेकिन अशान्त बीसवीं सदी के दौरान युद्ध की वज़ह से सिर्फ़ तीन ओलम्पिक खेल (1916 ए 1940 और 1944 में) निरस्त किए गए थे। 1980 में संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके कुछ मित्र राष्ट्रों ने मॉस्को ओलम्पिक का बहिष्कार किया था, 1984 में सोवियत खेमे ने लॉस ऐंजेलस खेलों का बहिष्कार किया था, और कई दूसरे मौक़ों पर ओलम्पिक खेलों ने स्वयं को राजनीतिक अन्धड़ों के बीच पाया था (इनमें सबसे ज़्यादा उल्लेखनीय मौक़े हैं 1936 , जब नाज़ी जर्मनी ने इन खेलों की मेज़बानी की थी, और 1972 , जब फ़िलिस्तीनी आतंकवादियों ने म्यूनिख़ ओलम्पिक्स के इज़रायली प्रतिनिधिमण्डल का नरसंहार कर दिया था), लेकिन कुल मिलाकर, राजनीतिक विवादों ने ओलम्पिक परियोजना को पटरी से नहीं उतारा है।

अब हम 1,000 साल पहले वापस लौटते हैं। मान लीजिए कि आप 1016 में रियो में मध्ययुगीन ओलम्पिक खेलों का आयोजन करना चाहते थे। थोड़ी देर के लिए भूल जाइए कि रियो तब ट्यूपी इंडियन्स का एक छोटा-सा गाँव हुआ करता था, और यह कि एशियाइयों, अफ़्रीकियों और यूरोपियों को अमेरिका के अस्तित्व का अहसास तक नहीं था। हवाई जहाज़ों के अभाव में दुनिया के शीर्षस्थ खिलाड़ियों को रियो लाने से जुड़ी व्यवस्था-सम्बन्धी समस्याओं को भूल जाइए। इस तथ्य को भी भूल जाइए कि बहुत थोड़े-से खेल थे, जिन्हें सारी दुनिया साझा करती थी, और अगर सारे मनुष्य दौड़ भी सकते थे, तो भी दौड़-प्रतियोगिता के समान नियमों पर हर कोई सहमत नहीं हो सकता था। अब आप ख़ुद से पूछिए कि प्रतिस्पर्धी प्रतिनिधिमण्डलों के समूह किस तरह तैयार किए जाएँ। आज की अन्तरराष्ट्रीय ओलम्पिक समिति ताइवान प्रश्न और फ़िलिस्तीनी प्रश्न पर चर्चा करने में असंख्य घण्टे बिताती है। इनमें 10,000 का गुणा करिए, ताकि आप उन घण्टों का हिसाब लगा सकें, जो आपको मध्ययुगीन ओलम्पिक्स की राजनीति पर ख़र्च करने होंगे।

सबसे पहले, 1016 में चीनी साँग साम्राज्य पृथ्वी की किसी भी राजनीतिक सत्ता को अपने बराबरी के दर्ज़े पर मान्य नहीं करता था। ऐसी दशा में यह एक अकल्पनीय अपमान होता, अगर उसके ओलम्पिक प्रतिनिधिमण्डल को वही हैसियत प्रदान की जाती, जो कोर्यो के कोरियाई राज्य के प्रतिनिधिमण्डल या डाइ को विएत के वियतनामी राज्य के

प्रतिनिधिमण्डल को प्रदान की गई होती। समुद्र-पार के आदिम बर्बरों के प्रतिनिधिमण्डलों का ज़िक्र तो छोड़ ही दें।

बग़दाद का ख़लीफ़ा भी सार्वभौमिक वर्चस्व का दावा करता था, और ज़्यादातर सुन्नी मुसलमान उनको अपना सर्वोच्च नेता मानते थे, लेकिन व्यावहारिक स्तर पर, ख़लीफ़ा की बग़दाद पर नाममात्र की ही हुकूमत थी। तब फिर सारे के सारे सुन्नी खिलाड़ी एक ही ख़िलाफ़त का हिस्सा होंगे, या फिर वे सुन्नी दुनिया के कई अमीरातों और सल्तनतों के दर्जनों प्रतिनिधिमण्डलों में विभाजित होंगे? लेकिन अमीरातों और सल्तनतों पर ही क्यों रुका जाए? अरब का रेगिस्तान बहुत-से आज़ाद बेदुइन क़बीलों से भरा हुआ था, जो अल्लाह के सिवाय किसी के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करते थे। क्या इनमें से हर क़बीले को तीरन्दाज़ी या ऊँट दौड़ में प्रतिस्पर्धा करने के लिए एक अलग प्रतिनिधिमण्डल भेजने का हक़ होगा? यूरोप आपके लिए इसी तरह के कितने ही सिरदर्द पैदा करेगा। आइवरी के नॉर्मन नगर का कोई खिलाड़ी किसके बैनर तले प्रतिस्पर्धा में भाग लेगा - आइवरी के स्थानीय काउंट के या अपने लॉर्ड ड्यूक ऑफ़ नॉर्मेंडी के, या फ़्रांस के शक्तिहीन राजा के?

इनमें से बहुत-सी राजनीतिक सत्ताएँ कुछ ही सालों के भीतर प्रकट हुई थीं और ग़ायब हो गई थीं। 1016 के अपने ओलम्पिक्स की तैयारियाँ करते हुए आपको पहले से इस बात की जानकारी नहीं हो सकेगी कि कौन-सा प्रतिनिधिमण्डल आएगा, क्योंकि कोई भी व्यक्ति पक्के तौर पर यह बता पाने की स्थिति में नहीं होगा कि कौन-सी राजनीतिक सत्ता का वजूद अगले साल तक क़ायम रहेगा। अगर इंग्लैंड के राज्य ने 1016 के ओलम्पिक्स में कोई प्रतिनिधिमण्डल भेजा होता, तो खिलाड़ियों के अपने पदकों के साथ अपने देश वापस लौटने तक उनको पता चलता कि लन्दन पर अभी-अभी डेन्ज़ ने क़ब्ज़ा कर लिया था, और इंग्लैंड को डेनमार्क, नॉर्वे और स्वीडन के कुछ हिस्सों समेत किंग क्नुट द ग्रेट के नॉर्थ सी एम्पायर द्वारा निगला जा रहा था। अगले बीस सालों के भीतर वह साम्राज्य विघटित हो गया था, लेकिन तीस साल बाद इंग्लैंड को ड्यूक ऑफ़ नॉर्मेंडी द्वारा एक बार फिर से जीत लिया गया था।

कहने की ज़रूरत नहीं कि इन अल्पकालिक राजनीतिक सत्ताओं में से ज़्यादातर के पास न तो बजाने के लिए कोई राष्ट्र गान हुआ करता था, न फहराने के लिए कोई ध्वज हुआ करता था। बेशक, राजनीतिक प्रतीक बहुत ज़्यादा महत्त्व रखते थे, लेकिन यूरोपीय राजनीति की प्रतीकात्मक भाषा इंडोनेशियाई, चीनी या ट्यूपी राजनीतियों की प्रतीकात्मक भाषा से बहुत अलग हुआ करती थी। विजय का जश्न मनाने के लिए किसी साझा प्रोटोकॉल पर एकमत होना लगभग नामुमकिन होता।

इसलिए जब आप 2020 में टोक्यो खेलों को देख रहे हों, तो यह याद रखें कि राष्ट्रों के बीच की यह दिखावटी प्रतिस्पर्धा दरअसल, एक विस्मयकारी वैश्विक सहमति का प्रतिनिधित्व करती है। किसी देश के प्रतिनिधिमण्डल द्वारा स्वर्ण-पदक जीतना और उसके

राष्ट्रीय ध्वज को ऊँचा उठाया जाना वहाँ के लोगों के लिए जितना राष्ट्रीय गर्व का विषय है, उससे ज़्यादा गर्व का विषय यह है कि मानव-जाति इस तरह का कार्यक्रम आयोजित करने में सक्षम है।

उन सब पर हुकूमत करने के लिए एक डॉलर

आधुनिकता से पहले के युगों में मनुष्यों ने न सिर्फ़ विभिन्न क़िस्म की राजनीतिक प्रणालियों को आज़माया था, बल्कि अर्थव्यवस्था के ढाँचों की विस्मयकारी क़िस्मों को भी आज़माया था। रूसी कुलीन वर्ग, हिन्दू महाराजाओं, चीनी हाकिमों और अमेरिकी क़बीलों के मुखियाओं की पैसे, व्यापार, कराधान और रोज़गार के बारे में बहुत अलग-अलग तरह की धारणाएँ थीं। आज, इसके विपरीत, लगभग हर कोई एक ही तरह के प्रमुख पूँजीवादी विचार के मामूली-से भिन्न रूपों में विश्वास रखता है, और हम सब एक ही वैश्विक उत्पादन चक्र के दाँते हैं। आप चाहे कांगो में रहते हों या मंगोलिया में, न्यू ज़ीलैंड में रहते हों या बोलीविया में, आपकी दिनचर्या और आर्थिक अवसर एक ही तरह के आर्थिक सिद्धान्तों, एक ही तरह के व्यावसायिक प्रतिष्ठानों और बैंकों, और पूँजी के एक ही तरह के रुझानों पर निर्भर करते हैं। अगर इज़रायल और ईरान के वित्त मन्त्री लंच पर मिलने वाले होंगे, तो वे एक साझा आर्थिक ज़बान का इस्तेमाल कर रहे होंगे, और वे एक-दूसरे की चिन्ताओं को बहुत आसानी के साथ समझ सकेंगे और उनके प्रति सहानुभूति रख सकेंगे।

जब इस्लामिक स्टेट ने सीरिया और इराक़ के बड़े हिस्सों को जीता था, तो उसने दसियों हज़ार लोगों का क़त्ल कर दिया था, वहाँ के पुरातात्त्विक स्थलों को ध्वस्त कर दिया था, मूर्तियों को गिरा दिया था, और पहले की शासन-प्रणालियों के और पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभाव के प्रतीकों को एक-एक करके नष्ट कर दिया था। लेकिन जब उसके लड़ाकों ने स्थानीय बैंकों में प्रवेश किया और वहाँ अमेरिकी राष्ट्रपतियों के चेहरों तथा अमेरिका के राजनीतिक और मज़हबी आदर्शों की प्रशंसा करते नारों से ढँके अमेरिकी डॉलरों के गुप्त ख़ज़ानों को देखा, तो उन्होंने अमेरिकी साम्राज्यवाद के इन प्रतीकों को नहीं जलाया, क्योंकि डॉलर नोट तमाम राजनीतिक और मज़हबी सरहदों के आर-पार सार्वभौमिक रूप से पूजा जाता है। यद्यपि इसका कोई अन्तर्निहित मूल्य नहीं है - आप डॉलर नोट को खा या पी नहीं सकते - तब भी डॉलर और फ़ैडरल रिज़र्व की प्रज्ञा में विश्वास इतना दृढ़ होता है कि इस्लामी कट्टरपन्थी, मैक्सिको के ड्रग सरदार और उत्तर कोरिया के आततायी, सभी इस विश्वास को साझा करते हैं।

लेकिन समकालीन मनुष्यता की एकरूपता सबसे ज़्यादा तब ज़ाहिर होती है, जब कुदरती दुनिया और मानवीय काया के बारे में हमारे दृष्टिकोण का प्रश्न उठता है। अगर

आप एक हज़ार साल पहले बीमार पड़ते थे, तो यह बात बहुत ज़्यादा मायने रखती थी कि आप कहाँ रहते थे। यूरोप में स्थानीय पादरी शायद आपसे कहता कि आपने ईश्वर को नाराज़ कर दिया है, और फिर से चंगा होने के लिए आपको चर्च में कुछ दान करना चाहिए, कोई तीर्थ-यात्रा करनी चाहिए, और सच्चे मन से ईश्वर की प्रार्थना करते हुए उससे क्षमा-याचना करनी चाहिए या यह भी हो सकता था कि गाँव की जादूगरनी आपको समझाती कि आप पर किसी दुष्ट आत्मा का साया है, और आपको गीत, नृत्य और काले मुर्गे के ख़ून का इस्तेमाल करते हुए इस दुष्टात्मा के साये से छुटकारा पाना चाहिए।

मध्य पूर्व में शास्त्रीय परम्पराओं में दीक्षित हकीम आपको समझा सकते थे कि आपके शारीरिक रसायनों का सन्तुलन बिगड़ गया है, और आपको समुचित पथ्य और बदबूदार औषधियों का सेवन कर इन रसायनों के बीच सामंजस्य बैठाना चाहिए। हिन्दुस्तान में, आयुर्वेद में दीक्षित वैद्य आपको दोषों के नाम से ज्ञात शारीरिक तत्वों के बीच सन्तुलन से सम्बन्धित अपने सिद्धान्त पेश करता, और आपको जड़ी-बूटियों, मालिश और योगासनों की चिकित्सा का परामर्श देता। चीनी चिकित्सक, साइबेरियाई शमन, अफ़्रीकी ओझा, अमेरिंडिया के जादुई चिकित्सक - हर साम्राज्य, राज्य और क़बीले की अपनी परम्पराएँ और विशेषज्ञ हुआ करते थे, जिनमें से हरेक मनुष्य की काया और बीमारी की प्रकृति के बारे में अलग-अलग दृष्टिकोणों का पक्षधर हुआ करता था, और अनुष्ठानों, अजीबोग़रीब मिश्रणों और चिकित्साओं के अपने-अपने ख़ज़ाने पेश करता था। इसमें से कुछ आश्चर्यजनक ढंग से कारगर साबित होते थे, जबकि कुछ छोटा-मोटा मौत का पैग़ाम साबित होते थे। जो एकमात्र चीज़ यूरोपीय, चीनी, अफ़्रीकी और अमेरिकी चिकित्सा-पद्धतियों को एकीकृत करती थी, वह यह थी कि हर कहीं कम-से-कम एक-तिहाई बच्चे वयस्क होने के पहले ही मर जाते थे, और औसत आयु-सीमा पचास से बहुत नीचे हुआ करती थी।

आज, अगर आप बीमार पड़ते हैं, तो इससे बहुत कम फ़र्क़ पड़ता है कि आप कहाँ रहते हैं। टोरंटो, टोक्यो, तेहरान, या तेल अवीव में आप एक-जैसे दिखने वाले अस्पतालों में ले जाए जाएँगे, जहाँ आप सफ़ेद कोटधारी डॉक्टरों से मिलेंगे, जिन्होंने एक जैसे चिकित्सा-महाविद्यालयों में एक जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया होगा। वे एक-जैसे क़ायदों का पालन करेंगे और एक-जैसी जाँचों की मार्फ़त रोग के एक जैसे निदानों तक पहुँचेंगे। इसके बाद वे एक-जैसी अन्तरराष्ट्रीय दवा-निर्माता कम्पनियों द्वारा तैयार की गई एक-जैसी दवाएँ लिखेंगे। कुछ छोटे-मोटे सांस्कृतिक भेद अभी भी बने हुए हैं, लेकिन कनाडाई, जापानी, ईरानी और इज़रायली चिकित्सक इंसानी शरीर और इंसानी बीमारियों के बारे में एक-जैसे दृष्टिकोण रखते हैं। जब इस्लामिक स्टेट ने रक़्क़ा और मोसूल पर क़ब्ज़ा कर लिया था, तो उसने वहाँ के स्थानीय अस्पतालों को ध्वस्त नहीं किया था। इसकी बजाय, उसने दुनियाभर के मुसलमान डॉक्टरों और नर्सों से वहाँ आकर अपनी

स्वैच्छिक सेवाएँ देने का आह्वान किया था। शायद इस्लामपरस्त डॉक्टर और नर्सें तक इस बात में विश्वास करते हैं कि शरीर की रचना कोशिकाओं से हुई है, बीमारियाँ रोगाणुओं की वज़ह से होती हैं, और एंटीबायोटिक्स बैक्टीरिया को मार देते हैं।

और ये कोशिकाएँ और बैक्टीरिया किस चीज़ से बनते हैं? बल्कि ये कि सारी दुनिया ही किस चीज़ से बनी है? एक हज़ार साल पहले सृष्टि के बारे में, और इस ब्रह्माण्डीय सूप को तैयार करने वाली एक-एक बुनियादी चीज़ के बारे में हर संस्कृति का अपना एक क़िस्सा हुआ करता था। आज सारी दुनिया के ज्ञानी लोग पदार्थ, ऊर्जा, देश और काल के बारे में बिल्कुल एक ही तरह की बातों में विश्वास करते हैं। उदाहरण के लिए ईरानी और उत्तर कोरियाई परमाणु कार्यक्रमों को ही लें। सारी समस्या यह है कि ईरानी और उत्तर कोरियाई भौतिकी के बारे में ठीक वही दृष्टिकोण रखते हैं, जो इज़रायली और अमेरिकी रखते हैं। अगर ईरानी और उत्तर कोरियाई इस बात पर विश्वास रखते होते कि $E = MC^4$, तो इज़रायल और संयुक्त राज्य अमेरिका उनके परमाणु कार्यक्रमों को लेकर रत्ती-भर परवाह न करते।

लोगों के मज़हब और राष्ट्रीय पहचानें अभी भी अलग-अलग हैं, लेकिन जब किसी व्यावहारिक मसले का सवाल पैदा होता है - जैसे कि कोई राज्य-व्यवस्था, कोई अर्थव्यवस्था, कोई अस्पताल, या एक बम कैसे तैयार किया जाए - तो लगभग हम सभी एक ही तरह की सभ्यता के निवासी हो जाते हैं। बेशक, असहमतियाँ हैं, लेकिन आन्तरिक विवाद तो सारी सभ्यताओं में हैं। सच तो यह है कि वे परिभाशित ही इन विवादों से होती हैं। उनकी पहचान का ख़ाका खींचने की कोशिश करते हुए लोग अक्सर साझा लक्षणों की किराने के सामान जैसी एक फ़ेहरिस्त तैयार करते हैं। यह एक भूल है। अगर साझा तक़रारों और दुविधाओं की फ़ेहरिस्त तैयार करें, तो वे ज़्यादा बेहतर स्थिति में होंगे। उदाहरण के लिए, 1618 में यूरोप की कोई एक मज़हबी पहचान नहीं थी - मज़हबी तक़रार ही उसकी पहचान थी। 1618 में यूरोपीय होने का अर्थ कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों या कैल्विनिस्टों और लुथेरिनों के बीच के छोटे-छोटे सैद्धान्तिक मतभेदों से त्रस्त रहना, और इन मतभेदों की ख़ातिर मारने और मरने के लिए तैयार रहना था। अगर कोई इंसान 1618 में इन टकरावों की परवाह नहीं करता था, तो वह व्यक्ति सम्भवतः या तो कोई तुर्क होता था या कोई हिन्दू, लेकिन वह यूरोपीय तो निश्चय ही नहीं होता था।

इसी तरह 1940 में ब्रिटेन और जर्मनी के बहुत अलग-अलग राजनीतिक मूल्य थे, तब भी वे दोनों 'यूरोपीय सभ्यता' के अपरिहार्य अंग थे। हिटलर चर्चिल से कम यूरोपीय नहीं था, बल्कि, उनके बीच संघर्ष ही इस बात को परिभाशित करता था कि इतिहास के उस ख़ास मोड़ पर यूरोपीय होने का क्या अर्थ था। इसके विपरीत, एक !कुंग शिकारी-संग्रहकर्ता 1940 में यूरोपीय नहीं था, क्योंकि नस्ल और साम्राज्य के बारे में यूरोप के अन्दरूनी टकराव उसके लिए कोई ख़ास मायने नहीं रखते थे।

जिन लोगों से हम सबसे ज़्यादा लड़ते हैं, वे अक्सर हमारे अपने परिवार के सदस्य होते हैं। पहचान सहमतियों की बजाय टकरावों और कशमकशों से ज़्यादा परिभाशित होती है। 2018 में यूरोपीय होने का क्या अर्थ है? इसका मतलब गोरी चमड़ी का होना, ईसा मसीह में विश्वास करना, या आज़ादी का समर्थन करना नहीं है। इसकी बजाय, इसका मतलब दूसरे देश के नागरिकों के अपने देश में आ बसने के बारे में, यूरोपीय यूनियन के बारे में, और पूँजीवाद की मर्यादाओं के बारे में ज़ोरदार ढंग से बहस करना है। उसका मतलब ख़ुद से पागलों की तरह यह पूछना है कि ‘वह क्या चीज़ है, जो मेरी पहचान को परिभाशित करती है?’ और एक बुढ़ाती हुई आबादी को लेकर, अनियन्त्रित उपभोक्तावाद को लेकर और भूमण्डल के बढ़ते हुए ताप को लेकर चिन्तित होना भी है। इक्कीसवीं सदी के यूरोपीय अपने टकरावों और कशमकशों में 1618 और 1940 के अपने पूर्वजों से भिन्न हैं, लेकिन अपने चीनी और हिन्दुस्तानी व्यापारिक साझेदारों से उत्तररोत्तर मिलते-जुलते हैं।

भविष्य में जो भी कोई परिवर्तन हमारा इन्तज़ार कर रहे हों, सम्भावना यही है कि वे विजातीय सभ्यताओं के बीच के टकराव की बजाय एक ही सभ्यता के भीतर के आपसी संघर्षों का परिणाम होंगे। इक्कीसवीं सदी की बड़ी चुनौतियाँ अपनी प्रकृति में वैश्विक होंगी। तब क्या होगा, जब जलवायु-परिवर्तन पारिस्थितिकीय तबाहियों का कारण बनेगा? तब क्या होगा, जब कम्प्यूटर ज़्यादा से ज़्यादा कामों में इंसानों को पीछे छोड़ने लगेंगे, और रोज़गारों में उत्तरोत्तर उनकी जगह लेने लगेंगे? तब क्या होगा, जब जैवप्रौद्योगिकी इंसानों को उन्नत रूप देने और उनका जीवन-काल बढ़ाने में हमें सक्षम बना देगी? इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सवालों को लेकर हमारे बीच भारी बहसें हों और तीखे टकराव हों, लेकिन इसकी कोई सम्भावना नहीं कि ये टकराव हमें एक-दूसरे से अलग कर दें। स्थिति इसके ठीक उलट होगी। ये हमें एक-दूसरे पर और भी निर्भर बना देंगे, हालाँकि मानव-जाति एक सामंजस्यपूर्ण समुदाय की रचना कर पाने से बहुत दूर है, तब भी हम सब एक ही झगड़ालू सभ्यता के सदस्य हैं।

तब फिर उस राष्ट्रवादी लहर को किस तरह समझा जाए, जो दुनिया के ज़्यादातर हिस्से में फैलती जा रही है? कहीं ऐसा तो नहीं कि भूमण्डलीकरण के अपने उत्साह में हमने अच्छे पुराने राष्ट्रों को ख़ारिज़ कर देने के मामले में कुछ ज़्यादा ही जल्दबाज़ी दिखाई हो? क्या पारम्परिक राष्ट्रवाद की ओर वापसी हमारे निराशाजनक वैश्विक संकटों का समाधान हो सकती है? अगर भूमण्डलीकरण अपने साथ इतनी सारी समस्याएँ लेकर आया है, तो इसको त्याग ही क्यों न दिया जाए?

7

राष्ट्रवाद

वैश्विक समस्याएँ वैश्विक जवाबों की माँग करती है

सारी मानव-जाति अब एक सभ्यता बन गई है, जिसमें सारे समाज समान चुनौतियों और अवसरों को साझा करते हैं। तब भी अँग्रेज़, अमेरिकी, रूसी और दूसरे बहुत-से समुदाय उत्तरोत्तर राष्ट्रवादी अलगाव का पक्ष ले रहे हैं। क्या यह भूमण्डलीकृत दुनिया की अपूर्व समस्याओं का समाधान हो सकता है?

इस सवाल का जवाब पाने के लिए हमें सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि आज के राष्ट्रीय-राज्य (नेशन-स्टेट) मानवीय जैविकी के शाश्वत अंग या मानव-मनोविज्ञान का अपरिहार्य परिणाम नहीं हैं। 5000 साल पहले कोई इताल्वी, रूसी या तुर्क नहीं थे। यह सही है कि मनुष्य पूरी तरह से सामाजिक प्राणी हैं, और सामुदायिक निष्ठा हमारे जीन्स में अंकित है, लेकिन, लाखों सालों तक मनुष्य बड़े-बड़े राज्यों की बजाय छोटे-छोटे आत्मीय समुदायों में रहे हैं।

अन्ततः *होमो सेपियन्स* ने बड़े पैमाने के आपसी सहकार के आधार के तौर पर संस्कृति का इस्तेमाल करना सीख लिया, जो कि हमारी प्रजाति की सफलता का रहस्य है, लेकिन संस्कृतियाँ लचीली होती हैं। इसलिए चींटियों और चिम्पांज़ियों से भिन्न, सेपियन्स स्वयं को बदलती परिस्थितियों के अनुरूप बहुत-से अलग-अलग ढंगों से संगठित कर सकते हैं। राष्ट्र-राज्य सेपियन्स की फ़ेहरिस्त का सिर्फ़ एक विकल्प है। दूसरे विकल्पों में क़बीले, नगर-राज्य, साम्राज्य, चर्चें और व्यावसायिक प्रतिष्ठान शामिल हैं। भविष्य में, किसी तरह का भूमण्डलीय संघ (ग्लोबल यूनियन) भी व्यावहारिक साबित हो सकता है, बशर्ते कि उसकी पर्याप्त रूप से मज़बूत सांस्कृतिक बुनियादें हों। हमारी जानकारी में समुदाय के आकार की ऐसी कोई अधिकतम सीमा नहीं है, जिसके साथ लोग तादात्म्य

बैठा सकते हों। आज के समय के ज़्यादातर राष्ट्रों में 10,000 साल पहले की दुनिया की समूची आबादी से ज़्यादा लोग शामिल हैं।

लोगों को राष्ट्र-राज्य जैसे विशाल समुदायों का गठन इसलिए करना पड़ा, क्योंकि उनको ऐसी चुनौतियों और अवसरों का सामना करना पड़ा, जिनसे कोई छोटा क़बीला नहीं निपट सकता था। उदाहरण के लिए, उन प्राचीन क़बीलों को लें, जो हज़ारों साल पहले नील नदी के तटों पर रहते थे। यह नदी उनके जीवन का आधार हुआ करती थी। यह उनके खेतों को सींचती थी और उनके वाणिज्य का प्रसार करती थी, लेकिन वह एक ऐसी साथी थी, जिसके स्वभाव आदि के बारे में पहले से कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। बहुत कम बारिश हुई - और लोगों को भूखों मरना पड़ता था : बहुत ज़्यादा बारिश हुई - और नदी की बाढ़ गाँव के गाँव तबाह कर देती थी। कोई भी क़बीला अपने अकेले की दम पर इस समस्या का समाधान नहीं कर सकता था, क्योंकि हर क़बीले का नदी के एक छोटे-से हिस्से पर नियन्त्रण होता था और वह कुछ हज़ार से ज़्यादा मज़दूरों को एकजुट कर काम पर नहीं लगा सकता था। विशाल बाँधों का निर्माण करने और सैकड़ों किलोमीटर लम्बी नहरें खोदने के साझा उद्यम से ही इस महाबलशाली नदी को क़ाबू में किया जा सकता था और उसको जोता जा सकता था। यही एक वज़ह थी, जिससे ये क़बीले धीरे-धीरे एक ऐसे राष्ट्र के रूप में एकजुट होते गए, जिसमें बाँधों और नहरों के निर्माण, नदी के प्रवाह को नियन्त्रित करने, मन्दी के वर्षों के लिए खाद्यान्न का भण्डारण करने, और परिवहन तथा संचार की एक देशव्यापी व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता थी।

इन सुविधाओं के बावजूद, क़बीलों और कुटुम्बों को एक एकल राष्ट्र में रूपान्तरित करना कभी भी आसान काम नहीं था, न प्राचीन युगों में था और न आज है, क्योंकि राष्ट्रवाद के दो हिस्से होते हैं, एक आसान, और दूसरा बहुत मुश्किल। आसान हिस्सा है हम जैसे लोगों को विदेशियों पर वरीयता देना। यह काम मनुष्य लाखों वर्षों से करते आ रहे हैं। विदेशी लोगों को पसंद न करना हमारे डीएनए में है।

राष्ट्रवाद का मुश्किल हिस्सा है कभी-कभी अजनबियों को दोस्तों और सम्बन्धियों पर वरीयता देना। उदाहरण के लिए, एक अच्छा देशभक्त ईमानदारी से कर चुकाता है, ताकि मुल्क के दूसरे हिस्से के अज्ञात बच्चों को अच्छी राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा का लाभ मिल सके, भले ही इसकी वज़ह से वह ख़ुद अपने बच्चों की महँगे निजी अस्पतालों में चिकित्सा न करा सके। इसी तरह, एक देशभक्त अधिकारी अच्छी नौकरियाँ अपने ख़ुद के भाइयों-भतीजों की बजाय सबसे ज़्यादा योग्य आवेदकों को देता है। यह चीज़ विकास-प्रक्रिया के लाखों वर्षों के विरोध में जाती है। करों से बचना और भाई-भतीजावाद हमें कुदरत से मिले हुए हैं, लेकिन राष्ट्रवाद इनको 'भ्रष्ट' कहता है। लोग इस तरह के भ्रष्टाचार को त्याग दें और राष्ट्रीय हितों को पारिवारिक रिश्तों से ऊपर रखें, इसके लिए राष्ट्रों को शिक्षा, प्रचार और

झण्डा लहराने के साथ ही स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण की राष्ट्रीय व्यवस्थाओं जैसे विशालकाय तन्त्र खड़े करने पड़े।

इस बात को समझने के लिए कि ऐसे एक राष्ट्र के साथ तादात्म्य स्थापित करना कितना मुश्किल काम है, आपको ख़ुद से सिर्फ़ यह सवाल पूछने की ज़रूरत होती है कि "क्या मैं इन लोगों को जानता हूँ?" मैं अपनी दो बहनों और ग्यारह भतीजों-भतीजियों के नाम बता सकता हूँ और उनकी शख़्सियतों, विचित्रताओं और सम्बन्धों पर पूरे दिन बात कर सकता हूँ? लेकिन मैं उन 80 लाख लोगों के नाम नहीं बता सकता, जो मेरी इज़रायली नागरिकता को साझा करते हैं। मैं इनमें से अधिकांश लोगों से कभी मिला नहीं हूँ, और इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि भविष्य में भी मैं इनसे मिलूँगा। इसके बावजूद इस धुँधले-से जन-समूह के प्रति वफ़ादारी महसूस करने की मेरी क़ाबिलियत हाल के इतिहास का एक चमत्कार है।

इसका मतलब यह नहीं है कि राष्ट्रीय बन्धनों में कोई बुराई है। जन-सामुदायिक वफ़ादारियों के बिना विशाल व्यवस्थाएँ काम नहीं कर सकती हैं, और मानवीय सहानुभूति के दायरे को विस्तार देने की निश्चय ही अपनी ख़ूबिया हैं। देशभक्ति के हल्के-फुल्के रूप मनुष्य के सबसे ज़्यादा परोपकारी कृत्यों में शामिल हैं। यह विश्वास कि मेरा राष्ट्र अनूठा है, यह मेरी निष्ठा का पात्र है, और इसमें रहने वाले लोगों के प्रति मेरे कुछ ख़ास कर्तव्य हैं। यह मुझे दूसरे लोगों की चिन्ता करने के लिए और उनके पक्ष में त्याग करने के लिए प्रेरित करता है। यह कल्पना करना एक ख़तरनाक भूल है कि राष्ट्रवाद के बिना हम सब उदारवादी स्वर्ग में रह रहे होते। ज़्यादा सम्भावना यही है कि हम क़बीलाई अराजकता में रह रहे होते, ख़ासतौर से, लोकतन्त्र वास्तव में राष्ट्रवाद के बिना काम नहीं कर सकता। लोग आमतौर से लोकतान्त्रिक चुनावों के फ़ैसले को तभी स्वीकार करना पसन्द करते हैं, जब सारे राजनीतिक दल एक समान राष्ट्रीय निष्ठाओं को साझा करते हैं। स्वीडन, जर्मनी और स्विट्ज़रलैंड जैसे शान्तिपूर्ण, समृद्ध और उदार सारे देशों में राष्ट्रवाद का एक गहरा बोध मौजूद है। मज़बूत राष्ट्रीय बन्धनों के अभाव के शिकार मुल्कों की फ़ेहरिस्त में अफ़गानिस्तान, सोमालिया, कांगो और ज़्यादातर दूसरे विफल राज्य शामिल हैं। समस्या तब शुरू होती है, जब सौम्य देशभक्ति अन्धभक्तिपूर्ण उग्र-राष्ट्रवाद का रूप ले लेती है। इस विश्वास के बजाय कि मेरा राष्ट्र अनूठा है (जो कि सारे राष्ट्रों के सन्दर्भ में सच है), मैं यह महसूस करने लग सकता हूँ कि मेरा राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है, वह मेरी समूची निष्ठा का हक़दार है, और अन्य किसी के प्रति मेरे कोई ख़ास कर्तव्य नहीं हैं। यह अहसास हिंसक टकरावों के लिए सबसे उपजाऊ ज़मीन है। कई पीढ़ियों तक राष्ट्रवाद की सबसे बुनियादी आलोचना यही हुआ करती थी कि यह युद्ध की ओर ले जाता है, लेकिन राष्ट्रवाद और हिंसा के बीच के सूत्र ने राष्ट्रवादी अतियों पर कोई ख़ास लगाम नहीं लगाई, ख़ासतौर से इसलिए कि हर राष्ट्र ने अपने सैन्य विस्तार को अपने पड़ोसियों की साजिश के ख़िलाफ़ अपने बचाव की

ज़रूरत कहकर उचित ठहराया। जब तक राष्ट्र अपने नागरिकों को अपूर्व स्तर की सुरक्षा और समृद्धि उपलब्ध कराते रहे, तब तक वे अपने ख़ून से उसकी क़ीमत चुकाने को इच्छुक बने रहे। उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी की शुरुआत में राष्ट्रवादी सौदा आकर्षक प्रतीत होता रहा। यद्यपि राष्ट्रवाद अपूर्व स्तर पर भीषण टकरावों की ओर ले जा रहा था, तब भी आधुनिक राष्ट्र-राज्यों ने स्वास्थ्य-सेवा, शिक्षा और कल्याण की विशाल व्यवस्थाएँ खड़ी की थीं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवाओं की वज़ह से पैशनडेल और वर्दुन उचित प्रतीत होने लगे।

स्थितियों में बदलाव आया 1945 में। परमाणु शस्त्रों के आविष्कार ने राष्ट्रवादी सौदे के सन्तुलन को तेज़ी से डगमगा दिया। हिरोशिमा के बाद लोगों को यह ख़ौफ़ नहीं रह गया कि राष्ट्रवाद महज़ युद्ध का कारण बनेगा - उनको यह ख़ौफ़ सताने लगा कि वह *परमाणु युद्ध* का कारण बनेगा। सम्पूर्ण विनाश अक्सर लोगों के दिमाग़ को तेज़ कर देता है, और इस साझा अस्तित्वपरक ख़तरे को लेकर बरती गई ख़ासी सावधानियों की वज़ह से विभिन्न राष्ट्रों के अलावा एक वैश्विक समुदाय धीरे-धीरे विकसित होता गया, सिर्फ़ इस तरह का समुदाय ही इस परमाणु दैत्य को नियन्त्रित कर सकता था।

1964 में अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव के प्रचार अभियान में लिंडन बी. जॉनसन ने प्रसिद्ध डेज़ी विज्ञापन का प्रसारण किया था, जो टेलीविज़न के इतिहास में प्रचार की एक सबसे कामयाब मिसाल थी। इस विज्ञापन की शुरुआत एक छोटी-सी लड़की द्वारा डेज़ी फूल की पंखुड़ियाँ चुनने और उनको गिनने के साथ होती है, लेकिन जब वह दस की संख्या पर पहुँचती है, तो एक कठोर पुरुष-स्वर उसकी जगह ले लेता है, और दस से शून्य तक की उस तरह की उलटी गिनती गिनने लगता है, जैसी मिसाइल छोड़ते समय गिनी जाती है। शून्य पर पहुँचने पर परमाणु विस्फ़ोट की तीखी चमक पर्दे को भर देती है, और प्रत्याशी जॉनसन अमेरिकी जनता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, “ये चीज़ें हैं, जो दाँव पर लगी हैं। एक ऐसी दुनिया का निर्माण जिसमें ईश्वर के सारे बच्चे रह सकें, या उनको अँधेरे में समा जाना होगा। हमें या तो एक-दूसरे को प्रेम करना होगा, या मर जाना होगा।” हम ‘प्रेम करो, युद्ध नहीं’ के नारे को 1960 के दशक के बाद के वर्षों की प्रति संस्कृति से जोड़कर देखने के अभ्यस्त हैं, लेकिन दरअसल 1964 में ही यह जॉनसन जैसे सख़्त राजनेताओं तक के बीच एक मान्य बुद्धिमत्ता बन चुकी थी।

परिणामतः, शीतयुद्ध के दौरान अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के प्रति एक अधिक वैश्विक दृष्टिकोण की ख़ातिर राष्ट्रवाद अपनी मुख्य भूमिका से पीछे हट गया, और जब शीतयुद्ध समाप्त हो गया, तो भूमण्डलीकरण भविष्य की अपरिहार्य लहर प्रतीत होने लगा। उम्मीद की गई थी कि मानव-जाति राष्ट्रवादी राजनीति को पूरी तरह से पीछे छोड़ देगी, उसे अपेक्षाकृत आदिम युग के एक ऐसे अवशेष की तरह देखते हुए जो बहुत-से-बहुत मुट्ठी-भर अविकसित देशों के अज्ञानी बाशिन्दों को ही आकर्षित कर सकेगा, लेकिन हाल के वर्षों

की घटनाओं ने साबित कर दिया है कि रूस, हिन्दुस्तान और चीन को तो छोड़ ही दें, यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका तक के नागरिकों पर राष्ट्रवाद की अब भी मज़बूत पकड़ बनी हुई है। भूमण्डलीय पूँजीवाद की भावशून्य ताक़तों द्वारा अलग-थलग कर दिए गए, और स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कल्याण की राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की नियति से भयभीत दुनियाभर के लोग राष्ट्र के आँचल में आश्वासन और अर्थ तलाश रहे हैं।

तब भी जॉनसन द्वारा डेज़ी विज्ञापन में उठाया गया सवाल आज उससे भी ज़्यादा मुनासिब है, जितना वह 1964 में था। क्या हम एक ऐसी दुनिया का निर्माण करेंगे, जिसमें सारे मनुष्य मिल-जुलकर रह सकेंगे, या फिर हम अँधेरे में समा जाएँगे? क्या डोनाल्ड ट्रम्प, थेरेसा मे, व्लादिमीर पुतिन, नरेन्द्र मोदी और उनके साथी हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को भड़काकर दुनिया की रक्षा कर पाएँगे, या फिर यह मौजूदा राष्ट्रवादी आवेश उन बेक़ाबू भूमण्डलीय समस्याओं से मुँह चुराने का एक ढंग है, जिनका सामना हम कर रहे हैं?

क़िलों का नेटवर्क

जहाँ राष्ट्रवाद के पास किसी ख़ास देश को संचालित करने के बारे में बहुत-से अच्छे विचार हैं, वहीं दुर्भाग्य से दुनिया का उसकी समग्रता में संचालित करने के बारे में उसके पास अमल में लाई जा सकने योग्य कोई योजना नहीं है। उदाहरण के लिए, तुर्क राष्ट्रवाद तुर्की के मसलों को सँभालने के लिए एक उचित मार्गदर्शक हो सकता है, लेकिन उसके पास ऐसा कुछ भी ख़ास नहीं है, जो वह बाक़ी की मनुष्यता को दे सकता हो। बेशक, तभी तक जब तक कि राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का रूप नहीं ले लेता, और एक राष्ट्र द्वारा समूची दुनिया को जीत लेने और उस पर हुकूमत करने का आह्वान नहीं करता। एक सदी पहले, कई राष्ट्रवादी आन्दोलनों ने सचमुच ही ऐसी महत्त्वाकांक्षाएँ पाल रखी थीं। आज के राष्ट्रवादी, वे चाहे तुर्की के हों, रूस के हों या चीन के, अभी तक विश्व विजय की पैरवी करने से बचते हैं।

बलपूर्वक एक भूमण्डलीय साम्राज्य खड़ा करने की जगह, स्टीव बेनॉन, विक्तोर ऑर्बन, इताल्वी सेगा और अँग्रेज़ ब्रेक्ज़िटवादियों जैसे कुछ राष्ट्रवादी एक शान्तिपूर्ण “राष्ट्रवादी अन्तरराष्ट्रीयता” (“नेशनलिस्ट इंटरनेशनल) का ख़्वाब देखते हैं। उनका तर्क है कि सारे राष्ट्र आज एक ही तरह के शत्रुओं का सामना कर रहे हैं। भूमण्डलीकरण, बहुसंस्कृतिवाद और अप्रवासन (इमिग्रेशन) के हौअे सारे राष्ट्रों की परम्पराओं और पहचानों को नष्ट कर देने का ख़तरा पैदा कर रहे हैं। इसलिए सारी दुनिया के राष्ट्रवादियों को इन वैश्विक ताक़तों के विरोध को अपना साझा अभियान बनाना चाहिए। हंगेरियाइयों, इताल्वियों, तुर्कों और इज़रायलियों को दीवारें खड़ी कर लेनी चाहिए, बाड़ें लगा लेनी

चाहिए और लोगों, माल, पैसे और विचारों की आवाजाही की रफ़्तार को कम करना चाहिए।

तब दुनिया ऐसे विशिष्ट राष्ट्र-राज्यों में विभाजित हो जाएगी, जिनमें से हर एक की अपनी पवित्र पहचान और परम्पराएँ होंगी। इन अलहदा पहचानों के पारस्परिक सम्मान के आधार पर सारे राष्ट्रीय-राज्य एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक सहयोग और व्यापार कर सकेंगे। हंगरी हंगेरियाई होगा, तुर्की तुर्क होगा, इज़रायल इज़रायली होगा, और हर किसी को मालूम होगा कि वे कौन हैं, और दुनिया में उनकी सही जगह क्या है। यह दूसरे मुल्कों से आ बसने वालों से रहित, सार्वभौमिक मूल्यों से रहित, बहुसंस्कृतिकतावाद से रहित, और वैश्विक कुलीन वर्ग से रहित दुनिया होगी - लेकिन शान्तिपूर्ण अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों और थोड़े-से व्यापार से युक्त दुनिया होगी। एक शब्द में कहें तो, 'राष्ट्रवादी अन्तरराष्ट्रीयता' दुनिया की कल्पना दीवारों-से-घिरी-किन्तु-दोस्ताना क़िलेबन्दियों के एक ताने-बाने के रूप में करती है।

इस परिकल्पना की मुख्य समस्या यह है कि क़िलेबन्दियाँ दोस्ताना शायद ही कभी होती हैं। हर राष्ट्रवादी क़िला अपने लिए अपने पड़ोसी की क़ीमत पर आमतौर से थोड़ी-सी ज़्यादा ज़मीन, थोड़ी-सी ज़्यादा सुरक्षा और थोड़ी-सी ज़्यादा समृद्धि चाहता है, और सार्वभौमिक मूल्यों तथा वैश्विक संगठनों के बिना प्रतिद्वन्द्वी क़िलेबन्दियाँ किन्हीं भी साझा नियमों पर एकमत नहीं हो सकतीं। दुनिया को सुस्पष्ट राष्ट्रों में विभाजित करने की तमाम पिछली कोशिशें युद्ध और जातिसंहार का कारण बनीं हैं।

लेकिन अगर आप ख़ासतौर से किसी मज़बूत क़िले, जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका या रूस, के भीतर रह रहे हों, तो आपको चिन्ता करने की क्या ज़रूरत है? कुछ राष्ट्रवादी तो सचमुच ही कुछ ज़्यादा ही अति-अलगाववादी रवैया अपनाते हैं। वे न तो किसी वैश्विक साम्राज्य में विश्वास करते हैं न क़िलों के वैश्विक ताने-बाने में विश्वास करते हैं। इसकी बजाय वे किसी भी तरह की वैश्विक व्यवस्था की ज़रूरत से इंकार करते हैं। वे कहते हैं, "हमारे क़िले को सिर्फ़ रास्ता रोकने वाले पुल खड़े करना चाहिए, और बाक़ी दुनिया जाए भाड़ में। हमें विदेशी लोगों के, विदेशी विचारों और विदेशी माल के प्रवेश को रोकना चाहिए, और जब तक हमारी दीवारें मज़बूत हैं और हमारे सन्तरी वफ़ादार हैं, तब तक विदेशियों की परवाह किसे है?"

लेकिन इस तरह का अतिवादी अलगाववाद आर्थिक वास्तविकताओं से पूरी तरह कटा होता है। एक वैश्विक व्यापारिक तन्त्र के बिना - उत्तर कोरिया समेत - तमाम राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ धराशायी हो जाएँगी। बहुत-से देश तो बिना आयात किए अपना पेट तक नहीं भर पाएँगे, और लगभग सारी वस्तुओं की क़ीमतें आसमान छूने लगेंगी। जो मेड-इन-चाइना कमीज़ मैं पहने हुए हूँ, वह मुझे लगभग 5 डॉलर में मिलती है। अगर यह कमीज़ ग़ैर-मौजूद इज़रायली तेल की ऊर्जा से संचालित इज़रायल में बनी मशीनों का इस्तेमाल

करते हुए इज़रायल में पैदा किए गए कपास से इज़रायली कामगारों द्वारा तैयार की गई होती, तो शायद इसकी क़ीमत दस गुना होती। इसलिए डोनाल्ड ट्रम्प से लेकर व्लादिमीर पुतिन तक सारे राष्ट्रवादी नेता भले ही वैश्विक व्यापारिक तन्त्र को गालियाँ देते रहें, लेकिन इनमें से कोई भी अपनी अर्थव्यवस्था को इस तन्त्र से पूरी तरह से बाहर ले जाने के बारे में गम्भीरता से नहीं सोचता। और खेल के नियमों को निर्धारित करने वाली किसी वैश्विक व्यवस्था के बिना हम वैश्विक व्यापारिक तन्त्र को खड़ा नहीं कर सकते।

इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लोग चाहे इसे पसन्द करें या न करें, लेकिन मानव-जाति आज तीन ऐसी साझा चुनौतियों का सामना कर रही है,जो सारी राष्ट्रीय सरहदों का मज़ाक़ बना रही है, और इन समस्याओं को वैश्विक सहकार की मार्फ़त ही सुलझाया जा सकता है।

परमाणु चुनौती

हम बात शुरू करते हैं मानव-जाति के चिरपरिचित भस्मासुर के साथ : परमाणु युद्ध। जब क्यूबाई प्रक्षेपास्त्र संकट के दो साल बाद 1964 में जॉनसन के डेज़ी विज्ञापन का प्रसारण हुआ था, तब परमाणु संहार का ख़तरा एकदम सिर पर मँडरा रहा था। ज्ञानी और साधारण लोग समान रूप से डरे हुए थे कि मानव-जाति के पास विनाश को टालने की प्रज्ञा का अभाव है, और मात्र समय भर का मसला है, जब शीत युद्ध झुलसा देने वाली आग में बदल जाने वाला है। दरअसल, मानव-जाति ने परमाणु चुनौती का भरपूर सामना किया। अमेरिकियों, सोवियतों, यूरोपियों और और चीनियों ने उस ढर्रे को बदल दिया, जिस पर भू-राजनीति (जियोपॉलिटिक्स) को सहस्राब्दियों से चलाया जा रहा था, जिसके नतीजे में शीत युद्ध बहुत थोड़े-से ख़ून-ख़राबे के साथ समाप्त हो गया, और एक नई अन्तरराष्ट्रीय विश्वव्यवस्था ने शान्ति के एक अपूर्व युग को बढ़ावा दिया। न सिर्फ़ परमाणु युद्ध को टाला गया, बल्कि तमाम दूसरे तरह के युद्धों में गिरावट आई। 1945 के बाद खुलेआम आक्रामकता की मार्फ़त आश्चर्यजनक रूप से बहुत थोड़ी-सी सरहदों को नए सिरे से खींचा गया, और ज़्यादातर देशों ने युद्ध को एक मानक राजनीतिक औज़ार की तरह बरतना बन्द कर दिया। 2016 में सीरिया, उक्रेन और अनेक दूसरी संवेदनशील जगहों के बावजूद मोटापे, कार-दुर्घटनाओं, या आत्महत्याओं के मुक़ाबले बहुत कम लोग इंसानी हिंसा के शिकार होकर मारे गये। यह शायद हमारे वक़्त की सबसे बड़ी राजनीतिक और नैतिक उपलब्धि हो सकती है।

दुर्भाग्य से, अब तक हम इस उपलब्धि के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि इसे हम ख़ास महत्त्व नहीं देते। यही इस बात की आंशिक वज़ह है कि लोग ख़ुद को आग से खेलने की

छूट देते हैं। रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका ने हाल ही में परमाणु हथियारों की एक नई दौड़ की शुरुआत की है, और वे ऐसी अनूठी प्रलयंकारी मशीनों का निर्माण कर रहे हैं, जो पिछले दशकों की कड़ी मेहनत से हासिल की गई उपलब्धियों को निरर्थक बना देने और हमें एक बार फिर परमाणु विनाश की कगार पर ला खड़ा करने का ख़तरा पैदा कर रही हैं। इस बीच, लोगों ने बम की चिन्ता बन्द करना और उसको प्रेम करना सीख लिया है (जैसा कि *डॉ. स्ट्रेंजलव* में बताया गया है), या फिर वे उसके वजूद के बारे में ही भूल चुके हैं।

नतीजतन, बहुत बड़ी परमाणु शक्ति ब्रिटेन में ब्रेक्ज़िट की सारी बहस अर्थव्यवस्था और अप्रवासन के सवालों के इर्द-गिर्द घूमती रही, जबकि यूरोप और विश्व की शान्ति के लिए यूरोपीय यूनियन के बुनियादी महत्त्व के योगदान को भुला दिया गया। सदियों के भयावह रक्तपात के बाद फ़्रांसीसियों, जर्मनों, इताल्वियों और ब्रितानियों ने अन्ततः एक ऐसी व्यवस्था खड़ी की है, जो महाद्वीपीय सामंजस्य को सुनिश्चित करती है, लेकिन अँग्रेज़ जनता इस चमत्कारी मशीन को नाकामयाब करने पर तुली है।

एक ऐसी अन्तरराष्ट्रीय शासन-पद्धति का निर्माण करना बहुत मुश्किल काम था, जिसने परमाणु युद्ध को रोका और विश्व-शान्ति की हिफ़ाज़त की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमें इस शासन-पद्धति को दुनिया की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप ढालना ज़रूरी है, उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका पर कम भरोसा करते हुए और चीन तथा हिन्दुस्तान जैसी ग़ैर-पश्चिमी शक्तियों को ज़्यादा बड़ी भूमिका सौंपते हुए, लेकिन इस शासन-पद्धति को पूरी तरह से त्याग देना और राष्ट्रवादी सत्ता की राजनीति की ओर लौटना एक ग़ैरज़िम्मेदाराना जुआ होगा। यह सही है कि उन्नीसवीं सदी में देशों ने मानवीय सभ्यता को नष्ट किए बिना राष्ट्रवादी खेल खेला था, लेकिन वह हिरोशिमा-पूर्व का युग था। उसके बाद से, परमाणु हथियारों ने जोखिमों को बढ़ा दिया है और युद्ध की राजनीति की बुनियादी प्रकृति को बदल दिया है। जब तक मनुष्यों को इस बात की जानकारी बनी रहती है कि यूरेनियम और प्लूटोनियम को कैसे परिष्कृत किया जाए, तब तक उनका जीवित बचे रहना किसी राष्ट्र-विशेष के हितों पर परमाणु युद्ध को रोकने को वरीयता देने पर निर्भर करता है। जो उत्साही राष्ट्रवादी 'हमारा देश पहले है!' की पुकार लगाते हैं, उनको ख़ुद से पूछना चाहिए कि क्या उनका देश, अन्तरराष्ट्रीय सहकार की मज़बूत व्यवस्था के बिना अपने दम पर दुनिया या ख़ुद को भी परमाणु विनाश से बचा पाएगा।

पारिस्थितिकीय चुनौती

परमाणु युद्ध के अतिरिक्त, आने वाले दशकों में मानव-जाति एक ऐसे नए अस्तित्वपरक ख़तरे का सामना करेगी, जो 1964 के राजनीतिक राडारों पर शायद ही दर्ज़ हुआ हो :

पारिस्थितिकीय ध्वंस। मनुष्य बहुत सारे मोर्चों पर वैश्विक जीवमण्डल की स्थिरता को भंग कर रहे हैं। हम पर्यावरण से ज़्यादा-से-ज़्यादा संसाधनों को खींच रहे हैं, जबकि उसमें विपुल मात्रा में कचरा और ज़हर ठूँस रहे हैं, और इस तरह मिट्टी, पानी और वातावरण के संघटन को बदल रहे हैं।

यहाँ तक कि हम उन अनगिनत तरीक़ों के प्रति भी जागरूक नहीं, जिनसे हम उस नाज़ुक पारिस्थितिकीय सन्तुलन को भंग कर रहे हैं, जो लाखों वर्षों के दौरान गढ़ा गया है। उदाहरण के लिए, खाद के रूप में फ़ॉसफ़ोरस के इस्तेमाल को ही लें। छोटी मात्रा में यह पौधों की उपज के लिए एक अनिवार्य पोषक तत्व है, लेकिन अतिशय मात्रा में यही ज़हरीला हो जाता है। आधुनिक औद्योगिक कृषि खेतों को बड़ी तादाद में फ़ॉसफ़ोरस के इस्तेमाल से उपजाऊ बनाने पर आधारित है, लेकिन खेतों से बहकर जाने वाला अति-फ़ॉसफ़ोरस अन्ततः नदियों, झीलों और महासागरों में ज़हर घोल देता है, जिसका जल-जीवन पर विनाशकारी असर होता है। आयोवा में मक्का उपजाने वाला एक किसान इस तरह अनजाने ही मैक्सिको की खाड़ी की मछलियों को मार रहा होता है।

इस तरह की गतिविधियों के नतीजे में प्राकृतिक आवास नष्ट हुए हैं, जीव-जन्तु और वनस्पतियाँ विलुप्त हुई हैं और ऑस्ट्रेलियाई ग्रेट बेरियर रीफ़ और अमेज़ॉन के वर्षा वन जैसे पूरे के पूरे पारिस्थितिकीय तन्त्र तबाह हो गए हैं। *होमो सेपियन्स* हज़ारों सालों से पारिस्थितिकीय सीरियल किलर की तरह आचरण करता रहा है, अब यह पारिस्थितिकी की सामूहिक हत्या करने वाले की शक्ल ले रहा है। अगर हमने अपने इस वर्तमान सिलसिले को जारी रखा, तो यह न सिर्फ़ तमाम जीवन-रूपों के एक बड़े प्रतिशत के विनाश का कारण बनेगा, बल्कि यह मानव सभ्यता की बुनियादों को खोखला कर सकता है।

इन सबमें सबसे ज़्यादा ख़तरनाक है जलवायु-परिवर्तन की सम्भावना। मनुष्य सैकड़ों-हज़ारों सालों से रहते आ रहे हैं, और उन्होंने कई हिम-युगों और ताप के दौरों को झेला है, लेकिन कृषि, नगर और जटिल समाजों को अस्तित्व में आए 10,000 वर्ष से ज़्यादा नहीं हुए हैं। होलोसीन के नाम से ज्ञात इस कालखण्ड के दौरान पृथ्वी की जलवायु अपेक्षाकृत सन्तुलित बनी रही है। होलोसीन के मानकों से कोई भी विचलन मानव समाजों के सामने ऐसी विशाल चुनौतियाँ पेश करेगा, जिनका उन्होंने इसके पहले कभी सामना नहीं किया था। यह अरबों इंसानों को गिनी पिग की तरह इस्तेमाल करते हुए उन पर खुला प्रयोग करने जैसा होगा। अगर मानव-सभ्यता अन्ततः स्वयं को नई परिस्थितियों के अनुरूप ढाल भी लेती है, तब भी कौन जानता है कि ढाले जाने की इस प्रक्रिया में कितने ऐसे शिकार होंगे, जो मिट जाएँगे।

यह भयावह प्रयोग पहले ही शुरू हो चुका है। परमाणु युद्ध से भिन्न - जो कि एक भावी सम्भावना है - जलवायु-परिवर्तन एक वर्तमान वास्तविकता है। इस बात पर

वैज्ञानिक सहमति है कि मानवीय गतिविधियाँ, ख़ासतौर से कार्बन डाइऑक्साइड जैसी ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन, ख़तरनाक रफ़्तार से पृथ्वी के जलवायु-परिवर्तन का कारण बन रही हैं। कोई नहीं है, जो ठीक-ठीक इस बात को जानता हो कि हम एक अवश्यम्भावी प्रलय को सक्रिय किए बिना वातावरण में कितना कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ सकते हैं, लेकिन हमारे श्रेष्ठ वैज्ञानिक आकलन संकेत करते हैं कि अगर हम अगले बीस वर्षों में ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में प्रभावशाली ढंग से कटौती नहीं करते, तो विश्व का औसत तापमान 2°C से ज़्यादा बढ़ जाएगा, जिसका परिणाम रेगिस्तानों के विस्तार, बर्फ़ीली चोटियों के लोप, महासागरों के जलस्तर में वृद्धि, और समुद्री तूफ़ानों तथा आँधियों जैसी मौसम-सम्बन्धी चरम आपदाओं के बार-बार घटित होने के रूप में सामने आएगा। ये बदलाव कृषि-उत्पादन को अस्त-व्यस्त कर देंगे, नगरों को बहा देंगे, दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों को रहने लायक़ नहीं रहने देंगे, और करोड़ों शरणार्थियों को नए आवासों की तलाश में भटकने को छोड़ देंगे। इसके अतिरिक्त, हम बहुत तेज़ी के साथ कई ऐसे ख़तरनाक अन्तिम छोरों पर पहुँच रहे हैं, जिनके परे ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जनों में प्रभावशाली गिरावट भी मौजूदा रुझान को पलटने और विश्वव्यापी त्रासदी को टालने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। उदाहरण के लिए, जैसे-जैसे भूमण्डल का बढ़ता हुआ ताप ध्रुवीय बर्फ़ की परतों को पिघलाता जाता है, वैसे-वैसे सूरज की रोशनी पृथ्वी ग्रह से परावर्तित होकर बाहर की स्पेस में कम लौट पाती है। इसका मतलब है कि हमारा ग्रह ज़्यादा ताप को सोखता है, तापमान और भी बढ़ता जाता है, और बर्फ़ और भी तेज़ी से पिघलती है। जैसे ही यह कारण-कार्य-चक्र (फ़ीडबैक लूप) एक नाज़ुक दहलीज़ को पार कर लेगा, वैसे ही वह एक ऐसी रफ़्तार पकड़ लेगा, जिसको रोक पाना मुमकिन नहीं होगा, और अगर मनुष्य कोयला, तेल और गैस को जलाना तक बन्द कर देंगे, तब भी ध्रुवीय क्षेत्रों की सारी बर्फ़ पिघल जाएगी। इसलिए इतना भर काफ़ी नहीं है कि हम उस ख़तरे को पहचान लें, जो हमारे सामने है। यह अत्यावश्यक है कि हम सचमुच अभी ही कुछ करें।

दुर्भाग्य से, अभी 2018 तक ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जनों में कमी लाने की बजाय विश्व का यह उत्सर्जन-स्तर बढ़ता ही जा रहा है। जीवाश्म ईंधन का इस्तेमाल रोकने के लिए मनुष्यता के पास बहुत कम समय बचा है। हमें आज ही पुनरुद्धार की ज़िम्मेदारी उठाना ज़रूरी है। अगले साल या अगले महीने नहीं, बल्कि आज ही। 'हैलो, मैं *होमो सेपियन्स* हूँ, और मुझे जीवाश्म ईंधन की लत है।'

इस चेतावनी-भरे परिदृश्य में राष्ट्रवाद कहाँ फ़िट बैठता है? क्या इस पारिस्थितिकीय धमकी का कोई राष्ट्रवादी जवाब है? क्या कोई राष्ट्र, फिर वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अकेले दम पर भूमण्डल के तपने को रोक सकता है? अलग-अलग देश निश्चय ही कई तरह की हरित नीतियाँ अपना सकते हैं, जिनमें से कई नीतियाँ अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पर्यावरण के लिहाज़ से सार्थक हैं। सरकारें कार्बन के उत्सर्जन पर कर लगा सकती हैं, तेल

और गैस की क़ीमत में औद्योगिक दुष्परिणामों की क़ीमत जोड़ सकती हैं, पर्यावरण से सम्बन्धित सख़्त नियम अपना सकती हैं, प्रदूषण फैलाने वाले उद्योगों के आर्थिक सहयोग में कटौती कर सकती हैं, और नवीनीकरण योग्य ऊर्जा को अपनाए जाने को प्रोत्साहित कर सकती हैं। वे, एक तरह की पारिस्थितिकीय मैनहट्टन परियोजना के तहत, पर्यावरण के अनुकूल क्रान्तिकारी प्रौद्योगिकियों के अनुसन्धान और विकास पर अधिक धन का निवेश कर सकती हैं। पिछले डेढ़ सौ सालों की बहुत सारी प्रगतियों के लिए इन्टर्नल कम्बष्चन इंजन धन्यवाद का पात्र है, लेकिन अगर हम एक स्थिर प्राकृतिक और आर्थिक पर्यावरण को बरक़रार रखना चाहते हैं, तो इस इंजन को अब तिलांजलि देना और उसकी जगह ऐसी नई प्रौद्योगिकियों को लाना ज़रूरी है, जो जीवाश्म ईंधनों का इस्तेमाल नहीं करतीं।

नई प्रौद्योगिकीय खोजें ऊर्जा के साथ-साथ बहुत-से दूसरे क्षेत्रों में भी मददगार हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, 'स्वच्छ मांस' ('क्लीन मीट') को विकसित करने की सम्भावना पर विचार करें। वर्तमान में मांस उद्योग न सिर्फ़ अरबों संवेदनशील प्राणियों को अकथनीय यातनाएँ देता है, बल्कि वह भूमण्डल के तापमान के बढ़ने का एक मुख्य कारण, एंटीबॉयोटिक्स और ज़हर का एक मुख्य उपभोक्ता, और हवा, भूमि तथा पानी को प्रदूशित करने वाले सबसे प्रमुख कारकों में से एक है। इन्स्टिट्यूशन ऑफ़ मैकेनिकल इंजीनियर्स की 2013 की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ एक किलोग्राम आलू के उत्पादन पर ख़र्च होने वाले 287 लीटर पानी के मुक़ाबले एक किलोग्राम गोमांस के उत्पादन में लगभग 15,000 लीटर ताज़ा पानी ख़र्च होता है।

पर्यावरण पर पड़ते इस दबाव के और भी बदतर होते जाने की सम्भावना है, क्योंकि चीन और ब्राज़ील जैसे देशों में बढ़ती हुई समृद्धि करोड़ों और भी लोगों को नियमित रूप से आलू की जगह गोमांस खाने की गुंजाइश दे रही है। अमेरिकियों और जर्मनों को तो छोड़ ही दें, चीनियों और ब्राज़ीलियनों को भी इस बात पर राज़ी करना मुश्किल है कि वे स्टीक्स, हैम्बर्गर और सॉसेज़ खाना बन्द कर दें, लेकिन अगर इंजीनियर कोशिकाओं से मांस पैदा करना सीख लें, तो? अगर आपको हैम्बर्गर की दरकार है, तो समूची गाय को पालने और काटने (और उसकी लाश को हज़ारों किलोमीटर ले जाने) की बजाय सीधे हैम्बर्गर उगाइए।

यह चीज़ किसी विज्ञान-कथा जैसी लग सकती है, लेकिन दुनिया का पहला स्वच्छ हैम्बर्गर 2013 में कोशिकाओं से विकसित किया गया था और खाया गया था। उसकी लागत थी 330,000 डॉलर। चार साल के अनुसन्धान और विकास ने लागत को घटाकर 11 डॉलर प्रति हैम्बर्गर पर ला दिया। और एक और दशक के भीतर औद्योगिक स्तर पर पैदा किए गए स्वच्छ मांस का बूचड़ख़ाने में उत्पादित मांस से सस्ता होने की उम्मीद है। यह प्रौद्योगिकीय आविष्कार अरबों जानवरों को घृणित यातना से भरे जीवन से बचा

सकता है, अरबों कुपोशित इंसानों के उदर-पोषण में सहायक हो सकता है, और इसी के साथ-साथ पारिस्थितिकीय विघटन को रोकने में मदद कर सकता है।

इस तरह ऐसा बहुत कुछ है, जो सरकारें, व्यावसायिक प्रतिष्ठान और व्यक्ति जलवायु परिवर्तन को टालने के लिए कर सकते हैं, लेकिन कारगर होने के लिए इन सारे कामों का वैश्विक स्तर पर किया जाना अनिवार्य है। जलवायु के मामले में देश महज़ सम्प्रभु नहीं हैं। वे ग्रह के दूसरे हिस्से में लोगों द्वारा की जाने वाली कार्रवाइयों की कृपा पर निर्भर हैं। किरिबाती गणराज्य - प्रशान्त महासागर का एक द्वीप राष्ट्र - अपने ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को घटाकर शून्य पर ला सकता है और तब भी अगर दूसरे देश उसका अनुसरण नहीं करते, तो वह विशाल रूप लेती महासागर की लहरों में समा सकता है। चाड देश की प्रत्येक छत पर सौर ऊर्जा के पैनल स्थापित कर सकता है और तब भी वह दूर बैठे विदेशियों की ग़ैरज़िम्मेदाराना पर्यावरण नीतियों की वज़ह से बंजर रेगिस्तान में बदल सकता है। यहाँ तक कि चीन और जापान जैसे ताक़तवर मुल्क भी पारिस्थितिकीय दृष्टि से सम्प्रभु नहीं हैं। विनाशकारी बाढ़ों और तूफ़ानों से शंघाई, हांगकांग और टोक्यो की रक्षा के वास्ते चीन और जापान के लिए यह ज़रूरी होगा कि वे रूसी और अमेरिकी सरकारों को 'जैसा चल रहा है, वैसा ही चलने दिया जाए' वाला रवैया त्यागने के लिए राज़ी करें।

राष्ट्रवादी अलगाववाद जलवायु-परिवर्तन के सन्दर्भ में परमाणु युद्ध से ज़्यादा ख़तरनाक है। सम्पूर्ण परमाणु युद्ध सारे देशों को नष्ट करने का ख़तरा पैदा करता है, इसलिए उसको रोकने में सारे देश समान रूप से दाँव पर लगे हैं। इसके विपरीत ग्लोबल वर्मिंग का असर सम्भवतः अलग-अलग देशों पर अलग-अलग तरह का होगा। कुछ देश, जिनमें सबसे ज़्यादा उल्लेखनीय रूस है, इससे लाभान्वित हो सकते हैं। रूस के पास समुद्रतटीय परिसम्पत्तियाँ अपेक्षाकृत कम हैं, इसलिए वह समुद्र के जल-स्तर में वृद्धि को लेकर चीन या किरिबाती की तुलना में कम चिन्तित है। और जहाँ अधिक तापमान से चाड के रेगिस्तान में बदल जाने की सम्भावना है, वहीं ये तापमान इसी के साथ-साथ साइबेरिया को दुनिया की रोटी की टोकरी में बदल सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सुदूर उत्तर में बर्फ़ के पिघलने से रूस के प्रभुत्व वाले आर्कटिक समुद्री मार्ग वैश्विक वाणिज्य के लिए अत्यन्त उपयोगी साबित हो सकते हैं, और कैम्चात्का दुनिया का चौराहा होने के मामले में सिंगापुर की जगह ले सकता है।

इसी तरह जीवाश्म ईंधनों के स्थान पर अक्षय ऊर्जा (रिन्युएबल एनर्जी) स्रोतों का उपयोग कुछ देशों को दूसरे देशों की तुलना में ज़्यादा आकर्षित कर सकता है। चीन, जापान और दक्षिण कोरिया विशाल तादाद में तेल और गैस के आयात पर निर्भर करते हैं। वे इस बोझ से छुटकारा मिलने से बहुत ख़ुश होंगे। रूस, ईरान और सऊदी अरब तेल और गैस के निर्यात पर निर्भर करते हैं। इसलिए अगर तेल और गैस को अचानक सौर तथा वायु ऊर्जा के सामने घुटने टेक देने पड़ते हैं, तो इन देशों की अर्थव्यवस्थाएँ ध्वस्त हो जाएँगी।

नतीजतन, जहाँ चीन, जापान और किरिबाती जैसे देशों द्वारा वैश्विक कार्बन उत्सर्जन को कम किए जाने का भरसक दबाव डाले जाने की सम्भावना है, वहीं रूस और ईरान जैसे देश इस मामले में बहुत कम उत्साह दिखा सकते हैं। यहाँ तक कि ग्लोबल वर्मिंग की वज़ह से जो देश, जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका, बहुत कुछ गँवा सकते हैं, वहाँ के राष्ट्रवादी इस ख़तरे को समझने के लिहाज़ से बहुत ज़्यादा अदूरदर्षी और आत्मलीन साबित हो सकते हैं। एक छोटा-सा किन्तु सारगर्भित उदाहरण जनवरी 2018 में सामने आया था, जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने अक्षय ऊर्जा-स्रोतों को अपनाने की गति के धीमा पड़ने की क़ीमत पर भी अमेरिकी सौर ऊर्जा उत्पादकों की सहायता को प्राथमिकता देते हुए दूसरे देशों में निर्मित सौर ऊर्जा पैनलों और सौर ऊर्जा उपकरणों पर 30 % सीमा-शुल्क लगाया था।

एटम बम एक ऐसा स्पष्ट और तात्कालिक ख़तरा है कि कोई भी व्यक्ति उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। इसके विपरीत ग्लोबल वर्मिंग कहीं ज़्यादा धुँधला प्रतीत होने वाला और दीर्घकालिक ख़तरा है। इसलिए जब भी कभी पर्यावरण से सम्बन्धित दीर्घकालिक चिन्ताएँ किसी तकलीफ़देह अल्पकालिक त्याग की माँग करती हैं, तो राष्ट्रवादी लोग तात्कालिक राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देने के प्रलोभन के शिकार हो सकते हैं, और ख़ुद को यह आश्वासन दे सकते हैं कि पर्यावरण की चिन्ता वे बाद में कर सकते हैं, या उसको दूसरी जगहों के लोगों पर छोड़ सकते हैं। या फिर वे इसे समस्या मानने से ही सीधे इंकार कर सकते हैं। यह संयोग नहीं है कि जलवायु-परिवर्तन के बारे में सन्देह राष्ट्रवादी अधिकार-क्षेत्र होने की ओर प्रवृत्त होता है। आप शायद ही कभी वामपन्थी समाजवादियों को ट्वीट करते देखेंगे कि 'जलवायु-परिवर्तन एक चीनी झाँसा है'। चूँकि ग्लोबल वर्मिंग की समस्या का कोई राष्ट्रवादी निदान नहीं है, कुछ राष्ट्रवादी यह मानना ही बेहतर समझते हैं कि यह समस्या है ही नहीं।

प्रौद्योगिकीय चुनौती

इसी तरह के आचरण इक्कीसवीं सदी के तीसरे अस्तित्वपरक ख़तरे - प्रौद्योगिकीय उथल-पुथल - के किसी भी राष्ट्रवादी प्रतिकार को बर्बाद कर सकते हैं। जैसा कि हमने शुरुआती अध्यायों में देखा है, सूचना प्रौद्योगिकी और जैव प्रौद्योगिकी का विलय क़यामत के विपुल परिदृश्यों की दिशा में ले जाते दरवाज़े को खोलने वाला है, जिनके दायरे में डिजिटल तानाशाहियों से लेकर वैश्विक स्तर के एक अनुपयोगी वर्ग की सृष्टि तक के परिदृश्य शामिल हैं। क्या है इन ख़तरों का राष्ट्रवादी जवाब?

इनका कोई राष्ट्रवादी जवाब नहीं है। जिस तरह जलवायु-परिवर्तन के मामले में, उसी तरह प्रौद्योगिकीय उथल-पुथल के मामले में भी राष्ट्रवादी राज्य इस ख़तरे का मुक़ाबला करने के मामले में पूरी तरह से अनुपयुक्त ढाँचा है। चूँकि अनुसन्धान और विकास पर किसी भी एक देश का एकाधिकार नहीं है, इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाशक्ति भी अपने दम पर उनकी सीमा निर्धारित नहीं कर सकती। अगर संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार भ्रूणों का जनेटिक ढंग से गढ़ा जाना प्रतिबन्धित कर देती है, तो यह प्रतिबन्ध चीनी वैज्ञानिकों को वैसा करने से नहीं रोक सकता। और अगर इसके नतीजे में सामने आने वाली घटनाएँ चीन को किन्हीं निर्णायक महत्त्व के आर्थिक और सैन्य लाभ उपलब्ध कराती हैं, तो संयुक्त राज्य अमेरिका के मन में अपने ही प्रतिबन्ध को हटाने का प्रलोभन जागेगा। ख़ासतौर से अपनी सफलता के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार विदेशियों से भयभीत दुनिया में, अगर एक देश अतिशय जोखिम से भरी अतिशय उपलब्धियों का रास्ता चुनता है, तो दूसरे देशों को भी विवश होकर वैसा ही करना पड़ेगा, क्योंकि कोई भी व्यक्ति पीछे छूट जाने का जोखिम नहीं उठा सकता। इस तरह की गला काट प्रतिस्पर्धा की स्थिति को टालने के लिए मानव-जाति को सम्भवतः किसी तरह वैश्विक पहचान और वफ़ादारी की ज़रूरत होगी।

इसके अतिरिक्त, जहाँ परमाणु युद्ध और जलवायु-परिवर्तन मानव-जाति के सामने सिर्फ़ भौतिक रूप से जीवित बने रहने से सम्बन्धित ख़तरा पैदा करते हैं, वहीं अव्यवस्था फैलाने वाली ये प्रौद्योगिकियाँ मानवता की प्रकृति तक को बदल सकती हैं, और इसलिए वे मनुष्यों की गहनतम नैतिक और मज़हबी आस्थाओं के साथ उलझी हुई हैं। जहाँ इस बात पर हर कोई एकमत है कि हमें परमाणु युद्ध और पारिस्थितिकीय विघटन को टालना चाहिए, वहीं मनुष्यों को उन्नत रूप देने के लिए जैवइंजीनियरी और आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस के इस्तेमाल के बारे में लोगों के व्यापक तौर पर अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। अगर मानव-जाति वैश्विक स्तर पर स्वीकार्य किन्हीं नैतिक दिशा-निर्देशों को तैयार करने और उनको कार्यरूप देने में विफल रहती है, तो यह डॉ. फ़्रैंकेन्स्टीन के लिए मनमानी करने का खुला अवसर होगा।

जब इस तरह के नैतिक दिशा-निर्देशों को तैयार करने का सवाल उठता है, तो राष्ट्रवाद सबसे ज़्यादा कल्पनाशीलता की विफलता का शिकार होता है। राष्ट्रवादी सदियों जारी रहने वाले क्षेत्रीय टकरावों की पदावली में सोचते हैं, जबकि इक्कीसवीं सदी की प्रौद्योगिकीय क्रान्तियों को ब्रह्माण्डीय पदावली में समझा जाना चाहिए। प्राकृतिक वरण के मुताबिक़ विकसित हुए जैविक अस्तित्व के 4 अरब वर्षों के बाद विज्ञान अब बुद्धिमत्तापूर्ण आकल्पन (इंटेलिजेंट डिज़ाइन) द्वारा गढ़े गए अजैविक अस्तित्व के युग में प्रवेश कर रहा है।

इस प्रक्रिया में स्वयं *होमो सेपियन्स* के विलुप्त हो जाने की सम्भावना है। हम अभी भी आज होमेनिड फ़ैमिली के वानर हैं। अपनी ज़्यादातर कायिक संरचनाओं, भौतिक क्षमताओं और मानसिक योग्यताओं को हम अभी भी निएंडरथलों और चिम्पांज़ियों से साझा करते हैं। न सिर्फ़ हमारे हाथ, आँखें और मस्तिष्क स्पष्ट तौर पर होमेनिड हैं, बल्कि हमारी काम-वासना, हमारा प्रेम, क्रोध और सामाजिक बन्धन भी होमेनिड हैं। एक या दो सदियों के भीतर जैवप्रौद्योगिकी और एआई का मेल ऐसे कायिक, भौतिक और मानसिक लक्षणों के रूप में फलित हो सकता है, जो होमेनिड साँचे से पूरी तरह आज़ाद होंगे। कुछ लोगों का विश्वास है कि किसी भी जैविक संरचना से चेतना तक कटकर अलग हो सकती है, और वह तमाम जैविक और भौतिक बन्धनों से आज़ाद होकर साइबरस्पेस में तैरने लग सकती है। दूसरी तरफ़, हम चेतना से बुद्धि के सम्पूर्ण वियोग के साक्षी हो सकते हैं, और एआई का विकास एक ऐसी दुनिया का कारण बन सकता है, जिस पर अति-बुद्धिमान, किन्तु पूरी तरह अचेतन सत्ताओं का वर्चस्व होगा।

इस स्थिति के बारे में इज़रायली, रूसी या फ्रांसीसी राष्ट्रवाद के पास कहने लायक़ क्या है? कुछ ख़ास नहीं। राष्ट्रवाद इस स्तर पर विचार नहीं करता। इसके परिणामस्वरूप इज़रायली राष्ट्रवाद का सबसे बड़ा सरोकार इस सवाल को लेकर है कि ‘अब से एक सदी बाद यरुशलम पर इज़रायलियों की हुकूमत होगी या फ़िलिस्तीनियों की?’, वहीं इस सवाल को लेकर उसे कोई परवाह नहीं है कि ‘अब से एक सदी बाद पृथ्वी पर सेपियन्स की हुकूमत होगी या साइबोर्ग की?’। जीवन के भविष्य के बारे में विवेकपूर्ण विकल्प चुनने के लिए हमें राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से बहुत दूर जाने और स्थितियों को न केवल वैश्विक, बल्कि ब्रह्माण्डीय परिप्रेक्ष्य में भी देखने की ज़रूरत है। नील नदी के तटों पर रहने वाले प्राचीन क़बीलों की तरह, आज सारे राष्ट्र सूचना, वैज्ञानिक खोजों और प्रौद्योगिकीय ईजादों की एक ही वैश्विक नदी के तटों पर रह रहे हैं, जो कि हमारी समृद्धि का आधार भी है और हमारे अस्तित्व के लिए एक ख़तरा भी है। इस वैश्विक नदी को नियन्त्रित करने के लिए सारे राष्ट्रों को एक साझा ध्येय तैयार करना आवश्यक है।

अन्तरिक्षयान पृथ्वी

परमाणु युद्ध, पारिस्थितिकीय ध्वंस और प्रौद्योगिकीय उथल-पुथल की इन तीनों समस्याओं में से प्रत्येक समस्या मानव-सभ्यता के भविष्य को ख़तरा पैदा करने के लिए पर्याप्त है, लेकिन ये तीनों एक साथ मिलकर एक अपूर्व अस्तित्वपरक संकट का कारण बनती हैं, ख़ासतौर से इसलिए उनके द्वारा एक-दूसरे को सुदृढ़ और जटिल बना दिए जाने की सम्भावना है।

उदाहरण के लिए, मानव समाज को जिस रूप में हम जानते हैं, पारिस्थितिकीय संकट उसके उस रूप में जीवित बने रह पाने के समक्ष यद्यपि ख़तरा पैदा करता है, लेकिन एआई और जैवइंजीनियरी के विकास को रोके जाने की कोई सम्भावना नहीं है। अगर आप यह उम्मीद लगाए बैठे हैं कि आप महासागरों के बढ़ते हुए जलस्तर, खाद्यान्नों की घटती हुई आपूर्ति और देशों से सामूहिक पलायन जैसी समस्याएँ ऐल्गरिदमों और जीनों से हमारा ध्यान हटा सकेंगी, तो दोबारा सोचिए। पारिस्थितिकीय संकट के गहराने के साथ उच्च-जोखिम, उच्च-उपलब्धि युक्त प्रौद्योगिकियों का विकास सम्भवतः और ज़्यादा रफ़्तार ही पकड़ेगा।

वस्तुतः, जलवायु-परिवर्तन शायद वैसी ही भूमिका निभा सकता है, जो दो विश्वयुद्धों ने निभाई थी। 1914 और 1918 के बीच, और फिर 1939 और 1945 के बीच प्रौद्योगिकीय विकास की रफ़्तार ने आसमान को छुआ था, क्योंकि पूरी तरह से युद्ध में संलग्न राष्ट्रों ने ख़तरों और अर्थव्यवस्था की परवाह छोड़कर तमाम तरह की दुस्साहसिक और ऊटपटांग परियोजनाओं पर अपरिमित संसाधनों का निवेश किया था। इनमें से बहुत सारी परियोजनाएँ नाकामयाब रही थीं, लेकिन कुछ परियोजनाओं ने टैंकों, राडार, ज़हरीली गैस, ध्वनि की रफ़्तार से भी तेज़ उड़ने वाले जेट विमान, अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों और परमाणु बमों को पैदा किया था। इसी तरह, जलवायु-सम्बन्धी उथल-पुथल का सामना कर रहे देश अन्धाधुन्ध प्रौद्योगिकीय जुओं में अपनी उम्मीदों को दाँव पर लगा सकते हैं। एआई और जैवइंजीनियरी को लेकर मानव-जाति की ढेर सारी तर्कसंगत चिन्ताएँ हैं, लेकिन संकट के क्षणों में लोग जोखिम-भरे काम करते हैं। इन विध्वंसक प्रौद्योगिकियों का नियमन करने के बारे में आप जो भी कुछ सोचते हों, ख़ुद से पूछिए कि अगर जलवायु परिवर्तन के परिणामस्वरूप खाद्यान्नों में वैश्विक स्तर पर कमी आ जाती है, सारी दुनिया के नगरों में बाढ़ें आ जाती हैं, और करोड़ों शरणार्थी सरहदें पार करने लगते हैं, तब भी क्या इन नियमों के टिके रहने की सम्भावना होगी।

वहीं, प्रौद्योगिकीय विध्वंस वैश्विक तनाव में वृद्धि करते हुए ही नहीं, बल्कि परमाणु शक्ति-सन्तुलन को अस्थिर बनाते हुए भी सर्वसंहारक युद्धों के ख़तरे को बढ़ा सकता है। 1950 के दशक से महाशक्तियाँ एक-दूसरे के साथ टकरावों को टालती रही हैं, क्योंकि वे सभी जानती हैं कि युद्ध का मतलब पारस्परिक तौर पर सुनिश्चित विनाश होगा, लेकिन जैसे ही नए क़िस्म के आक्रामक और रक्षात्मक हथियार प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही एक उभरती हुई प्रौद्योगिकीय महाशक्ति इस नतीजे पर पहुँच सकती है कि वह बिना कोई नुक़सान उठाए अपने शत्रुओं को नष्ट कर सकती है। इसके विपरीत, पतन की ओर जा रही शक्ति को यह भय सता सकता है कि उसके पारम्परिक परमाणु हथियार जल्दी ही पुराने पड़ सकते हैं, और इसके पहले कि वह इस तरह उनको गँवा दे, बेहतर होगा कि वह उनका इस्तेमाल कर ले। पारम्परिक तौर पर, परमाणु टकराव एक अति-तर्कसंगत शतरंज के खेल

से मिलते-जुलते हैं। उस वक़्त क्या होगा, जब कोई खिलाड़ी अपने प्रतिद्वन्द्वी की गोटियों को अपने नियन्त्रण में लेने के लिए साइबर हमलों का सहारा लेगा, जब कोई अज्ञात तीसरा पक्ष किसी प्यादे को इस तरह खिसकाएगा कि किसी को पता भी नहीं चलेगा कि वह चाल कौन चल रहा रहा है - या जब अल्फ़ाज़ीरो साधारण शतरंज से परमाणु शतरंज में बदल जाएगा?

जिस तरह इन विभिन्न चुनौतियों द्वारा एक-दूसरे को और भी मुश्किल बना दिए जाने की सम्भावना है, ठीक उसी तरह एक चुनौती का मुक़ाबला करने के लिए ज़रूरी सदिच्छा को दूसरे मोर्चे की समस्याओं द्वारा कमज़ोर बना दिया जा सकता है। इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि हथियारों की होड़ में उलझे देश एआई के विकास पर रोक लगाने पर सहमत होंगे, और अपने प्रतिद्वन्द्वियों की प्रौद्योगिकीय उपलब्धियों को पीछे छोड़ देने की कोशिश में लगे देशों के लिए जलवायु-परिवर्तन को रोकने की किसी साझा योजना पर सहमत होना बहुत मुश्किल होगा। जब तक दुनिया प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों में बँटी हुई है, तब तक इन सारी चुनौतियों से एक साथ पार पाना बहुत मुश्किल होगा - और किसी एक भी मोर्चे पर नाकामयाबी विनाशकारी साबित हो सकती है।

संक्षेप में, दुनिया में फैल रही राष्ट्रवादी लहर, घड़ी की सुइयों को वापस घुमाकर 1939 या 1914 पर नहीं ले जा सकती। प्रौद्योगिकी ने ऐसे अनेक विश्वव्यापी अस्तित्वपरक ख़तरों को पैदा कर हर चीज़ को बदल दिया है, जिन ख़तरों से कोई भी राष्ट्र अपनी दम पर नहीं निपट सकता। एक साझा पहचान गढ़ने के लिए एक साझा शत्रु सबसे अच्छा उत्प्रेरक हो सकता है, और इस समय मानव-जाति के कम-से-कम तीन ऐसे शत्रु हैं - परमाणु युद्ध, जलवायु-परिवर्तन, और प्रौद्योगिकीय विध्वंस। अगर इन साझा ख़तरों के बावजूद मनुष्य किसी भी दूसरी चीज़ पर अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय वफ़ादारियों को वरीयता देने का चुनाव करते हैं, तो इसके नतीजे 1914 और 1939 से कहीं ज़्यादा बदतर होंगे।

एक ज़्यादा बेहतर रास्ता वह है जिसकी रूपरेखा यूरोपीय यूनियन के संविधान के मसौदे में प्रस्तुत की गई है, जिसमें कहा गया है कि 'यूरोप के समाज जहाँ एक ओर अपनी-अपनी राष्ट्रीय पहचानों और इतिहास के प्रति गर्व महसूस करते हैं, वहीं वे अपने पहले के विभाजनों से ऊपर उठने के लिए और, पहले से अधिक संगठित होकर एक साझा नियति गढ़ने के लिए प्रतिबद्ध हैं'। इसका मतलब सारी राष्ट्रीय पहचानों को मिटा देना, सारी स्थानीय परम्पराओं को त्याग देना, और मनुष्यता को एकरूप नीरस 'गू' में बदल देना नहीं है। न ही इसका मतलब राष्ट्रभक्ति के सारे रूपों का तिरस्कार करना है। वास्तव में, एक महाद्वीपीय सेना और आर्थिक रक्षा-कवच उपलब्ध कराते हुए यूरोपीय यूनियन ने फ़्लैंडर्स, लोम्बार्डी, कैटालोनिया और स्कॉटलैंड जैसी जगहों पर स्थानीय देशभक्ति को तर्कसंगत ढंग से प्रोत्साहित किया है। एक स्वाधीन स्कॉटलैंड या कैटालोनिया स्थापित करने का विचार उस दशा में ज़्यादा आकर्षक प्रतीत होता है, जब आपको किसी जर्मन

आक्रमण का भय न हो और जब आप ग्लोबल वर्मिंग और वैश्विक प्रतिष्ठानों के ख़िलाफ़ एक साझा यूरोपीय मोर्चे पर भरोसा करने की स्थिति में हों।

इसलिए यूरोपीय राष्ट्रवादी ख़ुद को ज़्यादा सहज स्थिति में पा रहे हैं। राष्ट्र की वापसी की तमाम चर्चाओं के बावजूद, बहुत थोड़े-से यूरोपीय हैं, जो वास्तव में उसके लिए मरने या मारने को तैयार हों। जब विलियम वॉलेस और रॉबर्ट ब्रूस के ज़माने में स्कॉट लोगों ने लन्दन की पकड़ से आज़ाद होने की कोशिश की थी, तो इसके लिए उनको एक सेना खड़ी करनी पड़ी थी। इसके विपरीत, 2014 के स्कॉटिश जनमत-संग्रह के दौरान एक भी व्यक्ति नहीं मारा गया था, और अगर अगली बार स्कॉटलैंड के लोग स्वाधीनता के पक्ष में मतदान करते हैं, तो इसकी दूर-दूर तक कोई सम्भावना नहीं है कि उनको एक बार फिर बैनॅकबर्न की लड़ाई लड़नी पड़े। स्पेन से अलग होने की कैटालान की कोशिश का नतीजा अच्छी ख़ासी हिंसा के रूप में सामने आया है, लेकिन वह भी उस हत्याकाण्ड से बहुत कम है, जिसे बार्सिलोना ने 1939 या 1714 में भोगा था।

बाक़ी दुनिया शायद यूरोप के इस उदाहरण से सीख ले सकती है। यहाँ तक एक एकीकृत ग्रह पर भी उस तरह की देशभक्ति के लिए पर्याप्त गुंजाइश बनी रहेगी, जो मेरे राष्ट्र के अनूठेपन का जश्न मनाती है और उसके प्रति मेरे कर्तव्यों पर बल देती है। तब भी अगर हम जीवित बचे रहना चाहते हैं और फलना-फूलना चाहते हैं, तो मानव-जाति के पास इस तरह की स्थानीय वफ़ादारियों को वैश्विक समुदाय के प्रति ठोस कर्तव्यों के साथ जोड़ने के अलावा और कोई चारा नहीं है। एक व्यक्ति एक साथ अपने परिवार, अपने पड़ोस, अपने व्यवसाय और अपने राष्ट्र के प्रति वफ़ादार होता है और उसे होना चाहिए - तब फिर इस सूची में मानव-जाति और पृथ्वी ग्रह को भी क्यों न जोड़ा जाए? सही है, जब आपकी ऐसी बहुत-सी वफ़ादारियाँ होती हैं, तो टकराव कभी-कभी अपरिहार्य हो जाते हैं, लेकिन यह किसने कहा है कि ज़िन्दगी सरल होती है? उससे निपटिए।

पिछले युगों में राष्ट्रीय अस्मिताएँ इसलिए गढ़ी जाती थीं, क्योंकि तब मनुष्यों को ऐसी समस्याओं और अवसरों का सामना करना पड़ता था, जो स्थानीय क़बीलों की पहुँच के दायरे से बहुत परे हुआ करते थे, और यह कि देशव्यापी सहकार से ही उनके साथ तालमेल बैठाने की उम्मीद की जा सकती थी। इक्कीसवीं सदी में राष्ट्र ख़ुद को उसी तरह की परिस्थिति में पा रहे हैं, जिसमें प्राचीन क़बीले थे : वे अब उस तरह के तन्त्र नहीं रह गए हैं, जो इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौतियों को झेल सकें। अब हमें एक नई वैश्विक पहचान की ज़रूरत है, क्योंकि राष्ट्रीय संस्थाएँ अपूर्व वैश्विक संकटों से निपटने में असमर्थ हैं। अब हमारी एक भूमण्डलीय पारिस्थितिकी, भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था और एक भूमण्डलीय विज्ञान है, लेकिन हम अभी भी महज़ राष्ट्रीय राजनीति में उलझे हुए हैं। यह बेमेलपन राजनीतिक तन्त्र को हमारी मुख्य समस्याओं का कारगर ढंग से सामना करने से रोकता है। प्रभावशाली राजनीति के लिए हमें या तो पारिस्थितिकी, अर्थव्यवस्था और विज्ञान के

अभियान को वि-भूमण्डलीकृत (डि-ग्लोबलाइज़) कर देना अनिवार्य है - या फिर हमें अपनी राजनीति का भूमण्डलीकरण करना अनिवार्य है। चूँकि पारिस्थितिकी और विज्ञान के अभियान को वि-भूमण्डलीकृत करना असम्भव है, और चूँकि अर्थव्यवस्था को वि-भूमण्डलीकृत करने की लागत बहुत ज़्यादा होगी, इसलिए वास्तविक समाधान राजनीति को भूमण्डलीकृत करना ही है।

इस तरह के भूमण्डलीकरण और स्वदेश-प्रेम के बीच कोई अन्तर्विरोध नहीं है। स्वदेश-प्रेम का मतलब विदेशियों से नफ़रत करना नहीं है। स्वदेश-प्रेम का मतलब अपने देशवासियों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना रखना है। और इक्कीसवीं सदी में अपने देशवासियों के कुशलक्षेम और सुरक्षा की हिफ़ाज़त के लिए आपको विदेशियों के साथ सहयोग करना अनिवार्य है। इसलिए अच्छे राष्ट्रवादियों का अच्छा भूमण्डलवादी होना ज़रूरी है।

यह एक 'भूमण्डलीय सरकार' को स्थापित करने का आह्वान नहीं है, जो कि एक सन्दिग्ध और अव्यावहारिक परिकल्पना है। इसकी बजाय, राजनीति को भूमण्डलीकृत करने में यह अभिप्राय निहित है कि हमें भूमण्डलीय समस्याओं और हितों को कहीं ज़्यादा महत्त्व देने की ज़रूरत है। जब अगले चुनाव आएँ, और राजनेता आपसे विनती कर रहे हों कि आप उनको वोट दें, तो इन राजनेताओं से चार सवाल पूछिए : अगर आप चुन लिए जाते हैं, तो आप परमाणु युद्ध के ख़तरे को कम करने के लिए क्या कार्रवाई करेंगे? आप जलवायु-परिवर्तन के जोखिम को रोकने के लिए क्या कार्रवाई करेंगे? आप एआई और जैवइंजीनियरिंग जैसी विध्वंसक प्रौद्योगिकियों का नियमन करने के लिए क्या कार्रवाई करेंगे? और अन्त में, श्रेष्ठतम सम्भव परिणाम के परिदृश्य की आपकी क्या परिकल्पना है?

अगर कोई राजनेता इन सवालों को नहीं समझते, या वे भविष्य की किसी सार्थक परिकल्पना का ख़ाका प्रस्तुत करने में असमर्थ रहते हुए लगातार अतीत के बारे में ही बात करते रहते हैं, तो ऐसे राजनेताओं को वोट मत दीजिए।

दुर्भाग्य से, राष्ट्रीय हित को लेकर बहुत सारे राजनेताओं का दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण होता है, और वे वैश्विक सहकार के ख़िलाफ़ तीखी प्रतिक्रिया करते हैं। तब क्या हमें दुनिया को संगठित करने के लिए मानव-जाति की सार्वभौमिक मज़हबी परम्पराओं पर निर्भर करना चाहिए? सैकड़ों साल पहले ईसाइयत और इस्लाम जैसे मज़हबों ने स्थानीय सन्दर्भों में सोचने की बजाय वैश्विक सन्दर्भों में सोचा था, और वे महज़ इस या उस राष्ट्र के राजनीतिक संघर्षों की बजाय हमेशा जीवन के बड़े प्रश्नों में गहरी उत्सुकता के साथ दिलचस्पी लेते थे, लेकिन क्या ये पारम्परिक मज़हब अभी भी प्रासंगिक हैं? क्या उनमें दुनिया को आकार देने की सामर्थ्य बची है, या अब वे अतीत के महज़ जड़ हो चुके अवशेष-मात्र रह गए हैं, जिनको आधुनिक राज्यों, अर्थव्यवस्थाओं और प्रौद्योगिकियों की प्रबल शक्तियों ने यहाँ-वहाँ छितरा दिया है?

8

मज़हब

ईश्वर अब राष्ट्र की सेवा करता है

आधुनिक विचारधाराएँ, वैज्ञानिक विशेषज्ञ और राष्ट्रीय सरकारें अब तक मनुष्यता के भविष्य के लिए कोई सुसाध्य परिकल्पना गढ़ने में विफल रही हैं। क्या इस तरह की कोई परिकल्पना इंसानी मज़हबी परम्पराओं के गहरे कुओं से खींची जा सकती है? मुमकिन है कि इसका जवाब बाइबल, कुरान या वेदों के पन्नों के बीच निरन्तर कहीं हमारा इन्तज़ार करता रहा हो।

सेक्युलर लोग इस ख़याल पर प्रतिक्रिया करते हुए या तो इसका मज़ाक़ उड़ाएँगे या आशंका व्यक्त करेंगे। पवित्र पोथियाँ मध्ययुग में प्रासंगिक रही हो सकती हैं, लेकिन वे आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस, जैवइंजीनयरी, ग्लोबल वर्मिंग और साइबर युद्ध के इस युग में हमारा मार्गदर्शन कैसे कर सकती हैं? लेकिन सेक्युलर लोग एक अल्पसंख्यक वर्ग है। अरबों इंसान अभी भी विकासवाद के सिद्धान्त की बजाय कुरान और बाइबल में ज़्यादा आस्था रखते हैं, मज़हबी आन्दोलन हिन्दुस्तान, तुर्की और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विविध क़िस्म के देशों की राजनीति को आकार देते हैं, और मज़हबी दुष्मनियाँ नाइज़ीरिया से लेकर फ़िलिपीन्स तक के टकरावों को भड़काती हैं।

इसलिए ईसाइयत, इस्लाम और हिन्दुत्व जैसे मज़हब किस तरह प्रासंगिक हैं? क्या वे उन समस्याओं के समाधान में हमारी मदद कर सकते हैं, जिनका हम सामना कर रहे हैं? इक्कीसवीं सदी में पारम्परिक मज़हबों की भूमिका को समझने के लिए हमें तीन तरह की समस्याओं के बीच फ़र्क़ करने की ज़रूरत है :

1. तकनीकी समस्याएँ। उदाहरण के लिए, शुष्क देशों के किसानों को ग्लोबल वर्मिंग के कारण पैदा हुए गम्भीर सूखे से किस तरह निपटना चाहिए?
2. नीतिगत समस्याएँ। उदाहरण के लिए, सबसे पहले ग्लोबल वर्मिंग को रोकने के लिए सरकारों को क्या उपाय करने चाहिए?
3. पहचान की समस्याएँ। उदाहरण के लिए, क्या मुझे दुनिया के दूसरे हिस्सों के किसानों की समस्याओं की चिन्ता भी करनी चाहिए, या मुझे सिर्फ़ अपने क़बीले और अपने देश से जुड़े लोगों की चिन्ता करनी चाहिए?

जैसा कि हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे, पारम्परिक मज़हब तकनीकी और नीतिगत समस्याओं के सन्दर्भ में आमतौर पर अप्रासंगिक हैं। इसके विपरीत, वे पहचानपरक समस्याओं के सन्दर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक हैं, लेकिन ज़्यादातर मामलों में वे किसी ठोस समाधान की बजाय समस्या का अहम हिस्सा गढ़ते हैं।

तकनीकी समस्याएँ : ईसाई कृषि

आधुनिकता-पूर्व के युगों में कृषि जैसे साधारण क्षेत्रों की व्यापक तकनीकी समस्याओं को हल करने की ज़िम्मेदारी मज़हबों की हुआ करती थी। कब बोया जाए और कब काटा जाए, इसका निर्णय दैवीय कैलेंडर किया करते थे, वहीं पूजा-स्थलों के अनुष्ठान वर्षा लाने और फ़सलों की कीड़ों से हिफ़ाज़त किया करते थे। जब सूखे या टिड्डियों की महामारी से खेती पर संकट मँडराता था, तो किसान अपने देवताओं के बीच मध्यस्थता करने के लिए पुरोहितों के पास जाया करते थे। चिकित्सा-विज्ञान भी मज़हबी अधिकार क्षेत्र में आता था। लगभग हरेक पैग़म्बर, गुरु और ओझा चिकित्सक की भूमिका भी निभाता था। इसलिए ईसा ने अपना ज़्यादातर समय बीमारों को चंगा करने में, अन्धों को दृष्टि प्रदान करने में, गूँगों को वाणी देने, और पागलों को मानसिक रूप से स्वस्थ बनाने में लगाया था। आप चाहे प्राचीन मिस्र में रहते हों या मध्ययुगीन यूरोप में, अगर आप बीमार पड़ते थे, तो सम्भावना यही होती थी कि आप किसी चिकित्सक से सम्पर्क करने की बजाय किसी ओझा से सम्पर्क करते, और किसी औषधालय में जाने की बजाय किसी प्रसिद्ध देवालय की तीर्थयात्रा करते।

हाल के युगों में जीवविज्ञानियों और शल्यचिकित्सकों ने इन पुरोहितों और चमत्कारियों की जगह ले ली है। आज अगर मिस्र में टिड्डी-दल की महामारी फैल जाती है, तो मिस्रवासी शायद अल्लाह से मदद की गुहार करें - क्यों नहीं? - लेकिन वे रसायनशास्त्रियों, कीटविज्ञानियों और आनुवांशिकी-विज्ञानियों से सम्पर्क कर उनसे शक्तिशाली कीटाणु-नाशकों और कीटाणुओं से प्रभावित न होने वाली गेहूँ की नस्ल विकसित करने का आग्रह

करना न भूलेंगे। अगर किसी धर्मप्राण हिन्दू का बच्चा खसरा की गम्भीर बीमारी का शिकार होता है, तो उसका बाप धन्वन्तरि की प्रार्थना करेगा और स्थानीय मन्दिर में फूल और मिठाइयाँ चढ़ाएगा, लेकिन इसके पहले वह बच्चे को लेकर सबसे पास के अस्पताल में जाएगा और उसको वहाँ के डॉक्टरों की देखरेख में सौंपेगा। यहाँ तक जैसे-जैसे स्नायुविज्ञान भूत-विद्या और प्रोज़ाक झाड़-फूँक की जगह लेता जा रहा है, वैसे-वैसे मानसिक बीमारी - जो कि मज़हबी चिकित्सकों का आख़िरी गढ़ है - भी धीरे-धीरे वैज्ञानिकों के हाथ में आती जा रही है।

विज्ञान इस क़दर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुका है कि मज़हब की हमारी धारणा तक बदल गई है। अब हम मज़हब को कृषि और चिकित्सा से जोड़कर नहीं देखते। यहाँ तक कि बहुत सारे कट्टरपन्थी भी सामूहिक विस्मृति के शिकार हैं, और वे इस बात को भूल जाना ही पसन्द करते हैं कि पारम्परिक मज़हबों ने कभी इन क्षेत्रों पर अपने अधिकार का दावा भी किया था। ये कट्टरपन्थी कहते हैं, “अगर हम इंजीनियरों और डॉक्टरों की ओर मुड़ते हैं, तो इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? इससे कुछ भी साबित नहीं होता। वैसे भी मज़हब का कृषि और चिकित्सा से लेना-देना ही क्या है?”

साफ़तौर पर कहें, तो पारम्परिक मज़हबों ने अपना बहुत-सा अधिकार-क्षेत्र इसलिए खो दिया है, क्योंकि कृषि और चिकित्सा के क्षेत्र में वे बहुत क़ाबिल थे ही नहीं। वर्षा लाना, स्वस्थ बनाना, भविष्यवाणी या जादू करना पुरोहितों और गुरुओं की वास्तविक विशेषज्ञता दरअसल कभी रही ही नहीं थी। इसकी बजाय, भाष्य (व्याख्या) करना उनकी विशेषज्ञता हुआ करती थी। पुरोहित वह व्यक्ति नहीं है, जो यह जानता हो कि बारिश कैसे लाई जाए या सूखे का अन्त किस तरह किया जाए। पुरोहित वह है, जो इस बात का औचित्य प्रतिपादित करना जानता है कि बारिश क्यों नहीं हुई, और यह कि देवता भले ही हमारी सारी प्रार्थनाओं को अनसुना करता रहे, लेकिन तब भी हमें उसके प्रति अपनी आस्था क्यों जारी रखनी चाहिए।

लेकिन यह भाष्य करने की उनकी असाधारण प्रतिभा ही है, जो उनको उस समय घाटे की स्थिति में ले आती है, जब वे वैज्ञानिकों के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं। वैज्ञानिक भी ग़लत तरीक़े अपनाना और साक्ष्य को तोड़ना-मरोड़ना जानते हैं, लेकिन अन्ततः नाकामयाबी को स्वीकार करना और एक नई विधि को आज़माना विज्ञान की निशानी है। इसीलिए वैज्ञानिक धीरे-धीरे यह सीखते हैं कि बेहतर फ़सल की पैदावार कैसे की जाए और बेहतर औषधियों का निर्माण किस तरह किया जाए, जबकि पुरोहित और गुरु सिर्फ़ इतना सीख पाते हैं कि बेहतर बहाने किस तरह बनाए जाएँ। सदियों के दौरान सच्चे आस्थावानों तक ने इस फ़र्क़ को नोटिस किया है, यही वज़ह है कि मज़हबी वर्चस्व तकनीकी क्षेत्रों में उत्तरोत्तर कमज़ोर पड़ता जा रहा है। इसी से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि क्यों सारी दुनिया

उत्तरोत्तर एक ही सभ्यता में बदलती जा रही है। जब चीज़ें वास्तव में कारगर होने लगती हैं, तो हर कोई उनको अपनाने लगता है।

नीतिगत समस्याएँ : मुस्लिम अर्थव्यवस्थाएँ

जहाँ विज्ञान हमें तकनीकी प्रश्नों, जैसे कि खसरे का इलाज कैसे किया जाए आदि के स्पष्ट उत्तर उपलब्ध कराता है, वहीं नीति के सवालों को लेकर वैज्ञानिकों के बीच ख़ासा मतभेद होता है। इस बात पर लगभग सारे वैज्ञानिक सहमत हैं कि ग्लोबल वर्मिंग का बढ़ना एक तथ्य है, लेकिन इस ख़तरे के प्रति प्रभावशाली प्रतिक्रिया को लेकर कोई सहमति नहीं है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि पारम्परिक मज़हब इस समस्या को सुलझाने में हमारी मदद कर सकते हैं। प्राचीन पोथियाँ आधुनिक अर्थव्यवस्था के लिए अच्छी मार्गदर्शिकाएँ क़तई नहीं हैं, और मुख्य विवाद- उदाहरण के लिए पूँजीवादियों और समाजवादियों के बीच के विवाद - पारम्परिक मज़हबों के बीच के विभाजनों जैसे नहीं हैं।

यह सही है कि इज़रायल और ईरान जैसे मुल्कों में सरकार की आर्थिक नीतियों में रब्बियों और अयातुल्लाहों का प्रत्यक्ष दख़ल होता है, और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्राज़ील जैसे अपेक्षाकृत अधिक सेक्युलर देशों तक में मज़हबी नेता कराधान से लेकर पर्यावरण सम्बन्धी नियमों के मामलों तक में जनमत को प्रभावित करते हैं। तब भी बारीक़ी से देखने पर पता चलता है कि इनमें से ज़्यादातर मामलों में पारम्परिक मज़हब आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के विपरीत बहुत छोटी-मोटी भूमिका ही निभाते हैं। जब अयातुल्लाह खोमेनी को ईरान की अर्थव्यवस्था के मामले में कोई अहम फ़ैसला लेने की ज़रूरत होती है, तो वे कुरान में इसका ज़रूरी जवाब क़तई नहीं पा सकते, क्योंकि सातवीं सदी के अरब लोग आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं और वैश्विक वित्तीय बाज़ारों की समस्याओं और अवसरों के बारे में कोई ख़ास जानकारी नहीं रखते थे। इसलिए खोमेनी, या उनके सहयोगियों को जवाब की तलाश में कार्ल मार्क्स, मिल्टॅन फ़्रीडमैन, फ़्रेड्रिक हायेक और आधुनिक विज्ञान की ओर रुख करना अनिवार्य होता है। ब्याज-दरें बढ़ाने, करों को कम करने, सरकारी एकाधिपत्यों का निजीकरण करने या किसी अन्तरराष्ट्रीय सीमा-शुल्क समझौते पर हस्ताक्षर करने का मन बना लेने के बाद खोमेनी अपने मज़हबी ज्ञान और प्रभुत्व का इस्तेमाल इस वैज्ञानिक जवाब को कुरान की इस या उस आयत की नक़ाब से ढँकने के लिए कर सकते हैं, और उस जवाब को इस शक्ल में अल्लाह की मर्ज़ी बताते हुए जनता के सामने पेश कर सकते हैं, लेकिन नक़ाब बहुत मायने नहीं रखता। जब आप शिया ईरान, सुन्नी सऊदी अरब, यहूदी इज़रायल, हिन्दू भारत और ईसाई अमेरिका की

आर्थिक नीतियों की तुलना करने बैठते हैं, तो आपको इनमें उतना फ़र्क़ क़तई नज़र नहीं आता।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के दौरान मुसलमान, यहूदी, हिन्दू और ईसाई चिन्तकों ने आधुनिक भौतिकवाद, आत्माहीन पूँजीवाद, और नौकरशाही राज्य-व्यवस्था की अतियों की तीख़ी आलोचना की थी। उन्होंने वादा किया था कि अगर उनको एक मौक़ा दिया गया, तो वे आधुनिकता की सारी बुराइयों को दूर कर देंगे और अपने मज़हबी पन्थ के शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित एक पूरी तरह से भिन्न व्यवस्था खड़ी कर देंगे। ख़ैर, उनको बहुत कम मौक़े दिए गए, और आधुनिक अर्थव्यवस्था के महल में वे जो एकमात्र ध्यान देने योग्य बदलाव ला सके, वह यह था कि उन्होंने उसकी दीवारों पर पुते रंग को हटा दिया और उसकी छत पर दूज के चाँद, सलीब, डेविड के सितारे या ओ3 म् की विशाल आकृति को स्थापित कर दिया।

जिस तरह बारिश लाने के मामले में हुआ था, उसी तरह जब अर्थव्यवस्था का सवाल पैदा होता है, तो यह मज़हबी चिन्तकों की पोथियों की व्याख्या की वर्षों लम्बी साधना से अर्जित की गई विशेषज्ञता ही होती है, जो मज़हब को प्रासंगिक बनाती है। खोमेनी कोई भी आर्थिक नीति क्यों न चुनें, वे उसको हमेशा कुरान से सम्मत बता सकते थे। इसलिए कुरान एक सच्चे ज्ञान के स्रोत से नीचे गिरकर महज़ प्रभुत्व के एक स्रोत में बदल गई। जब आप किसी मुश्किल क़िस्म की आर्थिक दुविधा का सामना करते हैं, तो आप मार्क्स और हायेक को बारीक़ी-से पढ़ते हैं, और वे आर्थिक व्यवस्था को बेहतर ढंग से समझने में, चीज़ों को नए कोण से देखने में, और उनके ठोस समाधानों के बारे में विचार करने में आपकी मदद करते हैं। एक समाधान गढ़ने के बाद फिर आप कुरान की ओर रुख़ करते हैं और उसको किसी ऐसे सूरा की तलाश में बारीक़ी-से पढ़ते हैं कि अगर उसकी पर्याप्त कल्पनाशील ढंग से व्याख्या की जाए, तो वह उस समाधान को उचित ठहरा सकता है, जिसे आपने हायेक या मार्क्स को पढ़कर हासिल किया है। आपको वहाँ कैसा भी समाधान क्यों न मिला हो, अगर आप कुरान के एक अच्छे अध्येता हैं, तो आप उसको उचित ठहराने में हमेशा सफल होंगे।

यही बात ईसाइयत के बारे में सही है। एक ईसाई जितनी आसानी-से पूँजीवादी हो सकता है, उतनी ही आसानी-से समाजवादी हो सकता है, और हालाँकि ईसा ने कुछ बातें ऐसी कही हैं, जिनसे पूरी तरह से साम्यवाद की बू आती है, तब भी शीतयुद्ध के दौरान अच्छे अमेरिकी पूँजीवादियों ने इस ओर कोई ख़ास ध्यान दिए बिना ईसा के उपदेशों (सर्मन ऑन द माउंट) को पढ़ना जारी रखा था। 'ईसाई अर्थशास्त्र', 'मुसलमान अर्थशास्त्र' या 'हिन्दू अर्थशास्त्र' जैसी क़तई कोई चीज़ नहीं है।

यह नहीं कि बाइबल, कुरान या वेदों में कोई आर्थिक विचार नहीं हैं - बात सिर्फ़ इतनी है कि ये विचार आधुनिक नहीं हैं। वेदों की महात्मा गाँधी की व्याख्या ने उनको स्वाधीन

भारत को ऐसे आत्म-निर्भर ग्राम्य समुदायों के एक समूह के रूप में देखने की गुंजाइश दी थी, जिनमें से हर समुदाय खादी के अपने कपड़े बुनता, बहुत कम निर्यात करता और उससे भी कम आयात करता। उनकी सबसे प्रसिद्ध तसवीर में उनको ख़ुद अपने हाथों से सूत कातते हुए दिखाया गया है, और उन्होंने इस सादे चरखे को हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रतीक बना दिया था। तब भी यह सादगी-भरी परिकल्पना आधुनिक अर्थव्यवस्था की वास्तविकताओं से ज़रा भी मेल नहीं खाती थी, और इसलिए रुपयों के अरबों नोटों पर गाँधी की उज्ज्वल छवि के अलावा उनकी इस परिकल्पना का कुछ भी शेष नहीं रह गया।

आधुनिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त पारम्परिक मतों के मुक़ाबले में इतने अधिक प्रासंगिक हैं कि साफ़-साफ़ मज़हबी टकरावों तक की व्याख्या आमतौर से आर्थिक पदावली में की जाने लगी है, जबकि इससे उलटी प्रक्रिया अपनाने के बारे में कोई नहीं सोचता। उदाहरण के लिए, कुछ लोग तर्क देते हैं कि उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच के हंगामे आमतौर से वर्गसंघर्ष के परिणाम थे। विभिन्न ऐतिहासिक संयोगों की वज़ह से उत्तरी आयरलैंड के उच्च वर्ग ज़्यादातर प्रोटेस्टेंट थे और निचले तबके ज़्यादातर कैथोलिक थे। इसलिए जो चीज़ पहली निगाह में ईसा की प्रकृति को लेकर मज़हबी तक़रार प्रतीत होती थी, वह दरअसल सम्पन्नों और विपन्नों के बीच का एक आम संघर्ष था। इसके विपरीत, बहुत कम लोग होंगे जो यह दावा करेंगे कि 1970 के दशक की दक्षिण अमेरिका की साम्यवादी गोरिल्लाओं और पूँजीवादी भूमिपतियों के बीच की तक़रारें ईसाई धर्मशास्त्र को लेकर गहरे मतभेदों की आड़ मात्र थीं।

इसलिए जब इक्कीसवीं सदी के बड़े सवालों से सामना होगा, तब मज़हब से क्या फ़र्क़ पड़ेगा? उदाहरण के लिए इस सवाल को ही लें कि क्या आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस को लोगों की ज़िन्दगी के बारे में फ़ैसले लेने का - जैसे कि क्या पढ़ाई की जाए, कहाँ काम किया जाए, और किससे शादी की जाए आदि का - हक़ सौंपा जाए। इस सवाल पर मुस्लिम दृष्टिकोण क्या है? यहूदी दृष्टिकोण क्या है? यहाँ कोई 'मुस्लिम' या 'यहूदी' दृष्टिकोण नहीं हैं। मानव-जाति के दो मुख्य खेमों में बँट जाने की सम्भावना है - एक वे जो एआई को पर्याप्त अधिकार देने के पक्ष में होंगे, और दूसरे वे जो इसका विरोध करेंगे। पूरी सम्भावना है कि मुसलमान और यहूदी दोनों ही खेमों में पाए जाएँ, और जो भी दृष्टिकोण वे अपनाएँ, उसका समर्थन वे कुरान और तलमूद की अपनी कल्पनाशील व्याख्याओं के माध्यम से कर लें।

निश्चय ही मज़हबी समुदाय किन्हीं ख़ास मुद्दों पर अपने दृष्टिकोण सख़्त कर सकते हैं, और उनको कथित रूप से पवित्र और शाश्वत धर्ममतों में बदल सकते हैं। 1970 के दशक में लातीन अमेरिका के धर्मशास्त्री 'मुक्ति का धर्मशास्त्र' (लिबरेशन थियोलॉजी) लेकर आए थे, जिससे ईसा कुछ-कुछ चे ग्वारा जैसे लगते थे। इसी तरह, भूमण्डल के बढ़ते ताप पर

बहस के लिए ईसा को आसानी-से नियुक्त कर लिया जा सकता है, और वर्तमान राजनीतिक दृष्टिकोणों को कुछ ऐसी शक्ल दी जा सकती है, मानो वे शाश्वत मज़हबी सिद्धान्त हों।

इसकी शुरुआत होने ही जा रही है। पर्यावरण-सम्बन्धी नियमों के विरोध को अमेरिकी इवेंजेलिकल पादरियों के नर्क की धमकियों से भरे कुछ उपदेशों में समाहित कर लिया गया है, वहीं पोप फ़्रांसिस ईसा के पक्ष से ग्लोबल वर्मिंग की वृद्धि के ख़िलाफ़ अभियान का नेतृत्व कर रहे हैं (जैसा कि उनके दूसरे परिपत्र 'Laudato si * से ज़ाहिर है)। इसलिए शायद 2070 तक पर्यावरण सम्बन्धी सवाल पर इस बात से ज़्यादा फ़र्क़ पड़ेगा कि आप इवेंजेलिकल हैं या कैथोलिक। कहना न होगा कि इवेंजेलिकल कार्बन के उत्सर्जन की किसी भी अधिकतम सीमा के निर्धारण का विरोध करेंगे, जबकि कैथोलिकों का यह विश्वास होगा कि ईसा ने हमें पर्यावरण की रक्षा करने का उपदेश दिया था।

आपको उनकी कारों तक में अन्तर दिखाई देगा। इवेंजेलिकल बड़ी तादाद में पेट्रोल गटकने वाली एसयूवी चलाया करेंगे, जबकि श्रद्धालु कैथोलिक चिकनी विद्युत कारों में सफ़र किया करेंगे, जिनके बम्पर पर चिपके स्टिकर में लिखा होगा 'ग्रह को जलाओ - और नर्क में जलो!' हालाँकि, वे अपने दृष्टिकोण के बचाव में बाइबल से विभिन्न हिस्सों को उद्धृत कर सकते हैं, लेकिन उनके मतभेद का वास्तविक स्रोत बाइबल में नहीं, बल्कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों और राजनीतिक आन्दोलनों में होगा। इस परिप्रेक्ष्य से देखें, तो मज़हब के पास हमारे समय की महान राजनीतिक बहसों में योगदान करने के लिए कुछ ख़ास नहीं है। जैसा कि मार्क्स ने कहा था, वह महज़ एक मुलम्मा है।

पहचान की समस्याएँ : रेत में रेखाएँ

लेकिन मार्क्स उस वक़्त अतिरंजना कर रहे थे, जब उन्होंने मज़हब को एक ऐसी ऊपरी संरचना (सुपरस्ट्रक्चर) बताते हुए ख़ारिज़ किया था, जो अपने भीतर शक्तिशाली प्रौद्योगिकीय और आर्थिक शक्तियों को छिपाए होती है। भले ही इस्लाम, हिन्दू धर्म या ईसाइयत एक आधुनिक आर्थिक संरचना पर की गई रंगबिरंगी सजावटें ही क्यों न हों, तब भी समाज अक्सर साज-सज्जा के साथ तादात्म्य महसूस करते हैं, और समाजों की पहचानें निर्णायक महत्त्व का ऐतिहासिक बल होती हैं। मानवीय शक्ति सामूहिक सहकार पर निर्भर करती है, सामूहिक सहकार सामूहिक पहचानों को गढ़ने पर निर्भर करता है - और सारी सामूहिक पहचानें काल्पनिक क़िस्सों पर आधारित होती हैं, वे वैज्ञानिक तथ्यों या आर्थिक अनिवार्यताओं तक पर आधारित नहीं होतीं। इक्कीसवीं सदी में मनुष्यों का यहूदियों या मुसलमानों में या रूसियों और पोलैंडवासियों में विभाजन अभी भी मज़हबी

मिथकों पर निर्भर करता है। मनुष्य की नस्ल और वर्ग की पहचानों को वैज्ञानिक तौर निर्धारित करने की नाज़ियों और साम्यवादियों की कोशिशें ख़तरनाक छद्म-विज्ञान साबित हुई हैं, और तब के बाद से वैज्ञानिक मनुष्यों की किन्हीं 'कुदरती' पहचानों को परिभाशित करने को लेकर अत्यन्त अनिच्छुक रहे हैं।

इसलिए इक्कीसवीं सदी में मज़हब बारिश नहीं लाते, वे बीमारियाँ दूर नहीं करते, वे बम नहीं बनाते, लेकिन वे तब भी यह निर्धारित करने की भूमिका निभाते हैं कि कौन 'हम' हैं, और कौन 'वे' हैं, हमें किनको स्वस्थ बनाना चाहिए और किनको बम से उड़ा देना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, व्यावहारिक तौर पर शिया ईरान, सुन्नी सऊदी अरब और यहूदी इज़रायल के बीच आश्चर्यजनक रूप से बहुत कम भेद हैं। सारे-के-सारे देश नौकरशाह राष्ट्रीय राज्य हैं, सारे-के-सारे कमोबेश पूँजीवादी नीतियों का अनुसरण करते हैं, सारे-के-सारे देश अपने बच्चों का पोलियो के विरुद्ध टीकाकरण करते हैं, और सारे-के-सारे देश बम बनाने के लिए रसायनविदों और भौतिकीविदों पर भरोसा करते हैं। शिया नौकरशाही, सुन्नी पूँजीवाद, या यहूदी भौतिकी जैसी कोई चीज़ नहीं है। तो फिर लोगों में अनूठा होने का अहसास, और एक मानव-समुदाय के प्रति वफ़ादारी तथा दूसरे के प्रति वैर का अहसास कैसे जगाया जाए?

मनुष्यता की बदलती हुई स्थितियों में अमिट विभाजक रेखाएँ खींचने के लिए मज़हब अनुष्ठानों, कर्मकाण्डों और संस्कारों का इस्तेमाल करते हैं। शिया, सुन्नी और परम्परावादी यहूदी अलग-अलग तरह के वस्त्र पहनते हैं, अलग-अलग तरह की प्रार्थनाएँ करते हैं, और अलग-अलग तरह के निषेधों का पालन करते हैं। ये तरह-तरह की मज़हबी परम्पराएँ रोज़मर्रा जीवन को सुन्दर बनाती हैं, और लोगों को अधिक दयालुतापूर्ण और उपकार की भावना के साथ आचरण करने को प्रोत्साहित करती हैं। दिन में पाँच बार अज़ानी का सुरीला स्वर बाज़ारों, दफ़्तरों और कारख़ानों के शोर के बीच से ऊपर उठता है, और मुसलमानों को पुकारता है कि वे कुछ देर के लिए दुनियावी भाग-दौड़ से विराम लें, और ख़ुद को शाश्वत सत्य के साथ जोड़ने की कोशिश करें। इसी लक्ष्य पर उनके हिन्दू पड़ोसी नित्य पूजा और मन्त्रेच्चार की मदद से पहुँच सकते हैं। हर हफ़्ते, शुक्रवार की रात को यहूदी परिवार आनन्दपूर्ण दावत, कृतज्ञता-ज्ञापन और मेलजोल के लिए एकत्र होते हैं। दो दिन बाद, इतवार की सुबह, ईसाइयों की भजन-मण्डली लाखों लोगों के जीवन में उम्मीद का संचार करती हुई विश्वास और अपनेपन के सामुदायिक बन्धन गढ़ने में मदद करती है।

दूसरी मज़हबी परम्पराएँ दुनिया को ढेर सारी कुरूपता से भर देती हैं, और लोगों को क्षुद्रता और दुष्टतापूर्ण आचरण करने के लिए प्रेरित करती हैं। उदाहरण के लिए, मज़हबी तौर पर उत्प्रेरित नारी-द्वेष या जातीय भेदभाव के पक्ष में शायद ही कुछ कहा जा सके, लेकिन सुन्दर हो या कुरूप, ऐसी तमाम मज़हबी परम्पराएँ कुछ ख़ास लोगों को एकजुट करती हैं, तो उनको उनके पड़ोसियों से अलग करती हैं। बाहर से देखने पर, लोगों को

बाँटने वाली मज़हबी परम्पराएँ अक्सर तुच्छ प्रतीत होती हैं, और फ़्रायड ने इस तरह के मसलों को लेकर लोगों की ख़ब्त का 'संकीर्ण भेदों की आत्मरति' ('द नार्सिसिज़्म ऑफ़ स्मॉल डिफ़रेंसेज़') कहकर मज़ाक़ उड़ाया है। लेकिन इतिहास और राजनीति में संकीर्ण भेद बहुत दूर तक जा सकते हैं। इसलिए अगर आप समलैंगिक पुरुष या समलैंगिक स्त्री हैं, तो फिर चाहे आप इज़रायल में रहते हों, ईरान में रहते हों या सऊदी अरब में रहते हों, यह शब्दश: जीवन और मौत का मसला बन जाता है। इज़रायल में एलजीबीटी (लेस्बियन, गे, बायसेक्शुअल, ट्रांसजेंडर) को क़ानून का संरक्षण प्राप्त है, और यहाँ तक कि ऐसे भी कुछ रब्बी हैं जो दो स्त्रियों के विवाह को अपना आशीर्वाद देंगे। ईरान में समलैंगिक स्त्री-पुरुषों पर बाक़ायदा मुक़दमा चलाया जाता है और कभी-कभी फाँसी तक दे दी जाती है। सऊदी अरब में समलैंगिक स्त्री 2018 तक कार भी नहीं चला सकती थी - महज़ स्त्री होने के नाते, समलैंगिक स्त्री होने के नाते तो नहीं ही।

आधुनिक दुनिया में पारम्परिक मज़हबों की निरन्तर शक्ति और महत्त्व का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सम्भवतः जापान में देखने को मिलता है। 1853 में एक अमेरिकी जहाज़ी बेड़े ने जापान को मजबूर कर दिया था कि वह दुनिया के लिए अपने दरवाज़े खोल दे। जवाब में, जापानी राज्य ने आधुनिकीकरण की एक तेज़ रफ़्तार और अत्यन्त कामयाब प्रक्रिया की शुरुआत की। कुछ ही दशकों के भीतर यह विज्ञान और पूँजीवाद पर आधारित, और चीन तथा रूस को पराजित करने वाला, ताइवान और कोरिया पर क़ब्ज़ा करने वाला, और अन्ततः पर्ल हार्बर में अमेरिकी नौसैनिक बेड़े को गर्क कर देने वाला तथा सुदूर पूर्व में यूरोपीय साम्राज्य को नष्ट कर देने वाला आधुनिकतम सेना पर आधारित एक शक्तिशाली नौकरशाह राज्य बन गया, लेकिन जापान ने पश्चिमी रूपरेखा का अन्धानुसरण नहीं किया। वह अपनी अनूठी पहचान की रक्षा के लिए, और यह सुनिचिश्त करने के लिए उग्र रूप से संकल्परत था कि आधुनिक जापानी विज्ञान के प्रति, आधुनिकता के प्रति, या किसी धुँधले वैश्विक समुदाय के प्रति वफ़ादार होने की बजाय जापान के प्रति वफ़ादार हों।

इस उद्देश्य के लिए जापान ने जापानी पहचान की आधारशिला के तौर पर स्थानीय मज़हब शिन्तो की शरण ली। पारम्परिक शिन्तो विभिन्न देवताओं, आत्माओं, और प्रेतों में जीववादी आस्थाओं का घालमेल हुआ करता था, और हरेक गाँव तथा पूजा-स्थल की अपनी इष्ट आत्माएँ और स्थानीय परिपाटियाँ हुआ करती थीं। उन्नीसवीं सदी के परवर्ती और बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में जापानी राज्य ने बहुत सारी स्थानीय परम्पराओं को हतोत्साहित करते हुए शिन्तो का एक अधिकृत संस्करण तैयार किया। इस 'राजकीय शिन्तो' की रचना राष्ट्रीयता और नस्ल की उन बहुत-सी धारणाओं को मिलाकर की गई थी, जिनको जापान के कुलीन वर्ग ने यूरोपीय साम्राज्यवादियों से लिया था। बौद्ध धर्म, कन्फ़्यूशियस धर्म और समुराई सामन्तवादी संस्कृति के जो भी कोई तत्व राज्य के प्रति निष्ठा को मज़बूती प्रदान कर सकते थे, उनको शामिल किया गया। अन्ततः राजकीय

शिन्तो को उस जापानी सम्राट की पूजा के सर्वोच्च सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया, जिसको सूर्य देवी अमातेरासु का सीधा वंशज माना जाता है, और स्वयं उसको साक्षात देवता से कम नहीं समझा जाता था।

पहली नज़र में, एक ऐसे राज्य के सन्दर्भ में जो आधुनिकीकरण के क्रैश कोर्स की शुरुआत करने जा रहा था, प्राचीन और नवीन का यह विचित्र घालमेल अत्यन्त अनुपयुक्त विकल्प प्रतीत हुआ था। एक साक्षात देवता? जीववादी आत्माएँ? सामन्ती संस्कृति? यह सब एक आधुनिक औद्योगिक शक्ति की बजाय एक नवपाषाणयुगीन क़बीले के सरदार जैसा मालूम देता था।

लेकिन इसने जादुई असर पैदा किया। जहाँ जापान ने हैरतअंगेज़ रफ़्तार से आधुनिकीकरण किया, वहीं उसने इसी के साथ-साथ अपने राज्य के प्रति कट्टर वफ़ादारी विकसित की। राजकीय शिन्तो की कामयाबी की सबसे सुविदित निशानी यह तथ्य है कि जापान पहली ऐसी शक्ति था, जिसने सटीक निशाने पर मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण और इस्तेमाल किया। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा स्मार्ट बम की तैनाती के दशकों पहले, और एक ऐसे समय जब नाज़ी जर्मनी डम्ब V-2 रॉकेटों की तैनाती की शुरुआत कर रहा था, जापान ने इन प्रक्षेपास्त्रों के माध्यम से मित्र-राष्ट्रों के दर्जनों जहाज़ों को समुद्र में डुबा दिया था। हम इन प्रक्षेपास्त्रों को कामीकाज़े के रूप में जानते हैं। जहाँ आज के समय के सटीक निशाने पर मार करने वाले हथियारों को कम्प्यूटरों के माध्यम से दिशा दी जाती है, वहीं कामीकेज़ ऐसे साधारण वायुयान हुआ करते थे, जो विस्फोटकों से भरे होते थे और आत्मघाती अभियानों के लिए तैयार इंसानी पायलटों के मार्गदर्शन में उड़ते थे। यह आत्मघाती तैयारी राजकीय शिन्तो द्वारा उत्प्रेरित मृत्यु को चुनौती देने वाली आत्मोसर्ग की भावना की उपज थी। इस तरह कामीकेज़ आधुनिकतम मज़हबी भावना के साथ आधुनिकतम प्रौद्योगिकी के मिश्रण पर निर्भर करते थे।

आज की अनेक सरकारें जाने-अनजाने जापान की मिसाल का अनुसरण करती हैं। एक ओर वे आधुनिकता के सार्वभौमिक उपकरणों और ढाँचों को अपनाती हैं, वहीं दूसरी ओर वे एक विशिष्ट पहचान की रक्षा के लिए पारम्परिक मज़हबों पर निर्भर करती हैं। जो भूमिका जापान के राजकीय शिन्तो ने निभाई थी, वही भूमिका कमोबेश परम्परावादी ईसाइयत द्वारा रूस में, कैथोलिक पन्थ द्वारा पोलैंड में, शिया इस्लाम द्वारा ईरान में, वहाबी मज़हब द्वारा सऊदी अरब में, और यहूदी मज़हब द्वारा इज़रायल में निभाई जा रही है। कोई मज़हब कितना भी आदिम युगीन प्रतीत हो सकता है, थोड़ी-सी कल्पनाशीलता और पुनर्व्याख्या के सहारे उसका नवीनतम प्रौद्योगिकीय मशीनों और अत्यन्त परिष्कृत आधुनिक संस्थाओं के साथ संयोग बैठाया जा सकता है।

कुछ मामलों में राज्य अपनी विशिष्ट पहचान की रक्षा की ख़ातिर पूरी तरह से नए मज़हबों को गढ़ सकते हैं। इसकी सबसे चरम मिसाल आज के जापान के पूर्व उपनिवेश

उत्तरी कोरिया में पाई जा सकती है। उत्तर कोरिया का शासन अपनी प्रजा को ज्युशे नामक मतान्ध राजकीय मज़हब में दीक्षित करता है। ये मार्क्सवाद-लेनिनवाद, कुछ कोरियाई परम्पराओं, कोरियाई नस्ल की अनूठी शुद्धता में नस्लपरक आस्था, और किम इल-सुंग के परिवार के प्रति पूजाभाव का मिश्रण है। हालाँकि, यह दावा कोई नहीं करता कि किम परिवार सूर्य देवी के वंशज हैं, तब भी उनकी पूजा उसी श्रद्धा-भाव के साथ की जाती है, जिससे इतिहास में लगभग किसी भी देवता की गई है। शायद इस बात के प्रति सचेत होने की वज़ह से कि जापानियों ने अन्ततः उत्तर कोरियाइयों को पराजित किया था, उत्तर कोरियाई ज्युशे भी लम्बे समय से अपने मिश्रण में परमाणु हथियारों को जोड़ने पर ज़ोर देते हुए उनके विकास को परम बलिदानों के योग्य पवित्र कर्तव्य के रूप में चित्रित करता रहा है।

राष्ट्रवाद की नौकरानी

इसलिए प्रौद्योगिकी का विकास जिस किसी भी रूप में क्यों न हो, हम उम्मीद कर सकते हैं कि नई प्रौद्योगिकियों के इस्तेमाल को प्रभावित करने के लिए मज़हबी पहचानों और अनुष्ठानों के बारे में तर्क दिए जाते रहेंगे, और वे सम्भवतः दुनिया को लपटों के हवाले करने की शक्ति बरक़रार रख सकते हैं। सबसे आधुनिकतम परमाणु प्रक्षेपास्त्रों और साइबर बमों का इस्तेमाल मध्ययुगीन पोथियों के बारे में सैद्धान्तिक बहस का निपटारा करने के लिए किया जा सकता है। मज़हब, अनुष्ठान और कर्मकाण्ड तब तक महत्त्वपूर्ण बने रहेंगे, जब तक कि मानव-जाति की शक्ति सामूहिक सहकार पर निर्भर करती रहेगी और जब तक सामूहिक सहकार साझा कल्पनाओं में विश्वास पर निर्भर करता रहेगा।

दुर्भाग्य से, यह सब वास्तव में पारम्परिक मज़हबों को मनुष्यता की समस्याओं का इलाज नहीं, बल्कि उनका हिस्सा बना देता है। मज़हबों के पास अभी भी बहुत-सी राजनीतिक शक्ति है, इस क़दर कि वे राष्ट्रीय पहचानों को मज़बूत बना सकते हैं और तीसरे विश्वयुद्ध तक को भड़का सकते हैं, लेकिन जब इक्कीसवीं सदी की वैश्विक समस्याओं का ढेर लगाने का नहीं, बल्कि उनके समाधान का सवाल उठता है, तो उनके पास देने लायक़ कुछ ख़ास दिखाई नहीं देता, हालाँकि, बहुत-से पारम्परिक मज़हब सार्वभौमिक मूल्यों का समर्थन करते हैं और ब्रह्माण्डीय वैधता का दावा करते हैं, लेकिन फ़िलहाल उनका इस्तेमाल मुख्यतः राष्ट्रवाद की नौकरानी की तरह किया जा रहा है - चाहे वह उत्तर कोरिया हो, रूस हो, ईरान हो या इज़रायल हो। इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय भेदों से ऊपर उठना और परमाणु युद्ध, पारिस्थितिकीय ध्वंस और प्रौद्योगिकीय अराजकता जैसे ख़तरों का कोई वैश्विक समाधान ढूँढ पाना और भी मुश्किल बना दिया है।

परिणामतः ग्लोबल वर्मिंग में वृद्धि या परमाणु प्रसार की समस्याओं से निपटते समय शिया मौलवी ईरानियों को इन समस्याओं को ईरान के संकुचित परिप्रेक्ष्य से देखने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, यहूदी रब्बी इज़रायलियों को प्रमुख रूप से इज़रायल के हित की चिन्ता करने को प्रेरित करते हैं, और परम्परावादी पादरी रूस से आग्रह करते हैं कि वह सबसे पहले और सबसे ज़्यादा रूसी हितों के बारे में सोचे। निश्चय ही ऐसे भी धार्मिक सन्त हैं, जो राष्ट्रवादी अतिरेकों को नापसन्द करते हैं और अपेक्षाकृत अधिक सार्वभौमिक दृष्टिकोणों को अपनाते हैं। दुर्भाग्य से ऐसे सन्तों के पास इन दिनों कोई ख़ास राजनीतिक प्रभाव नहीं है।

ऐसी हालत में हम एक मुश्किल स्थिति में फँसे हैं, जहाँ एक कठिन फ़ैसला लेना ज़रूरी है। मानव-जाति एक एकल सभ्यता है, और परमाणु युद्ध, पारिस्थितिकीय ध्वंस, और प्रौद्योगिकीय अराजकता जैसी समस्याओं को सिर्फ़ वैश्विक स्तर पर ही सुलझाया जा सकता है। दूसरी ओर, राष्ट्रवाद और मज़हब अभी भी हमारी मानव-सभ्यता को अलग-अलग और अक्सर परस्पर शत्रु खेमों में विभाजित करते हैं। वैश्विक समस्याओं और स्थानीय पहचानों के बीच का टकराव स्वयं को उस संकट में रूपायित करता है, जिनसे दुनिया का महानतम बहुसांस्कृतिक प्रयोग- यूरोपीय यूनियन - आहत है। सार्वभौमिक उदारवादी मूल्यों के आश्वासन पर खड़ा यूरोपीय यूनियन एकीकरण और अप्रवासन की मुश्किलों की वज़ह से विघटन की कगार पर खड़ा लड़खड़ा रहा है।

9

अप्रवास

कुछ संस्कृतियाँ दूसरी संस्कृतियों से छोड़ता हो सकती है

भूमण्डलीकरण ने हालाँकि समूचे ग्रह में व्याप्त सांस्कृतिक भेदों को बड़े पैमाने पर कम कर दिया है, लेकिन इसी के साथ-साथ इसने अजनबियों का सामना करने और उनकी विचित्रताओं से विचलित होने को कहीं ज़्यादा आसान भी बना दिया है। एंग्लो-सैक्सन इंग्लैंड और हिन्दुस्तान के पाल साम्राज्य के बीच का फ़र्क़ आधुनिक ब्रिटेन और आधुनिक हिन्दुस्तान के बीच के फ़र्क़ से कहीं ज़्यादा बड़ा था, लेकिन किंग अल्फ़्रेड द ग्रेट के ज़माने में ब्रिटिश एयरवेज़ ने दिल्ली और लन्दन के बीच सीधी हवाई सेवा उपलब्ध नहीं कराई थी।

रोज़गारों, सुरक्षा और बेहतर भविष्य की तलाश में जितने ही ज़्यादा इंसान जितनी ही ज़्यादा सरहदों को पार करते जाते हैं, उतना ही अजनबियों का सामना करने, उनको अपनाने या देश से निकालने की ज़रूरत उन राजनीतिक व्यवस्थाओं और सामूहिक पहचानों को तनाव से भरती जाती हैं, जिन्होंने कम लचीले वक़्त में आकार लिया था। यह समस्या जितनी तीखी यूरोप में है, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं है। यूरोपीय यूनियन को फ़्रांसीसियों, जर्मनों, स्पेनियों और ग्रीकों के बीच के सांस्कृतिक भेदों से ऊपर उठने के आश्वासन के आधार पर खड़ा किया गया था। अब यह यूरोपीय लोगों तथा अफ़्रीका और मध्यपूर्व से आ बसे लोगों के बीच के सांस्कृतिक भेदों को समाहित कर पाने में अपनी अक्षमता की वज़ह से ध्वस्त हो सकती है। विडम्बना यह है कि प्रथमतः यह एक समृद्ध बहुसांस्कृतिक व्यवस्था को तैयार करने की यूरोप की कामयाबी ही रही है, जिसने इतनी बड़ी संख्या में अप्रवासियों को आकर्षित किया। सीरियाई लोग सऊदी अरब, ईरान, रूस या जापान में जा बसने की बजाय जर्मनी में बस जाना चाहते हैं, तो इसलिए नहीं कि जर्मनी दूसरे तमाम सम्भावित गन्तव्यों की तुलना में ज़्यादा क़रीब है या ज़्यादा सम्पन्न है,

बल्कि इसलिए कि बाहर आकर बसने वाले लोगों के प्रति आतिथ्य का भाव रखने और उनको अपना लेने का जर्मनी का इतिहास बहुत बेहतर रहा है।

शरणार्थियों और बाहर से आ बसे लोगों की लहर यूरोपियों में मिली-जुली प्रतिक्रियाएँ पैदा करती है, और यूरोप की पहचान और भविष्य को लेकर उग्र बहसों को भड़काती है। कुछ यूरोपीय माँग करते हैं कि यूरोप को अपने प्रवेश-द्वार बन्द कर लेने चाहिए : ये लोग यूरोप के बहुसांस्कृतिक और सहिष्णु आदर्शों के साथ धोखा कर रहे हैं, या वे आपदा को रोकने के लिए अक़्लमन्द क़दम उठा रहे हैं? दूसरे कुछ लोग हैं, जो इन प्रवेश-द्वारों को पूरी तरह से खोल देने का आह्वान करते हैं : क्या ये लोग यूरोप के बुनियादी महत्त्व के मूल्यों के प्रति निष्ठावान हैं, या वे यूरोपीय परियोजना पर असम्भव उम्मीदों का बोझ डालने का अपराध कर रहे हैं? बाहर से आ बसने वालों को लेकर यह बहस अक्सर चीख़-पुकार से भरे एक ऐसे विवाद के स्तर पर गिर जाती है, जिसमें कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष की बात नहीं सुनता। मसलों को स्पष्ट करने के लिए, अप्रवासन को तीन बुनियादी शर्तों के साथ एक समझौते के रूप में देखना शायद मददगार होगा :

शर्त 1 : मेहमान मुल्क अप्रवासियों को अन्दर आने की इजाज़त दें।
शर्त 2 : बदले में, अप्रवासियों को कम-से-कम मेहमान मुल्क के मूलभूत मानकों और मूल्यों को स्वीकार करना चाहिए, भले ही इससे उनको अपने कुछ पारम्परिक मानकों और मूल्यों को क्यों न छोड़ना पड़े।
शर्त 3 : अगर अप्रवासी पर्याप्त स्तर पर घुल-मिल जाते हैं, तो वे मेहमान मुल्क के बराबरी के और पूर्ण सदस्य बन जाएँगे। 'वे' 'हम' बन जाएँगे।

ये तीन शर्तें प्रत्येक शर्त के ठीक-ठीक अर्थ के बारे में तीन स्वतन्त्र बहसों को जन्म देती हैं। एक चौथी बहस का सम्बन्ध इन शर्तों को पूरा करने से है। जब लोग अप्रवास के बारे में बहस करते हैं, तो वे अक्सर चारों बहसों को इस तरह गड्डमड्ड कर देते हैं कि यह बात किसी को समझ में ही नहीं आती कि बहस किस चीज़ के बारे में हो रही है। इसलिए इन बहसों पर अलग-अलग नज़र डालना सबसे अच्छा होगा।

बहस 1 : अप्रवासन समझौते का पहला अनुच्छेद सिर्फ़ इतना कहता है कि मेहमान मुल्क अप्रवासियों को अन्दर आने की इजाज़त दे, लेकिन इसे एक कर्तव्य की तरह देखा जाना चाहिए या अहसान की तरह? क्या मेहमान मुल्क हर किसी के लिए अपने प्रवेश-द्वार खोलने के लिए बाध्य है, या उसे चुनने का, और यहाँ तक कि अप्रवासन को पूरी तरह रोक देने का अधिकार है? अप्रवासियों के पक्षधर ऐसा सोचते हुए लगते हैं कि यह देशों का नैतिक कर्तव्य है कि वे महज़ शरणार्थियों को ही नहीं, बल्कि निर्धनता के शिकार देशों के

उन लोगों को भी स्वीकार करें, जो रोज़गारों और बेहतर भविष्य की तलाश कर रहे हैं। ख़ासतौर से एक भूमण्डलीकृत दुनिया में तमाम मनुष्यों के तमाम दूसरे मनुष्यों के प्रति नैतिक कर्तव्य हैं, और जो लोग इन कर्तव्यों से पीछे हटते हैं, वे अहंकारी या नस्लवादी तक हैं।

इसके अतिरिक्त, अप्रवासियों के बहुत-से पक्षधर इस बात पर ज़ोर देते हैं कि अप्रवासन को पूरी तरह से रोकना असम्भव है, और चाहे कितनी ही दीवारें खड़ी कर ली जाएँ या बाड़ें लगा ली जाएँ, हताश लोग अन्दर आने का रास्ता निकाल ही लेंगे। इसलिए बेहतर यही है कि इंसानों की ख़रीद-फ़रोख़्त, ग़ैरक़ानूनी कामगारों और दस्तावेज़-रहित बच्चों का एक विशाल भूमिगत अपराध-जगत तैयार करने की बजाय अप्रवासन को वैधीकृत कर दिया जाए और उसके साथ खुले तौर पर निपटा जाए।

अप्रवासन-विरोधी इसके जवाब में यह कहते हैं कि अगर आप पर्याप्त बल-प्रयोग करें, तो आप अप्रवासन को पूरी तरह से रोक सकते हैं, और सम्भवतः पड़ोसी देशों के क्रूर उत्पीड़न से बचकर भागे शरणार्थियों के मामलों के अपवाद को छोड़कर, आप अपने प्रवेश-द्वार खोलने के लिए कभी भी बाध्य नहीं हैं। सीरियाई शरणार्थियों को सरहद पार करने की छूट देना तुर्की की नैतिक ज़िम्मेदारी हो सकती है, लेकिन अगर ये शरणार्थी वहाँ से स्वीडन की ओर बढ़ते हैं, तो स्वीडन के लोग उनको स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं। जहाँ तक रोज़गार और ख़ैरियत की तलाश में आए अप्रवासियों का सवाल है, तो यह पूरी तरह से मेहमान मुल्क पर निर्भर करता है कि वह उनको प्रवेश देना चाहता है या नहीं, और अगर देना चाहता है, तो किन शर्तों पर।

अप्रवासन-विरोधी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि हर मानव-समुदाय का एक बुनियादी अधिकार आक्रमणों के विरुद्ध अपना बचाव करना है, वह आक्रमण चाहे शत्रुओं के रूप में किया जा रहा हो या प्रवासियों के रूप में। स्वीडन के लोगों ने एक समृद्ध उदार लोकतन्त्र की स्थापना के लिए बहुत कठोर परिश्रम किया था और कई बलिदान दिए थे, और अगर सीरियाई लोग ऐसा करने में विफल रहे, तो यह स्वीडन-वासियों की ग़लती नहीं है। अगर स्वीडी मतदाता - जिस किसी भी वज़ह से- अब और ज़्यादा सीरियाई अप्रवासियों को नहीं आने देना चाहते, तो उनको प्रवेश देने से इंकार करना उनका हक़ है। और अगर वे कुछ अप्रवासियों को स्वीकार करते हैं, तो यह बात पूरी तरह से स्पष्ट होनी चाहिए कि यह स्वीडियों द्वारा किया गया एक अहसान है, न कि ऐसा कोई कर्तव्य, जिसको स्वीडियों ने पूरा किया हो। इसका मतलब है कि जिन अप्रवासियों को स्वीडन में आने की इजाज़त दी जाती है, उनको वहाँ जो कुछ भी हासिल होता है, उसके लिए अत्यन्त कृतज्ञ होना चाहिए, न कि वे अपनी माँगों की एक फ़ेहरिस्त लेकर इस तरह पेश हो जाएँ, जैसे इस जगह पर उनकी मिल्कियत हो।

इसके अतिरिक्त, अप्रवासन-विरोधी यह भी कहते हैं कि एक देश को अपनी इच्छानुसार अप्रवासन-सम्बन्धी नीति बनाने का, और अप्रवासियों की उनके आपराधिक अतीत या व्यावसायिक प्रतिभाओं की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि मज़हब जैसी चीज़ों के मामलों तक में, सुरक्षा-जाँच करने का हक़ है। अगर इज़रायल जैसा एक देश सिर्फ़ यहूदियों को अन्दर आने की इजाज़त देता है, और पोलैंड जैसा देश मध्य पूर्वी शरणार्थियों को उनके ईसाई होने की शर्त पर अन्दर आने की इजाज़त देता है, तो यह चीज़ अप्रिय भले ही लगे, लेकिन यह पूरी तरह से इज़रायली या पोलिश मतदाताओं के अधिकार-क्षेत्र की चीज़ है।

इन मसलों को जो चीज़ और भी ज़्यादा उलझा देती है, वह यह है कि बहुत-से मामलों में लोग दोनों हाथों में लड्डू चाहते हैं। बहुत-से देश अवैध अप्रवासन के प्रति आँखें मूँद लेते हैं, या विदेशी कामगारों को तात्कालिक तौर पर स्वीकार तक कर लेते हैं, क्योंकि वे विदेशियों की ऊर्जा, प्रतिभाओं और सस्ते श्रम का लाभ उठाना चाहते हैं, लेकिन इसके बाद ये देश इन लोगों को वैधानिक हैसियत देने से इंकार करते हुए यह कह देते हैं कि वे अप्रवासन नहीं चाहते। लम्बे अन्तराल में यह चीज़ ऐसे सोपानक्रमिक (हायरार्किकल) समाजों की रचना कर सकती है, जिसमें पूर्ण नागरिकता-प्राप्त उच्च वर्ग निचले तबके के शक्तिहीन विदेशियों का शोषण करने लगते हैं, जैसा कि आज क़तर और कई अन्य खाड़ी मुल्कों में होता है।

जब तक इस बहस का समाधान नहीं होता, तब तक अप्रवासन के बारे में उठने वाले बाद के तमाम सवालों का जवाब दे पाना बेहद मुश्किल है। चूँकि अप्रवासन के पक्षधर ऐसा सोचते हैं कि अगर लोग दूसरे मुल्क में जाकर बसना चाहते हैं, तो उनको इसका अधिकार है, और मेहमान मुल्कों का कर्तव्य है कि वे उनको अपनाएँ, इसलिए जब लोगों के दूसरे मुल्क में जा बसने के अधिकार का हनन होता है, और जब ये मुल्क ऐसे लोगों को अपनाने के कर्तव्य से आँख चुराते हैं, तो अप्रवासन के ये पक्षधर नैतिक आवेश से भरकर प्रतिक्रिया करते हैं। अप्रवासन-विरोधी इस तरह के दृष्टिकोणों से आश्चर्यचकित होते हैं। वे अप्रवासन को एक सुविधा की तरह और अपनाए जाने को एक अहसान की तरह देखते हैं। अगर लोग अपने ही देश में दूसरों को प्रवेश देने से इंकार करते हैं, तो महज़ इस आधार पर उन पर नस्लवादी या फ़ासिस्ट होने का आरोप क्यों लगाया जाना चाहिए?

बेशक, अगर अप्रवासियों को अन्दर आने की इजाज़त देना कर्तव्य की बजाय एक अहसान भी है, तब भी जैसे ही अप्रवासी अपने पैर जमा लेते हैं, वैसे ही धीरे-धीरे उनके और उनके वंशजों के प्रति मेहमान मुल्क के बहुत-से दायित्व हो जाते हैं। नतीजतन, आप आज संयुक्त राज्य अमेरिका में यहूदियों के प्रति जारी नफ़रत के भाव को यह कहते हुए उचित ठहरा सकते हैं कि “हमने 1910 में आपकी परदादी को इस देश के अन्दर आने की

इजाज़त देकर अहसान किया था, इसलिए हम आपके साथ मनमाना बर्ताव कर सकते हैं।”

बहस 2 : अप्रवासन समझौते का दूसरा अनुच्छेद कहता है कि अगर अप्रवासियों को अन्दर आने की इजाज़त दी जाती है, तो स्थानीय संस्कृति में घुल-मिल जाना उनका कर्तव्य है, लेकिन यह घुलना-मिलना किस सीमा तक होना चाहिए? अगर अप्रवासी एक पितृसत्तात्मक समाज से एक उदारवादी समाज में आते हैं, तो क्या उनको नारीवादी हो जाना चाहिए? अगर वे किसी गहन मज़हबी समाज से आते हैं, तो क्या उनको सेक्युलर विश्वदृष्टि अपनाना ज़रूरी है? क्या उनको अपने वेशभूषा सम्बन्ध पारम्परिक उसूलों और भोजन सम्बन्धी निषेधों को त्याग देना चाहिए? अप्रवासन-विरोधी अपने मानदण्डों को ऊँचा रखने की कोशिश करते हैं, जबकि अप्रवासन के पक्षधर उसको नीचा रखते हैं।

अप्रवासन के पक्षधर तर्क देते हैं कि यूरोप स्वयं अत्यन्त विविधताओं से भरा हुआ है, और उसकी स्थानीय आबादी का मान्यताओं, आदतों और मूल्यों का एक व्यापक परिदृश्य है। ठीक यही वह चीज़ है, जो यूरोप को चमक और मज़बूती प्रदान करती है। तब फिर प्रवासियों को किसी ऐसी काल्पनिक यूरोपीय पहचान से चिपकने को बाध्य क्यों किया जाना चाहिए, जिस पर बहुत थोड़े-से यूरोपीय वास्तव में खरे उतरते हैं? क्या आप ब्रिटेन में रहने वाले मुसलमान अप्रवासियों को ईसाई बनने पर बाध्य करना चाहते हैं, जबकि स्वयं बहुत-से ब्रितानी नागरिक चर्च में जाते हैं? क्या आप चाहते हैं कि पंजाब से आए अप्रवासी अपना करी और मसाला छोड़कर मछली और चिप्स और यॉर्कशायर पुडिंग खाना शुरू कर दें? अगर यूरोप के कोई वास्तविक आधारभूत मूल्य हैं, तो वे सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के उदारवादी मूल्य हैं, जिनका यह मतलब है कि यूरोपियों को अप्रवासियों के प्रति भी सहिष्णुता बरतनी चाहिए, और उनको अपनी परम्पराओं का अनुसरण करने देने की जितनी मुमकिन हो सके, उतनी आज़ादी दी जाए, बशर्ते कि इनसे दूसरे लोगों की आज़ादी और हक़ों को कोई क्षति न पहुँचती हो।

अप्रवासन-विरोधी इस बात से सहमत हैं कि सहिष्णुता और स्वतन्त्रता सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यूरोपीय मूल्य हैं, और वे बहुत-से अप्रवासी समुदायों पर- ख़ास तौर से मुस्लिम देशों से आए अप्रवासियों पर - असहिष्णुता, नारीद्वेष, समलैंगिकों के प्रति नफ़रत, और यहूदी-विरोधी होने का आरोप लगाते हैं। ठीक इसलिए कि यूरोप सहिष्णुता को सँजोए हुए है, वह बहुत ज़्यादा असहिष्णु लोगों को अन्दर आने की इजाज़त नहीं दे सकता। जहाँ एक सहिष्णु समाज थोड़ी-बहुत संख्या में अनुदार अल्पसंख्यकों को किसी तरह गुंजाइश दे सकता है, वहीं अगर इस तरह के अतिवादियों की संख्या एक निश्चित सीमा से ज़्यादा हो जाती है, तो उस समाज की पूरी प्रकृति ही बदल जाती है। अगर यूरोप ने मध्य पूर्व के बहुत

ज़्यादा अप्रवासियों को अन्दर आने दिया, तो यूरोप का हश्र यह होगा कि वह भी मध्य पूर्व जैसा दिखने लगेगा।

दूसरे अप्रवासन-विरोधी और भी आगे हैं। वे इस ओर ध्यान दिलाते हैं कि कोई भी राष्ट्रीय समुदाय ऐसे लोगों के समूह से कहीं ज़्यादा बड़ा होता है, जो एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु होते हैं। इसलिए इतनाभर काफ़ी नहीं है कि अप्रवासी सहिष्णुता के यूरोपीय मानदण्डों के प्रति निष्ठावान हों। उनको ब्रितानी, जर्मन या स्वीडी संस्कृति के बहुत-से अनूठे लक्षणों को भी अपनाना चाहिए, फिर वे लक्षण चाहे जो भी क्यों न हों। उनको अन्दर आने की इजाज़त देते हुए स्थानीय संस्कृति एक बहुत बड़ा जोखिम मोल ले रही है और बहुत बड़ी क़ीमत चुका रही है। कोई वज़ह नहीं कि उसे ख़ुद को भी बर्बाद कर लेना चाहिए। वह अन्ततः पूर्ण समानता प्रदान करती है, इसलिए वह पूर्ण समावेशीकरण की भी माँग करती है। अगर अप्रवासियों के मन में ब्रितानी, जर्मन या स्वीडी संस्कृति की किन्हीं विचित्रताओं को लेकर कोई समस्या है, तो वे मेहरबानी करके कहीं और चले जाएँ।

इस बहस के दो प्रमुख मुद्दे हैं, अप्रवासियों की असहिष्णुता को लेकर असहमति और यूरोपीय पहचान को लेकर असहमति। अगर अप्रवासी वाक़ई असाध्य असहिष्णुता के दोषी हैं, तो फ़िलहाल अप्रवासन की पक्षधरता करने वाले बहुत-से उदारवादी यूरोपीय आगे-पीछे इसका तीखा विरोध करने लगेंगे। इसके विपरीत, अगर ज़्यादातर अप्रवासी धर्म, लिंग और राजनीति के प्रति अपने रवैये के मामले में उदार और खुले दिमाग़ के साबित हो जाते हैं, तो यह स्थिति अप्रवासन के विरुद्ध कुछ अत्यन्त प्रभावशाली तर्कों को निहत्था कर देगी।

लेकिन, यह स्थिति तब भी यूरोप की विशिष्ट राष्ट्रीय पहचानों के सवाल को तो बरक़रार ही रखेगी ही। सहिष्णुता एक सार्वभौमिक मूल्य है। क्या कोई ऐसे विशिष्ट फ़्रांसीसी मानक या मूल्य हैं, जिनको फ़्रांस आकर बसने वाले किसी भी व्यक्ति को स्वीकार करना चाहिए, और क्या डेनमार्क के कोई ऐसे विशिष्ट मानक या मूल्य हैं, जिनको डेनमार्क में आकर बसने वाले किसी भी व्यक्ति को अंगीकार करना चाहिए? जब तक यूरोपियों के बीच इन सवालों को लेकर तीखे मतभेद बने रहते हैं, तब तक वे अप्रवासन को लेकर कोई स्पष्ट नीति नहीं अपना सकते। इसके विपरीत, जैसे ही यूरोपियों को यह बात समझ में आ जाती है कि वे कौन हैं, वैसे ही 50 करोड़ यूरोपियों के लिए कुछ लाख शरणार्थियों को अपने में मिला लेने में - या उनको वापस भेज देने में - कोई मुश्किल नहीं होनी चाहिए।

बहस 3 : अप्रवासन समझौते का तीसरा अनुच्छेद कहता है कि अगर अप्रवासी घुल-मिल जाने और विशेष रूप से सहिष्णुता के मूल्य को अपनाने की वाक़ई कोई ईमानदार कोशिश करते हैं, तो मेहमान मुल्क उनसे प्रथम श्रेणी के नागरिकों की तरह व्यवहार करने को बाध्य है, लेकिन अप्रवासियों के समाज के पूर्ण सदस्य बनने से पहले कितना समय बीतना

ज़रूरी है? अगर अल्ज़ीरिया से आई अप्रवासियों की पहली पीढ़ी के लोगों को फ़्रांस में बीस साल बिता चुकने के बाद भी पूरी तरह से फ़्रांसीसियों की तरह नहीं देखा जाता, तो क्या उनको असन्तुष्ट महसूस करते रहना चाहिए? और उस तीसरी पीढ़ी के बारे में क्या कहेंगे, जिसके परदादा 1970 के दशक में फ़्रांस आए थे?

अप्रवासन के पक्षधर शीघ्र स्वीकृति की माँग करते हैं, जबकि अप्रवासन-विरोधी एक ज़्यादा लम्बी परिवीक्षा-अवधि (प्रोबेशन पीरियड) की माँग करते हैं। अप्रवासन के पक्षधरों के अनुसार अगर तीसरी पीढ़ी के अप्रवासियों को बराबरी के नागरिकों की तरह देखा नहीं जाता है और न ही बराबरी का व्यवहार किया जाता है, तो इसका मतलब है कि मेहमान मुल्क अपना दायित्व पूरा नहीं कर रहा है। अगर इसका नतीजा तनाव, विद्वेष और हिंसा तक के रूप में सामने आता है, तो इसके लिए मेहमान मुल्क अपनी मतान्धता और पक्षपात के अलावा और किसी को दोषी नहीं ठहरा सकता। अप्रवासन-विरोधियों के मुताबिक़ बढ़ी हुई अपेक्षाएँ समस्या का एक बड़ा हिस्सा हैं। अप्रवासियों को धीरज से काम लेना चाहिए। अगर आपके दादा-दादी/नाना-नानी महज़ चालीस साल पहले आए थे, और अब आप सड़कों पर इसलिए दंगे करते हैं, क्योंकि आप सोचते हैं कि आपसे स्थानीय व्यक्तियों की तरह व्यवहार नहीं किया जाता, तो आप परीक्षा में खरे नहीं उतरे हैं।

इस बहस का मूल मुद्दा समय के निजी पैमाने और समय के सामूहिक पैमाने से ताल्लुक़ रखता है। मानव-समुदायों की दृष्टि से चालीस साल एक छोटा समय है। किसी समाज से विदेशी समुदायों को कुछ दशकों के भीतर आत्मसात कर लेने की उम्मीद करना मुश्किल है। अतीत की जिन सभ्यताओं जैसे कि शाही रोम, मुस्लिम ख़िलाफ़त, चीनी साम्राज्य और संयुक्त राज्य अमेरिका आदि ने विदेशियों को अपने में मिलाया था और उनको बराबरी के नागरिकों की हैसियत प्रदान की थी। उन सबने इस रूपान्तरण को पूरा करने में दशकों का नहीं, बल्कि सदियों का समय लिया था।

लेकिन निजी दृष्टिकोण से देखने पर चालीस वर्ष अनन्तकाल हो सकते हैं। फ़्रांस में जन्मी एक किशोरी के लिए उसके दादा-दादी/नाना-नानी के वहाँ आ बसने के बीस साल बाद, अल्ज़ीयर्स से मार्सेल का सफ़र प्राचीन इतिहास की घटना है। उसका जन्म यहाँ हुआ था, उसके सारे दोस्तों का जन्म यहाँ हुआ था, वह अरबी बोलने की बजाय फ़्रांसीसी बोलती है, और वह कभी अल्ज़ीरिया में नहीं रही। फ़्रांस एकमात्र जगह है, जिसे वह अपने घर के रूप में जानती रही है। और अब लोग उससे कहते हैं कि यह उसका घर नहीं है, और यह कि उसको एक ऐसी जगह 'वापस' लौट जाना चाहिए, जहाँ वह कभी रही ही नहीं है?

यह कुछ ऐसा है कि आप ऑस्ट्रेलिया से यूकेलिप्टस का एक बीज लाएँ, और उसको फ़्रांस में बो दें। पारिस्थितिकीय परिप्रेक्ष्य में देखें, तो यूकेलिप्टस के वृक्ष एक घुसपैठिया प्रजाति हैं, और वनस्पति विज्ञानियों को इसको स्थानीय यूरोपीय वनस्पति के रूप में

वर्गीकृत करने में पीढ़ियाँ गुज़र जाएँगी, लेकिन एक स्वतन्त्र वृक्ष के दृष्टिकोण से देखने पर, वह एक फ़्रांसीसी वृक्ष है। अगर आप उसको फ़्रांसीसी पानी से नहीं सींचेंगे, तो वह सूख जाएगा। अगर आप उसको उखाड़ने की कोशिश करेंगे, तो आप पाएँगे कि उसने फ़्रांस की मिट्टी में उसी तरह अपनी जड़ें गहरे तक जमा रखी हैं जिस तरह स्थानीय ओक्स या पाइन के वृक्षों ने जमा रखी हैं।

बहस 4 : अप्रवासन समझौते की ठीक-ठीक परिभाषा से सम्बन्धित इन सारी असहमतियों में सबसे ऊपर मूलभूत प्रश्न यह है कि क्या यह समझौता वास्तव में प्रभावी है। क्या दोनों पक्ष अपनी शर्तों को पूरा कर रहे हैं?

अप्रवासन-विरोधी यह तर्क देने की कोशिश करते हैं कि अप्रवासी शर्त क्रमांक 2 को पूरा नहीं कर रहे हैं। वे घुलने-मिलने की ईमानदार कोशिश नहीं कर रहे हैं, और उनमें से बहुत-से लोग असहिष्णु और प्रजातीय रूप से मतान्ध विश्वदृष्टियों से चिपके हैं। इसलिए कोई कारण नहीं कि मेहमान मुल्क शर्त क्रमांक 3 (उनसे प्रथम श्रेणी के नागरिक की तरह व्यवहार करने की शर्त) को पूरा करे, और इस बात की पर्याप्त वज़ह है कि वह शर्त क्रमांक 1 (उनको प्रवेश देने की छूट) पर पुनर्विचार करे। अगर किसी ख़ास संस्कृति के लोगों ने साबित कर दिया हो कि वे अप्रवासन समझौते की शर्तों को पूरा करने को लेकर निरन्तर अनिच्छुक बने रहे हैं, तो फिर उनको प्रवेश की इजाज़त क्यों दी जाए, तथा और भी बड़ी समस्या क्यों खड़ी की जाए?

अप्रवासन के पक्षधर जवाब देते हैं कि दरअसल यह मेहमान मुल्क होता है, जो समझौते के अपने पक्ष का निर्वाह करने में विफल रहता है। अप्रवासियों की विशाल संख्या द्वारा घुलने-मिलने के ईमानदार प्रयत्नों के बावजूद मेहमान मुल्क उनके इन प्रयत्नों को मुश्किल बना रहे हैं, और इससे भी बदतर बात यह है कि जो अप्रवासी सफलतापूर्वक घुल-मिल गए हैं, उनसे उनकी दूसरी और तीसरी पीढ़ियों तक अभी भी दूसरे दर्ज़े के नागरिकों की तरह व्यवहार किया जा रहा है। यह निश्चय ही मुमकिन है कि दोनों ही पक्ष अपने वादे न निभा रहे हों, और इस तरह एक-दूसरे के शक-शुबहों और असन्तोषों को भड़काते हुए कारण-कार्य का एक उत्तरोत्तर विस्तृत दुष्चक्र तैयार कर रहे हों।

इस चौथी बहस को तब तक हल नहीं किया जा सकता, जब तक कि तीसरी शर्त की ठीक-ठीक परिभाषा को स्पष्ट नहीं किया जाता। जब तक हम यह नहीं जान लेते कि समाहित कर लेना एक ज़िम्मेदारी है या अहसान है, अप्रवासियों से किस स्तर पर घुलने-मिलने की अपेक्षा है, और मेहमान मुल्कों को कितनी जल्दी उनसे बराबरी के नागरिकों की तरह व्यवहार करना चाहिए, तब तक हम इस बात को नहीं जाँच सकते कि दोनों पक्ष अपनी ज़िम्मेदारियों का निर्वाह कर रहे हैं या नहीं। अप्रवासन समझौते का मूल्यांकन करते वक़्त दोनों पक्ष उसके अनुपालन की बजाय उसके उल्लंघन को ज़्यादा महत्त्व देते हैं।

अगर दस लाख अप्रवासी क़ानून का पालन करने वाले नागरिक हैं, लेकिन सौ अप्रवासी आतंकवादी गिरोहों में शामिल हो जाते हैं और मेहमान मुल्क पर हमला करते हैं, तो क्या इसका मतलब यह निकलता है कि कुल मिलाकर अप्रवासी समझौते का पालन कर रहे हैं, या उसका उल्लंघन कर रहे हैं? अगर अप्रवासियों की तीसरी पीढ़ी की कोई लड़की हज़ार बार किसी सड़क से गुज़रती है और उसके साथ एक बार भी छेड़ख़ानी नहीं की जाती, लेकिन कभी-कभार कोई नस्लवादी ज़ोर-से चिल्लाकर उस पर अपमानजनक टिप्पणी कर देता है, तो क्या इसका मतलब यह निकलता है कि स्थानीय आबादी अप्रवासियों को स्वीकार कर रही है या यह कि उनका तिरस्कार कर रही है?

लेकिन इन सारी बहसों के तले एक कहीं ज़्यादा बुनियादी सवाल मँडराता रहता है, जो मानव-संस्कृति की हमारी समझ से ताल्लुक़ रखता है। क्या हम अप्रवासन सम्बन्धी बहस में यह मानकर शामिल होते हैं कि सारी संस्कृतियाँ कुदरती तौर पर बराबर के दर्ज़े की हैं, या फिर हम यह सोचते हैं कि कुछ संस्कृतियाँ दूसरी संस्कृतियों के मुक़ाबले श्रेष्ठ भी हो सकती हैं? जब जर्मन लोग दस लाख सीरियाई अप्रवासियों को समाविष्ट कर लेने को लेकर बहस करते हैं, तो क्या उनका यह सोचना कभी भी उचित ठहराया जा सकता है कि जर्मन संस्कृति किसी रूप में सीरियाई संस्कृति से श्रेष्ठ है?

नस्लवाद से संस्कृतिवाद तक

एक सदी पहले यूरोपीय इस बात को मानकर चलते थे कि कुछ नस्लें - मुख्यतः गोरी नस्ल - कुदरती तौर पर दूसरी संस्कृतियों से श्रेष्ठ होती हैं। 1945 के बाद इस तरह के दृष्टिकोण उत्तरोत्तर घृणास्पद माने जाने लगे। नस्लवाद को न सिर्फ़ नैतिक रूप से निन्दनीय माना जाने लगा, बल्कि वैज्ञानिक तौर पर भी दिवालिया माना जाने लगा। जैविक विज्ञानियों, और विशेष रूप से आनुवंशिकी-विज्ञानियों ने इस बात के बहुत सशक्त वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध कराए हैं कि यूरोपियों, अफ़्रीकियों, चीनियों और अमेरिका के मूल निवासियों के बीच के जैविक फ़र्क़ बहुत मामूली हैं।

लेकिन इसी के साथ-साथ मानवविज्ञानियों, समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों, व्यवहारवादी अर्थशास्त्रियों और मस्तिष्क-विज्ञानियों तक ने मानव संस्कृतियों के बीच महत्त्वपूर्ण भेदों के अस्तित्व को लेकर बड़ी तादाद में सूचनाओं का संग्रह किया है। वाक़ई, अगर सारी संस्कृतियाँ मूलतः एक जैसी होतीं, तो फिर हमें मानवविज्ञानियों और इतिहासकारों की ज़रूरत भी क्यों होती? नगण्य से भेदों के अध्ययन पर संसाधनों का निवेश करने की क्या ज़रूरत है? कम से कम हमें साउथ पेसिफ़िक और कालाहारी रेगिस्तान में जाकर अध्ययन करने के ख़र्चीले अभियानों पर पैसा लगाना तो बन्द कर ही

देना चाहिए, और ऑक्सफ़ोर्ड या बोस्टन के लोगों के अध्ययन से ही सन्तोष कर लेना चाहिए। अगर सांस्कृतिक भेद महत्त्वहीन हैं, तो हार्वर्ड के स्नातकों के बारे में हमें जो भी जानकारी मिलती है, वही कालाहारी के शिकारी-संग्रहकर्ताओं के बारे में भी सही होनी चाहिए।

सोच-विचार करने के बाद ज़्यादातर लोग विभिन्न मानव-संस्कृतियों के बीच, यौनपरक आचार-विचार से लेकर राजनीतिक आदतों जैसी चीज़ों तक कम-से-कम कुछ भेदों को तो स्वीकार कर ही लेते हैं। तब फिर हमें इन भेदों को किस तरह देखना चाहिए? सांस्कृतिक सापेक्षतावादियों का तर्क है कि भेद का अभिप्राय सोपानक्रम नहीं होता, और हमें किसी एक संकृति को दूसरी संस्कृति पर प्राथमिकता नहीं देनी चाहिए। मनुष्य तरह-तरह से सोच सकते हैं और तरह-तरह से आचरण कर सकते हैं, लेकिन हमें इस विविधता की सराहना करना चाहिए, और सारी आस्थाओं तथा रीति-रिवाजों को समान मूल्य प्रदान करना चाहिए। दुर्भाग्य से, इस तरह के उदार रवैये वास्तविक परीक्षाओं पर खरे नहीं उतरते। जब भोजन पकाने की शैलियों और कविता का सवाल आता है, तो मानवीय विविधता महान लग सकती है, लेकिन बहुत थोड़े-से लोग होंगे, जो डायनों को जलाए जाने, बाल-हत्याओं को या ग़ुलामी को ऐसी मोहक मानवीय विशिष्टताओं की तरह देखेंगे, जिनका भूमण्डलीय पूँजीवाद और कोका-उपनिवेशवाद के विरुद्ध बचाव किया जाना उचित ठहराया जा सके।

या उस तरीक़े पर विचार करें, जिसके तहत विभिन्न संस्कृतियाँ विदेशियों, अप्रवासियों और शरणार्थियों के साथ रिश्ता बनाती हैं। इन मामलों में सारी संस्कृतियाँ स्वीकृति के समान स्तर का परिचय देने के लिए नहीं जानी जातीं। जर्मन संस्कृति इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक दौर में अजनबियों के प्रति ज़्यादा सहिष्णु है, और सऊदी अप्रवासियों को लेकर ज़्यादा स्वागत का भाव रखती है। किसी मुसलमान का जर्मनी जाकर बसना, किसी ईसाई के सऊदी अरब में जा बसने से ज़्यादा आसान है। वाक़ई, सीरिया के किसी मुसलमान शरणार्थी के लिए जर्मनी में जा बसना, सऊदी अरब में जा बसने से कहीं ज़्यादा आसान है, और 2011 से जर्मनी ने सऊदी अरब की तुलना में कई गुना ज़्यादा सीरियाई शरणार्थियों को जगह दी है। इसी तरह, विश्वसनीय साक्ष्य संकेत करते हैं कि आरम्भिक इक्कीसवीं सदी में कैलिफ़ोर्निया की संस्कृति जापान की संस्कृति के मुक़ाबले अप्रवासियों के प्रति ज़्यादा मैत्रीपूर्ण है। इसलिए अगर आप मानते हैं कि अजनबियों के प्रति सहिष्णु होना और अप्रवासियों का स्वागत करना अच्छी बात है, तो क्या आपको यह भी नहीं मानना चाहिए कि कम-से-कम इस मामले में जर्मन संस्कृति सऊदी संस्कृति से श्रेष्ठ है, और कैलिफ़ोर्निया की संस्कृति जापानी संस्कृति से बेहतर है?

इसके अतिरिक्त, अगर दो सांस्कृतिक मानक सिद्धान्ततः भी समान रूप से वैध हैं, तो अप्रवासन के व्यावहारिक सन्दर्भ में मेहमान संस्कृति को बेहतर मानना तब भी उचित ठहराया जा सकता है। जो मानक और मूल्य एक संस्कृति के सन्दर्भ में उपयुक्त होते हैं, वे

भिन्न परिस्थितियों के तहत उतने ठीक से कारगर नहीं होते। हम एक ठोस उदाहरण पर बारीक़ी-से नज़र डालते हैं। सुस्थापित पूर्वाग्रहों का शिकार होने से बचने के लिए हम दो काल्पनिक देशों को लेते हैं: कोल्डिया और वार्मलैंड। दोनों संस्कृतियों के बीच बहुत-से सांस्कृतिक भेद हैं, जिनमें मानवीय रिश्तों तथा अन्तर्वैयक्तिक टकरावों को लेकर उनके रवैये का भेद शामिल है। कोल्डियाइयों को बचपन से ही सिखाया गया है कि अगर स्कूल में, कार्य-स्थल पर, या आपके परिवार तक में आपकी किसी के साथ तक़रार की स्थिति पैदा होती है, तो सबसे अच्छा यह है कि उसे अपने मन में दबाइए। आपको चिल्लाना नहीं चाहिए, ग़ुस्से का इज़हार नहीं करना चाहिए, या सामने वाले व्यक्ति से टकराना नहीं चाहिए - क्रोधावेश स्थितियों को और भी बदतर बना देता है। बेहतर यही है कि आप स्थितियों को ठण्डा होने की गुंजाइश देते हुए अपने जज़्बातों को क़ाबू में रखें। इस बीच, सम्बन्धित व्यक्ति से अपने सम्पर्क को सीमित रखें, और अगर सम्पर्क को टाला न जा सकता हो, तो रूखे, किन्तु विनम्र बने रहें, और संवेदनशील मुद्दों को टालें।

इसके विपरीत वार्मलैंडियों को बचपन से ही टकरावों को मूर्त रूप देने की सीख दी गई है। अगर आपकी किसी के साथ टकराव की स्थिति पैदा होती है, तो उसको धीरे-धीरे मत पकने दीजिए और किसी चीज़ को मन में दबाकर मत रखिए। पहला मौक़ा हाथ लगते ही अपने जज़्बातों को खुलकर बाहर आने की छूट दीजिए। ग़ुस्से का इज़हार करने, चिल्लाने और सामने वाले व्यक्ति के बारे में जो भी आप महसूस करते हैं, उसे उसके मुँह पर कह देने में कोई बुराई नहीं है। यह एक ईमानदार और सीधे ढंग से समस्याओं से निपटने का एकमात्र तरीक़ा है। एक दिन का चिल्लाना उस टकराव का समाधान कर सकता है, जो अन्यथा सालों पकता रह सकता है, और हालाँकि आमने-सामने की मुठभेड़ कभी सुखद नहीं होती, लेकिन आप बाद में काफ़ी बेहतर महसूस करेंगे।

इन दोनों ही तरीक़ों की अपनी ख़ूबियाँ और ख़राबियाँ हैं, और यह कहना मुश्किल है कि इनमें से एक हमेशा दूसरे से बेहतर है, लेकिन अगर वार्मलैंड का एक निवासी कोल्डिया में जा बसता है और कोल्डिया की किसी फ़र्म में नौकरी पा लेता है, तब क्या होगा?

जब भी कभी किसी सहकर्मी के साथ तक़रार होती है, तो वार्मलैंड का यह निवासी ज़ोर-से मेज़ पर हाथ पटकता है और पूरे ज़ोर से चिल्लाता है, और उम्मीद करता है कि उसकी यह हरकत समस्या की ओर ध्यान खींचेगी और उसके शीघ्र समाधान में मदद करेगी। कई साल बाद उस फ़र्म में एक ऊँचा पद ख़ाली होता है। वार्मलैंड के इस निवासी के पास हालाँकि सारी ज़रूरी योग्यताएँ हैं, लेकिन बॉस एक कोल्डियाई कर्मचारी को पदोन्नति देने का फ़ैसला करती है। जब उससे पूछा जाता है, तो वह स्पष्ट करती है : "हाँ, उस वार्मलैंडी में बहुत-सी क़ाबिलियतें हैं, लेकिन इंसानी रिश्तों के मामले में उसकी एक गम्भीर समस्या भी है। वह बहुत गरम मिज़ाज है, अपने आस-पास के लोगों के साथ

अनावश्यक तनाव पैदा करता है, और हमारी व्यावसायिक संस्कृति में बाधा डालता है।” यही नियति कोल्डिया में आ बसे दूसरे वार्मलैंडियरों की होती है। उनमें से ज़्यादातर छोटे पदों पर बने रहते हैं, या उनको कोई रोज़गार ही नहीं मिल पाता, क्योंकि मैनेजर लोग मानकर चलते हैं कि अगर वे वार्मलैंडी हैं, तो वे सम्भवतः गरममिज़ाज होंगे और समस्याएँ खड़ी करने वाले कर्मचारी साबित होंगे। चूँकि वार्मलैंडी कभी भी ऊँचे पदों पर नहीं पहुँच पाते, इसलिए कोल्डियाई व्यावसायिक संस्कृति को बदल पाना उनके लिए मुश्किल होता है।

ज़्यादातर यही स्थिति उन कोल्डियाइयों के मामले में बनती है, जो वार्मलैंड में आ बसते हैं। वार्मलैंड की किसी फ़र्म में काम करना शुरू करते हुए एक कोल्डियाई जल्दी ही एक घमण्डी या शुष्क व्यक्ति होने की ख्याति अर्जित कर लेता है, और या तो उसके कोई दोस्त ही नहीं होते या बहुत थोड़े-से दोस्त होते हैं। लोगों को लगता है कि वह कुटिल है, या फिर उसमें इंसानी रिश्तों को निभाने की बुनियादी क़ाबिलियतों का अभाव है। वह कभी भी ऊँचे पदों तक नहीं पहुँच पाता, और इसलिए उसे व्यावसायिक संस्कृति को बदलने का अवसर ही नहीं मिल पाता। वार्मलैंड के मैनेजर यह नतीजा निकालते हैं कि ज़्यादातर कोल्डियाई ग़ैरदोस्ताना या एकान्तप्रिय होते हैं, और ये मैनेजर उनको ऐसे पदों पर न रखना बेहतर समझते हैं, जो ग्राहकों से सम्पर्क या अन्य कर्मचारियों के साथ क़रीबी सहयोग की माँग करते हैं।

ये दोनों ही प्रकरण नस्लवाद की बू लिए प्रतीत होते हैं, लेकिन वस्तुतः, वे नस्लवादी नहीं हैं। वे ‘संस्कृतिवादी’ हैं। लोग इस बात की ओर ध्यान दिए बिना कि युद्ध के मोर्चे बदल चुके हैं, परम्परागत नस्लवाद के ख़िलाफ़ बहादुरी के साथ लड़ना जारी रखते हैं। पारम्परिक नस्लवाद मुरझा रहा है, लेकिन दुनिया अब ‘संस्कृतिवादियों’ से भरी हुई है।

पारम्परिक नस्लवाद जीववैज्ञानिक सिद्धान्तों में मज़बूती के साथ जड़ें जमाए हुए था। 1890 के दशक या 1930 के दशक में ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में व्यापक तौर पर यह माना जाता था कि कुछ ऐसे आनुवांशिक जैविक लक्षण हैं, जो अफ़्रीकी और चीनी लोगों को यूरोपीय लोगों के मुक़ाबले सहज रूप से कम बुद्धिमान, कम उद्यमशील और कम नैतिक साबित करते हैं। यह समस्या उनके ख़ून में थी। इन दृष्टिकोणों को राजनीतिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ वैज्ञानिक आधार मिला हुआ था। इसके विपरीत आज जहाँ बहुत-से व्यक्ति अभी भी इस तरह के नस्लवादी दावे करते हैं, वहीं ये दावे अपना सारा वैज्ञानिक आधार और अपनी ज़्यादातर राजनीतिक प्रतिष्ठा खो चुके हैं - बशर्ते कि उनको सांस्कृतिक पदावली में व्यक्त न किया गया हो। यह धारणा अब मिट चुकी है कि अश्वेत लोगों में आपराधिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि उनके जीन्स घटिया होते हैं। यह धारणा अब बहुत ज़्यादा घर कर चुकी है कि उनमें आपराधिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध विकृत उपसंस्कृतियों से है।

उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में कुछ राजनीतिक दल और नेता पक्षपाती नीतियों का खुलेआम समर्थन करते हैं और अफ़्रीकी अमेरिकियों, लातिनों और मुसलमानों के बारे में अक्सर निन्दात्मक टिप्पणियाँ करते हैं, लेकिन वे शायद ही ऐसा कहेंगे कि उनके डीएनए में ही कुछ गड़बड़ी है। समस्या को उनकी संस्कृति पर थोपा जाता है। नतीजतन, जब राष्ट्रपति ट्रम्प ने हैती, एल सल्वाडोर और अफ़्रीका के कुछ हिस्सों को 'मलिन मुल्कों' के रूप में चित्रित किया था, तो वे स्पष्ट तौर पर जनता के समक्ष इन जगहों की आनुवंशिक बनावट की बजाय वहाँ की संस्कृति पर अपना चिन्तन पेश कर रहे थे। एक अन्य अवसर पर संयुक्त राज्य अमेरिका में रह रहे मैक्सिकी अप्रवासियों के बारे में ट्रम्प ने कहा था कि "जब मैक्सिको अपने लोगों को भेजता है, तो वे सबसे अच्छे लोगों को नहीं भेजते। वे ऐसे लोगों को भेजते हैं, जो अपने साथ ढेर सारी समस्याएँ लिए होते हैं और वे उन समस्याओं को लेकर आए होते हैं। वे ड्रग्स लेकर आ रहे हैं, वे अपराध लेकर आ रहे हैं। वे बलात्कारी हैं और कुछ, मेरा ख़याल है, अच्छे लोग हैं।" इस तरह का दावा करना बहुत अपमानजनक है, लेकिन यह जैववैज्ञानिक रूप से अपमानजनक होने की बजाय समाजवैज्ञानिक रूप से अपमानजनक दावा है। ट्रम्प का अभिप्राय यह नहीं है कि मैक्सिकी ख़ून भलाई को रोकता है - उनका दावा सिर्फ़ इतना है कि अच्छे मैक्सिकी आमतौर से रियो ग्रांडे के दक्षिण में रहते हैं।

मानव-देह - लातिनो देह, अफ़्रीकी देह, चीनी देह - अभी भी बहस के केन्द्र में है। चमड़ी का रंग बहुत मायने रखता है। अपनी चमड़ी पर ढेर सारा गहरा गेहुँआ रंग लिए न्यू यॉर्क की सड़क पर चलने का मतलब है कि आप किसी भी दिशा में क्यों न जा रहे हों, पुलिस आपको अतिरिक्त शक की निगाह से देखेगी। राष्ट्रपति ट्रम्प और राष्ट्रपति ओबामा, दोनों ही तरह के लोग चमड़ी के रंग की अहमियत को सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पदावली में स्पष्ट करेंगे। सम्भवतः ओबामा के खेमे के लोग समझाएँगे कि पुलिस का यह पूर्वाग्रह ग़ुलामी जैसे ऐतिहासिक अपराधों की एक दुर्भाग्यपूर्ण विरासत है, वहीं ट्रम्प खेमे के लोग समझाएँगे कि अश्वेतों की आपराधिकता गोरे उदारवादियों और अश्वेत समुदायों द्वारा की गई ऐतिहासिक भूलों की दुर्भाग्यपूर्ण विरासत है। जो भी हो, अगर आप दिल्ली से आए एक पर्यटक भी हैं जिसको अमेरिकी इतिहास की कोई जानकारी नहीं है, तो भी आपको इतिहास के परिणामों से निपटना होगा।

जैविकी से संस्कृति पर यह स्थानान्तरण व्यर्थ की बकवास के स्तर का बदलाव नहीं है। यह दूरगामी व्यावहारिक नतीजों से युक्त एक गम्भीर बदलाव है, जिनमें कुछ अच्छे और कुछ बुरे नतीजे शामिल हैं। सबसे पहली चीज़ तो यही है कि संस्कृति जैविकी के मुक़ाबले ज़्यादा लचीली होती है। इसका मतलब, एक ओर, यह है कि आज के ज़माने के संस्कृतिवादी पारम्परिक नस्लवादियों की तुलना में ज़्यादा सहिष्णु हो सकते हैं - अगर 'अन्य' हमारी संस्कृति को स्वीकार भर कर लें, तो हम उनको अपनी बराबरी का मानकर

स्वीकार कर लेंगे। दूसरी ओर, इसका नतीजा 'अन्यों' पर घुल-मिल जाने के कहीं ज़्यादा सशक्त दबाव के रूप में, और ऐसा करने में नाकामयाब होने पर कहीं अधिक कठोर आलोचना के रूप में सामने आ सकता है।

आप काली चमड़ी वाले व्यक्ति को इस बात के लिए शायद ही दोषी ठहरा सकते हैं कि वह अपनी चमड़ी को गोरा नहीं बना रहा है, लेकिन लोग अफ़्रीकियों या मुसलमानों पर पश्चिमी संस्कृति के मानकों और मूल्यों को अपनाने में नाकामयाब होने का आरोप लगा सकते हैं और लगाते हैं। इसका मतलब यह कहना नहीं है कि इस तरह के आरोप अनिवार्यतः उचित हैं। बहुत-से मामलों में वर्चस्वशाली संस्कृति को अपनाने की कोई ख़ास वज़ह नहीं होती, और बहुत-से दूसरे मामलों में यह क़रीब-क़रीब एक असम्भव मुहिम होती है। झुग्गियों में अत्यन्त निर्धनतापूर्ण जीवन जीने वाले जो अफ़्रीकी अमेरिकी वर्चस्वशाली अमेरिकी संस्कृति से ईमानदारी के साथ तालमेल बैठाने की कोशिश करते हैं, वे अपने रास्ते को संस्थानिक पक्षपात द्वारा रोका जाता पा सकते हैं, जिसका नतीजा अन्ततः इस आरोप के रूप में सामने आता है कि उन्होंने पर्याप्त कोशिश नहीं की, और इसलिए उनकी परेशानियों के लिए कोई दूसरे लोग नहीं, बल्कि वे ख़ुद ज़िम्मेदार हैं।

जैविकी के बारे में बात करने और संस्कृति के बारे में बात करने के बीच एक दूसरा निर्णायक महत्त्व का अन्तर यह है कि पारम्परिक नस्लपरक जैविकी से भिन्न, संस्कृतिवादी तर्क कभी-कभी समझ में आने लायक़ हो सकते हैं, जैसा कि वार्मलैंड और कोल्डिया के मामले में है। वार्मलैंडियों और कोल्डियाइयों की संस्कृतियाँ निश्चय ही भिन्न हैं, जिसके लक्षण मानवीय रिश्तों की उनकी भिन्न शैलियों के रूप में देखे जा सकते हैं। चूँकि मानवीय सम्बन्ध बहुत-से रोज़गारों में केन्द्रीय महत्त्व रखते हैं, इसलिए जब एक वार्मलैंडीय फ़र्म कोल्डियाइयों को उनकी अपनी सांस्कृतिक विरासत के मुताबिक़ आचरण करने के लिए दण्डित करती है, तब क्या उस फ़र्म का यह कृत्य अनैतिक है?

मानवविज्ञानी, समाजशास्त्री और इतिहासकार इस मुद्दे को लेकर अत्यन्त असहज महसूस करते हैं। एक ओर, यह सब ख़तरनाक रूप से नस्लवाद के क़रीब की चीज़ लगती है। दूसरी ओर, संस्कृतिवाद का नस्लवाद के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा दृढ़ वैज्ञानिक आधार है, और विशेष रूप से मानविकी तथा समाजविज्ञानों के अध्येता सांस्कृतिक भेदों के वजूद और महत्त्व से इंकार नहीं कर सकते।

निश्चय ही, अगर हम कुछ संस्कृतिवादी दावों की वैधता को स्वीकार भी कर लेते हैं, तब भी हमें उन सबको स्वीकार करना ज़रूरी नहीं है। बहुत-से संस्कृतिवादी दावे एक-जैसी तीन त्रुटियों के शिकार होते हैं। पहली, संस्कृतिवादी अक्सर स्थानीय श्रेष्ठता को वस्तुनिष्ठ श्रेष्ठता से भ्रमित करते हैं। नतीजतन, वार्मलैंड के स्थानीय सन्दर्भ में टकरावों के समाधान की वार्मलैंड की पद्धति शायद कोल्डियाई पद्धति से श्रेष्ठ हो सकती है, और उस स्थिति में अगर वार्मलैंड में काम करने वाली एक वार्मलैंडीय फ़र्म अन्तर्मुखी कर्मचारियों के

ख़िलाफ़ भेदभाव बरतती है (जो कोल्डियाई अप्रवासियों को असंगत रूप से दण्डित करेगी), तो उसके इस कृत्य की उचित वज़ह हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वार्मलैंडीय पद्धति वस्तुनिष्ठ रूप से श्रेष्ठ है। वार्मलैंड के लोग कोल्डियाइयों से शायद काफ़ी कुछ सीख सकते हैं, और अगर परिस्थितियाँ बदलती हैं, जैसे कि वार्मलैंड की फ़र्म वैश्विक हैसियत बना लेती है और विभिन्न देशों में अपनी शाखाएँ खोल लेती है, तो विविधता अचानक एक बहुत बड़ा मूल्य बन जा सकती है।

दूसरी, अगर आप किसी पैमाने, किसी समय, और किसी स्थान को स्पष्ट तौर पर परिभाशित कर लेते हैं, तो संस्कृतिवादी दावे शायद अनुभवपरक दृष्टि से खरे साबित हो सकते हैं, लेकिन लोग अक्सर ही बहुत सामान्य क़िस्म के संस्कृतिवादी दावे करते हैं, जो ख़ास मायने नहीं रखते। इसलिए यह कहना कि 'ग़ुस्से के सार्वजनिक इज़हार के प्रति कोल्डियाई संस्कृति वार्मलैंडी संस्कृति के मुक़ाबले कम सहिष्णु है' एक तर्कसंगत दावा है, लेकिन यह कहना बहुत ही कम तर्कसंगत है कि 'मुस्लिम संस्कृति बहुत अधिक असहिष्णु है'। यह बाद वाला दावा निहायत ही अस्पष्ट है। 'असहिष्णु' से आपका क्या अभिप्राय है? किस व्यक्ति या किस चीज़ के प्रति असहिष्णु? जहाँ कोई संस्कृति धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति और असामान्य राजनीतिक दृष्टिकोणों के प्रति असहिष्णु हो सकती है, वहीं वह इसी के साथ-साथ मोटे लोगों या बुज़ुर्गों के प्रति बहुत सहिष्णु हो सकती है। और 'मुस्लिम संस्कृति' से आपका क्या आशय है? हम किस चीज़ की बात कर रहे हैं - सातवीं सदी के अरब प्रायद्वीप की? सोलहवीं सदी के ऑटोमन साम्राज्य की? या इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक दौर के पाकिस्तान की? अन्ततः, मानदण्ड क्या है? अगर हम धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णुता की चिन्ता करें, और सोलहवीं सदी के ओटोमन साम्राज्य की तुलना सोलहवीं सदी के यूरोप से करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मुस्लिम संस्कृति अत्यन्त सहिष्णु है। अगर हम तालिबान की अधीनता वाले अफ़गानिस्तान की तुलना समकालीन डेनमार्क से करें, तो हम बहुत अलग निष्कर्ष पर पहुँचेंगे।

लेकिन संस्कृतिवादी दावों की सबसे बुरी समस्या यह है कि इनकी आँकड़ापरक प्रकृति के बावजूद अक्सर ही इनका इस्तेमाल *व्यक्तियों* के बारे में जाँचे-परखे बिना फ़ैसले देने के लिए किया जाता है। जब वार्मलैंड का एक स्थानीय निवासी और कोल्डिया से आया एक अप्रवासी, दोनों ही वार्मलैंड की किसी फ़र्म में एक ही पद के लिए आवेदन करते हैं, तो मैनेजर वार्मलैंड-वासी को प्राथमिकता दे सकता है क्योंकि 'कोल्डियाई बहुत ठण्डे स्वभाव वाले और एकान्तप्रिय होते हैं'। अगर यह बात आँकड़ों के लिहाज़ से सही भी हो, तब भी क्या यह मुमकिन नहीं है कि यह ख़ास कोल्डियाई इस ख़ास वार्मलैंडी की तुलना में वास्तव में ज़्यादा गर्मजोश और मिलनसार हो? जहाँ संस्कृति महत्त्व रखती है, वहीं लोग अपने वंशाणुओं (जीन्स) और अपने विशिष्ट निजी इतिहास से भी गढ़े गए होते हैं। व्यक्ति अक्सर सांख्यिकीय रूढ़ धारणाओं को चुनौती देते हैं। अगर कोई फ़र्म किन्हीं

ग़ैर-जज़्बाती कर्मचारियों पर मिलनसार कर्मचारियों को प्राथमिकता देती है, तो यह समझ में आने वाली बात है, लेकिन कोल्डियाइयों पर वार्मलैंडियों को प्राथमिकता देना समझ से परे है।

लेकिन यह कुल मिलाकर पूरे के पूरे संस्कृतिवाद को अविश्वसनीय ठहराए बिना कुछ ख़ास संस्कृतिवादी दावों की दृढ़ता को ही कम करता है। नस्लवाद से भिन्न, जो कि एक अवैज्ञानिक पूर्वाग्रह है, संस्कृतिवादी तर्क कभी-कभी ख़ासे मज़बूत हो सकते हैं। अगर हम आँकड़ों पर ध्यान दें और पाएँ कि वार्मलैंड की फ़र्मों में बहुत थोड़े-से कोल्डियाई ऊँचे पदों पर हैं, तो यह नस्लपरक पक्षपात का नहीं, बल्कि उचित आकलन का नतीजा हो सकता है। क्या कोल्डियाई अप्रवासियों को इस स्थिति से असन्तुष्ट होना चाहिए, और यह दावा करना चाहिए कि वार्मलैंड अप्रवासन समझौते से मुकर रहा है? क्या हमें वार्मलैंड की फ़र्मों पर 'सकारात्मक कार्रवाई' क़ानूनों की मार्फ़त ज़्यादा कोल्डियाई मैनेजरों को भर्ती करने का दबाव डालना चाहिए, इस उम्मीद में कि इससे वार्मलैंड की गर्म मिज़ाज व्यावसायिक संस्कृति में शान्ति पैदा हो जाएगी? या फिर गड़बड़ी कहीं कोल्डियाई अप्रवासियों में ही है, जो स्थानीय संस्कृति के साथ घुलने-मिलने में नाकामयाब रहे हैं, और इसलिए हमें वार्मलैंडीय मानकों और मूल्यों को कोल्डियाई बच्चों के दिमाग़ में बैठाने की और ज़्यादा तथा बलशाली कोशिश करनी चाहिए?

इस कल्पना-जगत से तथ्यों की दुनिया में वापस आकर हम देखते हैं कि अप्रवासन के बारे में यूरोपीय बहस अच्छाई और बुराई के बीच की स्पष्ट लड़ाई से बहुत दूर है। अप्रवासन की पक्षधरता करने वाले जो लोग अपने सारे प्रतिद्वन्द्वियों को अनैतिक नस्लवादियों के रूप में देखते हैं, वे ग़लत होते हैं, जबकि अप्रवासन का विरोध करने वाले जो लोग अपने सारे विरोधियों को विवेकहीन विश्वासघातियों के रूप में चित्रित करते हैं, वे ग़लत होते हैं। अप्रवासन की बहस दो वैध दृष्टिकोणों के बीच की बहस है, जिसका फ़ैसला सामान्य लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के माध्यम से किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। लोकतन्त्र इसी के लिए है।

यह लोकतान्त्रिक प्रक्रिया जिस किसी भी नतीजे पर पहुँचे, दो प्रमुख बिन्दुओं को दिमाग़ में रखना ज़रूरी है। पहला, यह किसी भी सरकार के लिए उचित नहीं है कि वह किसी अनिच्छुक स्थानीय आबादी पर बलपूर्वक बड़े पैमाने का अप्रवासन थोपे। अप्रवासन को पचाना एक मुश्किल दीर्घकालीन प्रक्रिया है, और अप्रवासियों को सफलतापूर्वक समाहित करने के लिए आपको स्थानीय आबादी का समर्थन और सहयोग हासिल करना अनिवार्य है। इस नियम का एक अपवाद यह है कि पड़ोसी देश से मौत से बचकर भागे शरणार्थियों के लिए अपनी सरहदें खोलना सारे देशों का कर्तव्य है, भले ही स्थानीय आबादी इसे पसन्द करे या न करे।

दूसरे, यद्यपि अप्रवासन का विरोध करना नागरिकों का अधिकार है, लेकिन उनको यह बात समझनी चाहिए कि तब भी विदेशियों के प्रति उनके कर्तव्य हैं। हम एक भूमण्डलीय दुनिया में रह रहे हैं, और हम इसे पसन्द करें या न करें, लेकिन हमारे जीवन ग्रह के दूसरे हिस्सों के लोगों के जीवन से गुँथे हुए हैं। वे हमारा खाद्यान्न उपजाते हैं, हमारे लिए कपड़ों का उत्पादन करते हैं, वे हमारे लिए तेल की क़ीमतों को लेकर लड़ी जाने वाली लड़ाई में मारे जा सकते हैं, और वे पर्यावरण से सम्बन्धित हमारे ढीले-ढाले क़ानूनों के शिकार हो सकते हैं। हमें लोगों के प्रति अपनी नैतिक ज़िम्मेदारियों की उपेक्षा मात्र इस आधार पर नहीं करनी चाहिए कि वे बहुत दूर रहते हैं।

वर्तमान में, यह बात दूर-दूर तक साफ़ नहीं है कि यूरोप कोई ऐसा मध्यमार्ग खोज पाएगा या नहीं, जिससे वह उसके मूल्यों को साझा न करने वाले लोगों के हाथों अस्थिर हुए बिना अजनबियों के लिए अपने द्वार खुले रख सके। अगर यूरोप इस तरह का रास्ता हासिल करने में सफल हो जाता है, तो उसके इस नुस्ख़े का वैश्विक स्तर पर अनुकरण किया जा सकता है, लेकिन अगर यूरोप इस योजना में विफल रहता है, तो इससे यह संकेत मिलेगा कि दुनिया के सांस्कृतिक टकरावों को हल करने के लिए और परमाणु युद्ध, पारिस्थितिकीय ध्वंस और प्रौद्योगिकीय अराजकता की चुनौतियों के समक्ष मानव-जाति को संगठित करने के लिए स्वतन्त्रता और सहिष्णुता के उदारवादी मूल्यों में आस्था पर्याप्त नहीं है। अगर ग्रीक और जर्मन एक साझा नियति पर सहमत नहीं हो सकते, और अगर 50 करोड़ दौलतमन्द यूरोपीय कुछ लाख निर्धन शरणार्थियों को नहीं अपना सकते, तो फिर इस बात की क्या सम्भावना बच रहती है कि मनुष्य उन कहीं ज़्यादा गहन टकरावों पर विजय प्राप्त कर सकेगा, जो हमारी भूमण्डलीय सभ्यता को आक्रान्त किए हुए हैं?

एक चीज़ जो बेहतर ढंग से एकजुट होने और सरहदों तथा दिमाग़ों को खुला रखने में यूरोप और कुल मिलाकर दुनिया की मदद कर सकती है, वह है आतंकवाद से सम्बन्धित ख़ौफ़ के उन्माद को कम करके देखना। अगर आतंकवादियों के ख़ौफ़ को ज़रूरत से ज़्यादा तूल दिए जाने की वज़ह से स्वतन्त्रता और सहिष्णुता का यूरोपीय प्रयोग असफल हो जाता है, तो यह बेहद दुर्भाग्यपूर्ण होगा। यह न सिर्फ़ आतंकवादियों के लक्ष्यों को पूरा करेगा, बल्कि इन मुट्ठीभर मतान्धों को मानव-जाति के भविष्य में भरपूर दख़लन्दाज़ी करने की गुंजाइश भी देगा। आतंकवाद मनुष्यता के बहुत मामूली और कमज़ोर हिस्से का हथियार है। आख़िर यह भूमण्डलीय राजनीति पर इतना भारी कैसे पड़ गया?

III

हताशा और उम्मीद

चुनौतियाँ हालाँकि अपूर्व हैं, और असहमतियाँ हालाँकि बहुत तीखी हैं, तब भी अगर हम अपने ख़ौफ़ को क़ाबू में रख सकें और अपने दृष्टिकोणों को लेकर कुछ और विनम्र हो सकें, तो मानव-जाति अवसर आने पर परिस्थितियों का मुक़ाबला कर सकती है।

10

आतंकवाद

घबराइए मत

आतंकवादी दिमाग़ पर नियन्त्रण करने के मामले में उस्ताद होते हैं। वे बहुत थोड़े-से लोगों को मारते हैं, लेकिन तब भी करोड़ों लोगों को दहशत से भर देने और यूरोपीय यूनियन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विशालकाय राजनीतिक ढाँचों को तहस-नहस कर देने में कामयाब हो जाते हैं। 11 सितम्बर 2001 के बाद से आतंकवादियों ने हर साल लगभग पचास लोगों को यूरोपीय यूनियन में, लगभग दस लोगों को संयुक्त राज्य अमेरिका में, लगभग सात लोगों को चीन में और 25,000 हज़ार तक लोगों को वैश्विक स्तर पर (ज़्यादातर इराक़, अफ़गानिस्तान, पाकिस्तान, नाइज़ीरिया और सीरिया में) में मारा है। इसके विपरीत, हर साल यातायात दुर्घटनाएँ लगभग 80,000 यूरोपियों की, 40,000 अमेरिकियों की, 270,000 चीनियों की, और कुल मिलाकर 12.5 लाख लोगों की जानें लेती हैं। मधुमेह (डायबिटीज़) और शुगर का उच्च स्तर हर साल 35 लाख तक लोगों की जान ले लेता है, जबकि वायु-प्रदूषण से लगभग 70 लाख लोग मरते हैं। तब फिर हम शकर की बजाय आतंकवाद से इतना ज़्यादा क्यों डरते हैं, और क्या वज़ह है कि सरकारें छिटपुट आतंकवादी हमलों की वज़ह से तो चुनाव हार जाती हैं, लेकिन स्थायी वायु-प्रदूषण की वज़ह से चुनाव नहीं हारतीं?

जैसा कि आतंकवाद का शाब्दिक अर्थ संकेत करता है, यह एक सैन्य रणनीति है, जो किसी तरह का माली नुक़सान पहुँचाए बिना दहशत फैलाकर राजनीतिक स्थिति को बदलने की उम्मीद करती है। यह रणनीति लगभग हर वक़्त उन बहुत कमज़ोर पक्षों द्वारा अपनाई जाती है, जो अपने शत्रुओं को बहुत ज़्यादा माली नुक़सान नहीं पहुँचा सकते। निश्चय ही हर सैन्य कार्रवाई दहशत फैलाती है, लेकिन पारम्परिक युद्धों में दहशत माली

नुक़सान का एक आनुषंगिक उत्पाद होता है, और वह आम तौर से नुक़सान पहुँचाने वाली शक्ति के अनुपात में होता है। आतंकवाद में दहशत मुख्य कहानी होती है, और आतंकवादियों की वास्तविक सामर्थ्य तथा उनके द्वारा जगाई जा सकी दहशत के बीच विस्मयकारी विषमता होती है।

हिंसा की मार्फ़त राजनीतिक स्थिति को बदलना हमेशा ही आसान होता है। सोम की लड़ाई के पहले दिन, 1 जुलाई 1916 को 19,000 ब्रितानी सैनिक मारे गए थे और 40,000 सैनिक घायल हुए थे। नवम्बर में युद्ध के समाप्त होने तक दोनों पक्षों के दस लाख से ज़्यादा लोग हताहत हुए थे, जिनमें 300,000 मृतक शामिल थे। लेकिन इस भयावह हत्याकाण्ड ने यूरोप के राजनीतिक शक्ति-सन्तुलन में कोई ख़ास बदलाव पैदा नहीं किया था। इसके बाद दो वर्ष का समय और लाखों और लोगों के हताहत होने के बाद ही अन्ततः कोई टूटन पैदा हुई थी।

इस सोम आक्रमण की तुलना में आतंकवाद एक अदना-सा मसला है। 2015 के पेरिस हमलों ने 130 लोगों की जानें ली थीं, मार्च 2016 की ब्रुसेल्स की बमबारी में बत्तीस लोग मारे गए थे, और मई 2017 की मैनचेस्टर अरेना बमबारी में 22 लोग मारे गए थे। 2002 में, इज़रायल के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनियों की आतंकवादी मुहिम की पराकाष्ठा के दिनों में, जब हर दिन बसों और रेस्तराओं को बमों से उड़ाया जा रहा था, तब इज़रायली मृतकों की सालाना संख्या 451 पर पहुँची थी। उसी साल, 542 इज़रायली कार दुर्घटनाओं में मारे गए थे। कुछ आतंकवादी हमले, जैसे कि 1988 में पैन एम फ़्लाइट 103 की बमबारी में सैकड़ों लोग मरते हैं। 9/11 हमलों ने 3,000 लोगों को मारकर एक रिकॉर्ड क़ायम किया था। तब भी यह सब पारम्परिक युद्धों में चुकाई गई क़ीमतों के सामने बौना पड़ जाता है। अगर आप 1945 के बाद से यूरोप में आतंकवादी हमलों में मारे गए लोगों की कुल संख्या जोड़ लें, जिनमें राष्ट्रवादी, मज़हबी, वामपन्थी और दक्षिणपन्थी समूहों के शिकार हुए लोग समान रूप से शामिल हैं, तो यह कुल संख्या प्रथम विश्वयुद्ध के तहत हुई किन्हीं भी अज्ञात लड़ाइयों के हताहतों की संख्या, जैसे कि आइन की तीसरी लड़ाई (250,000 हताहत) या आइज़ोन्ज़ों की दसवीं लड़ाई (225,000) के सामने कम पड़ती है।

तब फिर आतंकवादी किसी बड़ी उपलब्धि की उम्मीद कैसे कर सकते हैं। किसी आतंकवादी कार्रवाई के बाद दुश्मन के पास सैनिकों, टैंकों और जहाज़ों की संख्या पहले जितनी ही बनी रहती है। दुश्मन का संचार-तन्त्र, सड़कें और रेलमार्ग मोटे तौर पर जस-के-तस बने रहते हैं। उसके कारख़ाने, बन्दरगाह और सैनिक ठिकानों को शायद ही छुआ गया होता है, लेकिन, आतंकवादी उम्मीद करते हैं कि वे भले ही दुश्मन की माली ताक़त को खरोंच तक न पहुँचा पाएँ, तब भी दहशत और भ्रम दुश्मन को उसकी सुरक्षित ताक़त के दुरुपयोग की अति प्रतिक्रिया करने को मजबूर कर देंगे। आतंकवादी हिसाब लगाते हैं कि

जब ग़ुस्साया हुआ दुश्मन उनके ख़िलाफ़ अपनी भीषण शक्ति का इस्तेमाल करेगा, तो वह उससे कहीं ज़्यादा हिंसक सशस्त्र बल और राजनीतिक अन्धड़ खड़ा करेगा, जितना आतंकवादी स्वयं कभी तैयार कर सकते हैं। हर अन्धड़ के दौरान बहुत-सी अप्रत्याशित घटनाएँ घटित होती हैं। ग़लतियाँ होती हैं, अत्याचार किए जाते हैं, जनमत लड़खड़ा जाता है, तटस्थ लोग अपना रुख़ बदल लेते हैं, और शक्ति-सन्तुलन बदल जाता है।

इस तरह आतंकवादी उस मक्खी की तरह होते हैं, जो चीनी मिट्टी के बर्तनों की किसी दुकान को तबाह कर देना चाहती है। मक्खी इतनी कमज़ोर होती है कि वह एक कप को भी डिगा नहीं सकती। तब फिर वह मक्खी चीनी मिट्टी के बर्तनों की उस दुकान को कैसे तबाह करती है? वह एक बैल को ढूँढती है, उसके कान में घुस जाती है, और भनभनाना शुरू कर देती है। यह बैल ख़ौफ़ और ग़ुस्से से बौखला उठता है, और चीनी मिट्टी के बर्तन की उस दुकान में घुसकर उसको तबाह कर देता है। 9/11 के बाद यही हुआ था, जब इस्लामी कट्टरपन्थियों ने मध्य पूर्व रूपी चीनी मिट्टी के बर्तनों की दुकान को तबाह करने के लिए अमेरिकी बैल को भड़काया था। अब वे उस तबाही के बाद के भग्नावशेषों पर फलफूल रहे हैं। और इस दुनिया में ग़ुस्सैल बैलों की कमी नहीं है।

ताश के पत्तों का फेंटा जाना

आतंकवाद एक बहुत ही अनाकर्षक सैन्य रणनीति है, क्योंकि यह सारे महत्त्वपूर्ण फ़ैसले दुश्मन के हाथ में छोड़ देती है। चूँकि हमले से पहले दुश्मन के पास जो भी विकल्प होते हैं, वे हमले के बाद भी उसके पास बने रहते हैं, वह उनके बीच चुनाव करने के लिए पूरी तरह से स्वतन्त्र होता है। सेनाएँ इस तरह की स्थिति को किसी भी क़ीमत पर टालने की कोशिश करती हैं। जब वे हमला करती हैं, तो वे कोई ऐसा भयानक मंज़र खड़ा नहीं करना चाहतीं, जो दुश्मन को नाराज़ कर उसको उलटकर हमला करने के लिए भड़का दे। इसकी बजाय, वे दुश्मन को कोई बड़ा माली नुक़सान पहुँचाने और बदले की कार्रवाई करने की उसकी सामर्थ्य को कम करने की फ़िराक़ में होती हैं, ख़ासतौर से, वे उसके सबसे ख़तरनाक हथियारों और विकल्पों को नष्ट करना चाहती हैं।

उदाहरण के लिए, जापान ने यही किया था, जब 1941 में उसने संयुक्त राज्य अमेरिका पर आकस्मिक हमला कर पर्ल हार्बर में संयुक्त राज्य के प्रशान्त नौसैनिक बेड़े को डुबा दिया था। यह आतंकवाद नहीं था। यह युद्ध था। जापान को इसकी कोई निश्चित जानकारी नहीं थी कि अमेरिकी इस हमले के जवाब में किस तरह की बदले की कार्रवाई करेंगे, सिवाय एक बात के : अमेरिकी जो भी कुछ करने का फ़ैसला करेंगे, वे 1942 में फ़िलिपीन्स या हांगकांग में नौसैनिक बेड़ा नहीं पहुँचा पाएँगे।

दुश्मन के किन्हीं हथियारों या विकल्पों को तबाह किए बिना उसको कार्रवाई के लिए भड़काना एक हताश कार्रवाई है, जो केवल तभी की जाती है, जब कोई और विकल्प नहीं होता। जब कभी भी कोई गम्भीर माली नुक़सान पहुँचाना सम्भव होता है, तब कोई भी महज़ आतंकवाद की ख़ातिर इस विकल्प को नहीं त्यागता। अगर दिसम्बर 1941 में जापान ने संयुक्त राज्य अमेरिका को भड़काने के लिए, प्रशान्त नौसैनिक बेड़े को पर्ल हार्बर में अक्षत रखते हुए, असैनिक यात्रियों से भरे किसी जहाज़ को उड़ा दिया होता, तो यह एक पागलपन होता।

लेकिन आतंकवादियों के पास कोई ख़ास विकल्प नहीं होता है। वे इतने कमज़ोर होते हैं कि वे युद्ध नहीं छेड़ सकते। इसलिए वे उसकी बजाय एक ऐसा नाटकीय मंज़र पैदा करने का विकल्प चुनते हैं, इस उम्मीद के साथ कि वह दुश्मन को भड़काकर उसको अतिवादी प्रतिक्रिया करने के लिए मजबूर कर दे। आतंकवादी हिंसा का एक ऐसा ख़ौफ़नाक नज़ारा पैदा करते हैं, जो हमारी कल्पना को उत्तेजित कर उसको हमारे ही ख़िलाफ़ मोड़ देता है। आतंकवादी मुट्ठी-भर लोगों की हत्या कर लाखों लोगों के मन में जान से हाथ धो बैठने का ख़ौफ़ पैदा कर देते हैं। इन डरों को शान्त करने के लिए सरकारें आतंक के इस नाटक पर प्रतिक्रियास्वरूप, सैन्य बलों के अपरिमित प्रदर्शन, जैसे कि पूरी-की-पूरी आबादियों पर अत्याचार या विदेशी मुल्कों पर हमले आदि की योजनाएँ बनाते हुए, सुरक्षा का प्रदर्शन करती हैं। ज़्यादातर मामलों में, आतंकवाद के प्रति यह अतिवादी प्रतिक्रिया हमारी सुरक्षा के समक्ष उससे ज़्यादा ख़तरा पैदा करती है, जितना स्वयं आतंकवादी करते हैं।

इसलिए आतंकवादी फ़ौज के जनरलों की तरह नहीं सोचते। इसकी बजाय, वे नाटककारों के अन्दाज़ में सोचते हैं। 9/11 हमलों की सार्वजनिक स्मृति इस बात की गवाही देती है कि इस बात को हर कोई सहज ढंग से समझता है। अगर आप लोगों से पूछें कि 9/11 को क्या हुआ था, तो पूरी सम्भावना है कि वे कहें कि अल-क़ायदा ने वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की जुड़वाँ मीनारों को धराशायी कर दिया था, लेकिन यह हमला सिर्फ़ इन मीनारों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि दो अन्य कार्रवाइयाँ, विशेष रूप से पेंटागॉन पर कामयाब हमला भी इसमें शामिल थीं। क्या वज़ह है कि इसकी याद बहुत थोड़े-से लोगों को है?

अगर 9/11 कार्रवाई एक पारम्परिक सैन्य मुहिम होती, तो पेंटागन हमले पर ज़्यादा ध्यान जाना चाहिए था। इस हमले में अल-क़ायदा दुश्मन के केन्द्रीय सैन्य मुख्यालयों के कुछ हिस्सों को नष्ट करने में, वरिष्ठ कमांडरों और विश्लेषकों को मारने और घायल करने में सफल हुआ था। क्या वज़ह है कि सार्वजनिक स्मृति दो असैनिक इमारतों के ध्वंस, और शेयर-दलालों, लेखापालों और क्लर्कों की मौतों को कहीं ज़्यादा महत्त्व देती है?

ऐसा इसलिए है क्योंकि पेंटागॉन एक अपेक्षाकृत सपाट और सादी इमारत है, जबकि वर्ल्ड ट्रेड सेंटर एक विशाल खड़ा हुआ महत्त्वपूर्ण प्रतीक था, जिसके धराशायी होने ने

ज़बरदस्त दृश्य-श्रव्य प्रभाव पैदा किया था। जिस किसी ने भी उसके धराशायी होने के दृश्य देखे थे, वह उनको कभी नहीं भूल सकता, क्योंकि हम अन्दर से इस बात को समझते हैं कि आतंकवाद नाटक है, इसलिए हम उसको उसके भौतिक प्रभाव की बजाय उसके भावनात्मक प्रभाव के आधार पर परखते हैं।

आतंकवादियों की ही तरह आतंकवाद का मुक़ाबला कर रहे लोगों को भी नाटककारों की तरह ज़्यादा और फ़ौजी जनरलों की तरह कम सोचना चाहिए। आख़िरकार, अगर हम आतंकवाद का कारगर ढंग से मुक़ाबला करना चाहते हैं, तो हमें यह समझना चाहिए कि आतंकवादी जो कुछ भी करते हैं, वह हमें पराजित नहीं कर सकता। अगर हम आतंकवादियों के भड़कावे में आकर गुमराह तरीक़े से अतिवादी प्रतिक्रिया करते हैं, तो ख़ुद हम ही अपने हाथों पराजित हो सकते हैं।

आतंकवादी एक असम्भव मुहिम में लगे होते हैं : सैन्य-शक्ति न होने के बावजूद हिंसा के रास्ते राजनीतिक शक्ति-सन्तुलन को बदलना। अपने इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए आतंकवादी राज्य को उसकी अपनी एक असम्भव चुनौती सौंपते हैं : यह साबित करने की चुनौती कि वह कहीं भी, किसी भी समय राजनीतिक हिंसा से अपने नागरिकों की रक्षा कर सकता है। आतंकवादी उम्मीद करते हैं कि जब राज्य इस असम्भव मुहिम को पूरा करने की कोशिश करेगा, तो वह राजनीतिक ताश के पत्तों को नए सिरे से फेंटेगा और उनके हाथ में कुछ अप्रत्याशित इक्के थमा देगा।

यह सही है कि जब राज्य इस चुनौती पर प्रतिक्रिया करता है, तो वह आम तौर से आतंकवादियों को कुचलने में सफल होता है। पिछले कुछ दशकों के दौरान विभिन्न देशों द्वारा सैकड़ों आतंकवादी संगठनों को मिटा दिया गया था। 2002-04 में इज़रायल ने साबित कर दिया था कि सबसे उग्र आतंकवादी मुहिमों तक को कठोर बल-प्रयोग के माध्यम से कुचला जा सकता है। आतंकवादी अच्छी तरह से जानते हैं कि इस तरह के टकराव में परिस्थितियाँ उनके ख़िलाफ़ होती हैं, लेकिन चूँकि वे बहुत कमज़ोर होते हैं, और उनके पास कोई अन्य सैन्य विकल्प नहीं होते हैं, इसलिए उनके पास खोने के लिए कुछ नहीं होता है और हासिल करने के लिए बहुत कुछ होता है। कभी-कभार आतंकवाद-विरोधी मुहिमों द्वारा पैदा की गई उग्र राजनीतिक प्रतिक्रियाएँ आतंकवादियों को फ़ायदा पहुँचाती हैं। यही वज़ह है कि यह जुआ खेलने लायक़ बनता है। एक आतंकवादी उस जुआरी की तरह होता है, जिसके हाथ ग़लत पत्ते लग गए होते हैं, और वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पत्ते फेंटने को राज़ी करने की कोशिश करता है। वह हार कुछ नहीं सकता, और जीत सब कुछ सकता है।

एक बड़े ख़ाली घड़े में छोटा-सा सिक्का।

राज्य को पत्ते फेंटने के लिए राज़ी क्यों होना चाहिए? चूँकि आतंकवादियों द्वारा पहुँचाया गया माली नुक़सान नगण्य होता है, इसलिए राज्य या तो सैद्धान्तिक तौर पर उसके बारे में कुछ नहीं कर सकता, या कैमरों और माइक्रोफ़ोनों की निगाहों से बहुत दूर मज़बूत, किन्तु विवेकपूर्ण उपाय अपना सकता है। वाक़ई, राज्य कभी-कभी ठीक ऐसा ही करते हैं, लेकिन कभी-कभी राज्य अपना आपा खो बैठते हैं, और बहुत ज़्यादा तीव्र और सार्वजनिक प्रतिक्रिया करते हैं, और इस तरह आतंकवादियों की शर्तों पर खेलने लगते हैं। आख़िरकार राज्य आतंकवादियों के भड़कावों के प्रति इतने संवेदनशील क्यों होते हैं?

राज्यों के लिए इन भड़कावों को सह पाना इसलिए मुश्किल होता है, क्योंकि आधुनिक राज्य की वैधता सार्वजनिक क्षेत्र को राजनीतिक हिंसा से मुक्त रखने के आश्वासन पर टिकी होती है। कोई शासन-व्यवस्था भयावह विनाशों को सह सकती है, और उनको नज़रअन्दाज़ तक कर सकती है, बशर्ते कि उसकी वैधता उनको रोकने पर न टिकी हो। दूसरी ओर, अगर एक छोटी-सी समस्या को भी किसी शासन-व्यवस्था की वैधता को कमज़ोर करने वाली समस्या की तरह देखा जाता है, तो वह शासन-व्यवस्था उस समस्या की वज़ह से ध्वस्त हो सकती है। चौदहवीं सदी में ब्लैक डैथ ने यूरोपीय आबादियों के एक चौथाई और आधे हिस्से के बीच की संख्या में लोगों की जानें ले ली थीं, तब भी इसके नतीजे में किसी राजा को अपना सिंहासन नहीं गँवाना पड़ा था, और किसी भी राजा ने इस महामारी पर विजय पाने के लिए बहुत ज़्यादा कोशिश नहीं की थी। तब कोई नहीं सोचता था कि महामारियों को रोकना राजा के कर्तव्यों में शामिल है। दूसरी ओर, जो शासक अपने अधिकार-क्षेत्रों में विधर्मिता की छूट देते थे, उनको अपना राजमुकुट, और सिर तक गँवा देने का जोखिम उठाना पड़ता था।

आज, एक सरकार आतंकवाद की बजाय घरेलू और यौनपरक हिंसा को लेकर नरम रवैया अपना सकती है, क्योंकि #MeToo जैसे आन्दोलनों के प्रभाव के बावजूद, बलात्कार सरकार की वैधता को कम नहीं करता। फ़्रांस में हर वर्ष बलात्कार के 10,000 से ज़्यादा प्रकरण दर्ज किए जाते हैं, और सम्भवतः दसियों हज़ार प्रकरण ऐसे होते हैं, जिनकी सूचना नहीं दी गई होती है। लेकिन बलात्कारियों और अत्याचारी पतियों को फ़्रांस के राज्य के लिए अस्तित्वपरक ख़तरे के रूप में नहीं देखा जाता, क्योंकि ऐतिहासिक तौर पर राज्य ने स्वयं को यौनपरक हिंसा के उन्मूलन के आश्वासन पर खड़ा नहीं किया था। इसके विपरीत, आतंकवाद के तुलनात्मक रूप से विरले प्रकरणों को फ़्रांसीसी गणराज्य के लिए घातक ख़तरे के रूप में देखा जाता है, क्योंकि पिछली कुछ सदियों से आधुनिक पश्चिमी राज्य अपनी वैधता उत्तरोत्तर अपनी सरहदों के भीतर किसी भी तरह की राजनीतिक हिंसा को न सहने के स्पष्ट आश्वासन पर विकसित करते गए हैं।

मध्य युग में, सार्वजनिक क्षेत्र राजनीतिक हिंसा से भरा हुआ था। सच तो यह है कि हिंसा का इस्तेमाल करने की योग्यता राजनीतिक खेल में शामिल होने का प्रवेश-पत्र हुआ

करती थी, और जिस किसी में भी यह योग्यता नहीं होती थी, उसकी कोई राजनीतिक हैसियत नहीं होती थी। असंख्य कुलीन परिवार थे, जिन्होंने सशस्त्र बलों को अपने पास बरक़रार रखा था, उसी तरह नगरों, निकायों, चर्चों और मठों के अपने सैन्य बल हुआ करते थे। जब किसी पूर्व मठाधीश की मृत्यु हो जाती थी और उसके उत्तराधिकारी को लेकर विवाद खड़ा हो जाता था, तो प्रतिद्वन्द्वी घड़े के लोग, जिनमें संन्यासी, स्थानीय बाहुबली और सम्बन्धित पड़ोसी शामिल होते थे, अक्सर इस मसले का फ़ैसला करने के लिए सशस्त्र बलों का इस्तेमाल किया करते थे।

इस तरह की दुनिया में आतंकवाद के लिए कोई स्थान नहीं था। जो भी कोई व्यक्ति ख़ासी मात्रा में माली नुक़सान पहुँचाने लायक़ ताक़त नहीं रखता था, उसकी कोई अहमियत नहीं होती थी। अगर 1150 में कुछ मुसलमानों ने यरुशलम में धर्मयोद्धाओं से पवित्र भूमि छोड़कर चले जाने की माँग करते हुए मुट्ठी-भर असैनिक नागरिकों की हत्या कर दी होती, तो इसकी प्रतिक्रिया आतंक से ज़्यादा उपहास पैदा करने वाली होती। अगर आप चाहते कि आपको संजीदगी से लिया जाए, तो इसके लिए आपको कम-से-कम एक-दो मज़बूत दुर्गों को अपने नियन्त्रण में लेना ज़रूरी होता। आतंकवाद हमारे मध्ययुगीन पूर्वजों को तंग नहीं करता था, क्योंकि उनके सामने कहीं ज़्यादा बड़ी समस्याएँ थीं, जिनसे उनको निपटना ज़रूरी होता था।

आधुनिक युग के दौरान केन्द्रीकृत राज्य अपने अधिकार-क्षेत्रों के भीतर राजनीतिक हिंसा के स्तर को धीरे-धीरे कम करते गए, और पिछले कुछ दशकों के दौरान पश्चिमी मुल्क इसको पूरी तरह से ख़त्म करने में सफल रहे हैं। फ्रांस, ब्रिटेन या संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक बिना किसी सशस्त्र बल के नगरों, प्रतिष्ठानों, संगठनों और स्वयं सरकारों तक को नियन्त्रण में लेने के लिए संघर्ष कर सकते हैं। खरबों डॉलरों, लाखों सैनिकों, और हज़ारों जहाज़ों, वायुयानों और परमाणु प्रेक्षेपास्त्रों का नियन्त्रण राजनेताओं के समूह के हाथों से दूसरे समूह के हाथों में जाता रहता है, जिस दौरान एक भी गोली नहीं दागनी पड़ती। लोग जल्दी-से इसके अभ्यस्त हो जाते हैं, और इसे अपना कुदरती अधिकार समझने लगते हैं। इसके परिणामतः, राजनीतिक हिंसा की छिटपुट वारदातों तक को, जो कुछ दर्जन लोगों की जानें लेती हैं, राज्य की वैधता और उसके बचे रहने तक के लिए घातक ख़तरे की तरह देखा जाता है। एक बड़े ख़ाली घड़े में पड़ा एक छोटा-सा सिक्का बहुत आवाज़ करता है।

यही है वह चीज़, जो आतंकवाद के नाटक को इतना कामयाब बनाती है। राज्य ने राजनीतिक हिंसा से ख़ाली एक विराट जगह तैयार कर दी है, जो अब एक साउंडिंग बोर्ड की भूमिका निभाती हुई किसी भी सशस्त्र हमले के प्रभाव को, वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, दूर-दूर तक पहुँचा देती है। किसी ख़ास राज्य में जितनी कम राजनीतिक हिंसा होती है, आतंकवाद के कृत्य से वहाँ उतना ही ज़्यादा सार्वजनिक आघात पहुँचता है। बेल्जियम में थोड़े-से लोगों की हत्या उससे कई गुना ज़्यादा लोगों का ध्यान खींचती है,

जितनों का नाइज़ीरिया या इराक़ में सैकड़ों लोगों की हत्या खींचती है। ऐसे में, विरोधाभास यह है कि राजनीतिक हिंसा को रोकने की आधुनिक राज्यों की सफलता ही इन राज्यों को आतंकवाद के प्रति विशेष रूप से असुरक्षित या संवेदनशील बना देती है।

राज्य इस बात पर कई बार बल दे चुका है कि वह अपनी सरहदों के भीतर राजनीतिक हिंसा को बर्दाश्त नहीं करेगा। वहीं नागरिक शून्य राजनीतिक हिंसा के प्रति पूरी तरह अभ्यस्त हो चुके हैं। इसलिए आतंक का नाटक अराजकता की जज़्बाती दहशत को पैदा करता हुआ लोगों को इस अहसास से भर देता है कि सामाजिक व्यवस्था ध्वस्त होने वाली है। ख़ूनी संघर्ष से भरी शताब्दियों के बाद हम हिंसा के ब्लैक होल से रेंगकर बाहर निकल आए हैं, लेकिन हम महसूस करते हैं कि ब्लैक होल अभी भी मौजूद है, और धीरज के साथ हमें फिर से निगल लेने की प्रतीक्षा कर रहा है। थोड़ी-सी वीभत्स क्रूरताएँ होती हैं और हमें लगता है कि हम वापस उसमें धँस रहे हैं।

इन दहशतों को शान्त करने के लिए, राज्य आतंकवाद के नाटक का जवाब सुरक्षा के अपने नाटक से देने को बाध्य होता है। आतंकवाद का सबसे सक्षम जवाब अच्छे ख़ुफ़िया तन्त्र और आतंकवाद का पोषण करने वाले वित्तीय तन्त्रें के ख़िलाफ़ गुप्त कार्रवाई से दिया जा सकता है, लेकिन ये ऐसी चीज़ें नहीं हैं, जिनको नागरिक अपने टेलीविज़नों पर देख सकते हों। नागरिकों ने तो वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के ध्वस्त होने का आतंकवादी ड्रामा देखा है। राज्य उसके जवाब में उतने ही प्रभावशाली ड्रामे का प्रदर्शन करने को बाध्य महसूस करता है, जिसमें और भी ज़्यादा आग और धुआँ हो। इसलिए ख़ामोशी के साथ और कारगर ढंग से कार्रवाई करने की बजाय, राज्य एक महाशक्तिशाली तूफ़ान खड़ा करता है, जो अक्सर आतंकवादियों के सबसे प्रिय सपनों को साकार कर देता है।

तब फिर राज्य को आतंकवाद से किस तरह निपटना चाहिए? एक सफल आतंकवाद-विरोधी संघर्ष तीन मोर्चों पर किया जाना चाहिए। पहला, सरकारें आतंकी तन्त्रें के ख़िलाफ़ गुप्त कार्रवाइयाँ करें। दूसरा, मीडिया को चाहिए कि वह स्थितियों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश न करे और सार्वजनिक उन्माद को टाले। आतंक का नाटक प्रचार के बिना सफल नहीं हो सकता। दुर्भाग्य से, मीडिया यह प्रचार निःशुल्क रूप से कुछ ज़्यादा ही मुहैया कराता है। यह आतंकवादी हमलों को अविवेकपूर्ण ढंग से रिपोर्ट करता है और उनके ख़तरे को बहुत ज़्यादा बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता है, क्योंकि आतंकवाद की रिपोर्टें मधुमेह या वायु-प्रदूषण की रिपोर्टों की तुलना में अख़बारों को कहीं ज़्यादा बेचती हैं।

तीसरा मोर्चा है हम में से हर व्यक्ति की कल्पना-शक्ति। आतंकवादी हमारी कल्पना-शक्ति को बन्धक बना लेते हैं, और हमारे ही ख़िलाफ़ उसका इस्तेमाल करते हैं। हम आतंकवादी हमले को बार-बार अपने दिमाग़ के रंगमंच पर दोहराते हैं - 9/11 को या किसी ताज़ा आत्मघाती बम-विस्फोट को याद करते हुए। आतंकवादी सौ लोगों को मारते हैं - और 10 करोड़ लोगों में यह कल्पना जगाते हैं कि हर दरख़्त के पीछे कोई हत्यारा

छिपा बैठा है। यह हर नागरिक की ज़िम्मेदारी है कि वह अपनी कल्पना-शक्ति को आतंकवादियों की गिरफ़्त से मुक्त करे, और ख़ुद को इस ख़तरे के वास्तविक पैमाने की याद दिलाए। यह हमारा अपना अन्दरूनी आतंक है, जो आतंकवाद के बारे में मीडिया को ग्रस्त करने, और सरकार को ज़रूरत से ज़्यादा प्रतिक्रिया करने को उकसाता है।

इस तरह आतंकवाद की सफलता या विफलता हम पर निर्भर करती है। अगर हम अपनी कल्पना-शक्ति को आतंकवादियों द्वारा बन्धक बना लिए जाने की छूट देते हैं, और फिर अपने भयों पर ज़रूरत से ज़्यादा प्रतिक्रिया करते हैं, तो आतंकवाद सफल होगा। अगर हम अपनी कल्पना-शक्ति को आतंकवादियों से आज़ाद कर लेते हैं, और सन्तुलित तथा शान्त भाव से प्रतिक्रिया करते हैं, तो आतंकवाद विफल हो जाएगा।

आतंकवाद का परमाणु सम्पन्न होना

अब तक जो विश्लेषण हमने किया है, वह आतंकवाद के उस रूप पर लागू होता है, जिस रूप में उसे हम पिछली दो सदियों से जानते रहे हैं, और जिस रूप में वह न्यू यॉर्क, लन्दन, पेरिस और तेल अवीव की सड़कों पर ख़ुद को प्रकट करता है, लेकिन अगर सामूहिक नरसंहार के हथियार आतंकवादियों के हाथ लग जाते हैं, तो सिर्फ़ आतंकवाद की ही नहीं, बल्कि राज्य और वैश्विक राजनीतियों की प्रकृति भी ज़बरदस्त तरीक़े से बदल जाएगी। अगर मुट्ठी-भर कट्टरपन्थियों का प्रतिनिधित्व करने वाले छोटे-छोटे संगठन पूरे-के-पूरे नगरों को तबाह कर सकेंगे और लाखों लोगों को मार सकेंगे, तो कोई सार्वजनिक क्षेत्र राजनीतिक हिंसा से मुक्त नहीं रह पाएगा।

इसलिए जहाँ आज का आतंकवाद ज़्यादातर एक नाटक है, वहीं भविष्य में परमाणु आतंकवाद, साइबर-आतंकवाद, जैव-आतंकवाद (बायोटेररिज़्म) कहीं ज़्यादा गम्भीर ख़तरा पेश करेगा, और सरकारों से बहुत अधिक कठोर प्रतिक्रिया की माँग करेगा। ठीक इसी वज़ह से हमें इस तरह के परिकल्पित भावी परिदृश्यों को उन वास्तविक आतंकवादी हमलों से अलग करने के मामले में सावधानी बरतनी ज़रूरी है, जिन हमलों को हम अब तक देखते रहे हैं। किसी दिन आतंकवादियों के हाथ परमाणु बम लग जाने से उनके द्वारा न्यू यॉर्क या लन्दन को तबाह कर देने का भय उस आतंकवादी के प्रति उन्मादपूर्ण अतिवादी प्रतिक्रिया को उचित नहीं ठहरा देता, जो एक स्वचालित राइफ़ल या बेक़ाबू ट्रक के माध्यम से सड़क चलते दर्जन-भर लोगों को मार देता है। इससे भी ज़्यादा सावधानी सरकारों को तमाम असन्तुष्ट समुदायों पर इस आधार पर ज़ुल्म करने के मामले में बरतनी ज़रूरी है कि वे एक दिन परमाणु हथियार हासिल कर सकते हैं, या वे हमारी स्वचालित कारों को हैक कर उनको हत्यारे रोबोटों के झुण्ड में बदल सकते हैं।

इसी तरह, हालाँकि सरकारों को निश्चय ही उग्रवादी संगठनों पर निगाह रखनी चाहिए और उनको सामूहिक जनसंहार करने वाले हथियारों को नियन्त्रण में लेने से रोकने की कार्रवाइयाँ करनी चाहिए, लेकिन उनके लिए यह ज़रूरी है कि वे परमाणु आतंकवाद के भय को दूसरी सम्भावित रूप से ख़तरनाक स्थितियों के समक्ष रखकर देखें। पिछले दो दशकों में संयुक्त राज्य अमेरिका ने आतंकवाद के ख़िलाफ़ अपने युद्ध पर ख़रबों डॉलर और ढेर सारी राजनीतिक संसाधन बर्बाद किए हैं। जॉर्ज डब्ल्यू बुश, टोनी ब्लेयर, बराक ओबामा और उनके प्रशासन किसी हद तक यह उचित तर्क दे सकते हैं कि उन्होंने आतंकवादियों को खदेड़कर उनको परमाणु हथियार हासिल करने के बारे में सोचने की बजाय अपनी जान बचाने के बारे में सोचने पर मजबूर कर दिया है। इस तरह मुमकिन है कि उन्होंने दुनिया को परमाणु 9/11 से बचा लिया हो। चूँकि यह एक प्रतितथ्यात्मक (काउंटरफैक्चुअल) दावा है - 'अगर हमने आतंक के ख़िलाफ़ युद्ध न छेड़ा होता, तो अल-क़ायदा ने परमाणु हथियार हासिल कर लिए होते' - इसलिए यह जाँचना मुश्किल है कि यह दावा सही है या नहीं।

लेकिन यह बात हम पक्के तौर पर कह सकते हैं कि आतंक के ख़िलाफ़ युद्ध जारी रखकर अमेरिकियों और उनके मित्रों ने समूचे विश्व में न सिर्फ़ अपरिमित विनाश को अंजाम दिया है, बल्कि वह क़ीमत चुकाने की ज़िम्मेदारी भी मोल ले ली है, जिसको अर्थशास्त्री 'ऑपर्चुनिटी कॉस्ट' की संज्ञा देते हैं। आतंकवाद से लड़ने पर निवेश किए गए पैसों, समय और राजनीतिक संसाधनों को ग्लोबल वर्मिंग, एड्स और ग़रीबी से लड़ने, उप-सहारा अफ़्रीका में शान्ति और समृद्धि लाने या रूस और चीन के साथ बेहतर सम्बन्ध बनाने पर निवेश नहीं किया गया। अगर न्यू यॉर्क या लन्दन अन्ततः अटलांटिक महासागर के बढ़ते हुए जलस्तर की वज़ह से डूब जाते हैं, या अगर रूस के साथ बढ़ता हुआ तनाव खुली लड़ाई के रूप में भड़क उठता है, तो बहुत मुमकिन है कि लोग बुश, ब्लेयर और ओबामा पर ग़लत मोर्चे पर ध्यान देने का आरोप लगाएँ।

वास्तविक समय में प्राथमिकताओं को तय करना मुश्किल होता है, जबकि पष्चात-दृष्टि के साथ परिस्थितियों का पूर्वानुमान करना बहुत आसान होता है। हम राजनेताओं पर उन विनाशों को रोक पाने में असमर्थ रहने का आरोप लगाते हैं, जो हो चुके होते हैं, वहीं ख़ुशी-ख़ुशी उन आपदाओं के प्रति अनजान बने रहते हैं, जो कभी घटित नहीं हुई होतीं। लोग 1990 के दशक के क्लिंटन प्रशासन की ओर वापस मुड़कर देखते हैं, और उस पर अल-क़ायदा के ख़तरों की उपेक्षा करने का आरोप लगाते हैं, लेकिन 1990 के दशक में बहुत थोड़े-से लागों ने कल्पना की होगी कि इस्लामी आतंकवादी न्यू यॉर्क की गगनचुम्बी मीनारों से यात्री हवाई जहाज़ों को टकराकर एक वैश्विक टकराव की आग भड़का देने वाले थे। इसके विपरीत, बहुत-से लोगों को भय था कि रूस पूरी तरह ध्वस्त हो सकता है और न केवल अपने विशाल अधिकार-क्षेत्र, बल्कि हज़ारों परमाणु और जैविक बमों पर भी अपना

नियन्त्रण खो सकता है। एक अतिरिक्त चिन्ता यह थी कि पूर्व यूगोस्लाविया के ख़ूनी युद्ध पूर्वी यूरोप के दूसरे हिस्सों तक फैल सकते थे, और उनके नतीजे में हंगरी और रोमानिया के बीच, बुल्गारिया और तुर्की के बीच, या पोलैंड और उक्रेन के बीच टकराव पैदा हो सकते थे।

बहुत-से लोग तो जर्मनी के एकीकरण तक को लेकर असहज महसूस कर रहे थे। थर्ड राइख़ के पतन के महज़ साढ़े चार दशकों बाद, बहुत-से लोग अपने मन में जर्मन शक्ति को लेकर सहज ख़ौफ़ पाले हुए थे। क्या जर्मनी सोवियत ख़ौफ़ से आज़ाद होकर यूरोपीय महाद्वीप पर वर्चस्व क़ायम करने वाली महाशक्ति नहीं बन जाएगा? और चीन? सोवियत खेमे के ध्वस्त होने से चौकन्ना चीन अपने सुधारों की कार्रवाई को त्याग सकता है, और सख़्त माओवादी नीतियों पर वापस लौट सकता है, और अन्त में उत्तर कोरिया का एक विशाल संस्करण बन सकता है।

आज हम इन डरावनी परिकल्पनाओं का मज़ाक़ उड़ा सकते हैं, क्योंकि ऐसा वास्तव में हुआ नहीं। रूस में स्थिति स्थिर रही। यूरोप का ज़्यादातर पूर्वी हिस्सा यूरोपीय यूनियन में शांतिपूर्ण ढंग से आत्मसात कर लिया गया, एकीकृत जर्मनी को आज आज़ाद दुनिया के नेता की तरह देखा जाता है, और चीन समूचे भूमण्डल का आर्थिक इंजन बन चुका है। यह सब, आंशिक रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय यूनियन की रचनात्मक नीतियों की वज़ह से हासिल किया जा सका। क्या यह अक़्लमन्दी होती कि 1990 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय यूनियन ने पूर्व सोवियत खेमे या चीन की स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करने की बजाय इस्लामी अतिवादियों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया होता?

हम हर आकस्मिक आपदा के लिए पहले से तैयार नहीं हो सकते। तदनुसार, यद्यपि हमें निश्चय ही परमाणु आतंकवाद को रोकना चाहिए, लेकिन यह मनुष्यता की कार्यसूची का पहला मुद्दा नहीं हो सकता। और हमें निश्चय ही परमाणु आतंकवाद के सैद्धान्तिक ख़तरे का इस्तेमाल साधारण आतंकवाद के प्रति अतिवादी प्रतिक्रिया को उचित ठहराने के लिए तो नहीं ही करना चाहिए। ये अलग तरह की समस्याएँ हैं, जो अलग तरह के समाधानों की माँग करती हैं।

हमारी कोशिशों के बावजूद अगर आतंकवादी समूह अन्ततः सामूहिक नरसंहार के हथियारों को क़ब्ज़े में ले लेते हैं, तो यह अनुमान लगा पाना मुश्किल है कि राजनीतिक संघर्षों को किस तरह अंजाम दिया जाएगा, लेकिन वे इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक दौर की आतंकवादी और आतंकवाद-विरोधी मुहिमों से बहुत भिन्न होंगे। अगर 2050 में दुनिया परमाणु आतंकवादियों और जैवआतंकवादियों से भरी होगी, तो इनके शिकार लोग 2018 की दुनिया को अविश्वास का पुट लिए हसरत-भरी निगाहों से मुड़कर देखेंगे : इतना सुरक्षित जीवन जीने के बावजूद ये लोग इतना भयभीत कैसे महसूस कर सकते थे?

निश्चय ही, ख़तरे के हमारे मौजूदा अहसास को भड़काने वाली चीज़ सिर्फ़ आतंकवाद नहीं है। ढेरों विशेषज्ञों और साधारण लोगों के मन में यह भय समाया हुआ है कि द थर्ड वर्ल्ड वॉर क़रीब ही है, मानो यह फ़िल्म हम एक सदी पहले देख चुके हों। जिस तरह 1914 में हुआ था, उसी तरह 2018 में महाशक्तियों के बीच बढ़ता हुआ तनाव और उसी के साथ जुड़ी वैश्विक समस्याएँ हमें भूमण्डलीय युद्ध की दिशा में घसीटती लग रही हैं। क्या यह व्यग्रता आतंकवाद को लेकर हमारे अतिरंजित भय से ज़्यादा उचित है?

11

युद्ध

मनुष्य की मूर्खता को कभी भी कम करके मत आँकिए

पिछले कुछ दशकों का समय मानव-इतिहास का सबसे शान्तिपूर्ण काल रहा है। जहाँ शुरुआती दौर के कृषिपरक समाजों में इंसानी हिंसा मनुष्य की कुल मृत्युओं के 15 % हिस्से का कारण हुआ करती थी, और बीसवीं सदी में उसके 5 % हिस्से का कारण हुआ करती थी, वहीं आज वह मात्र 1 % हिस्से के लिए ज़िम्मेदार है। तब भी 2008 के वैश्विक वित्तीय संकट के समय से अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में तेज़ी-से गिरावट आ रही है, युद्ध के भड़कावे फिर से फ़ैशन में हैं, और सेना पर किया जाने वाला ख़र्च गुब्बारे की तरह फूलता जा रहा है। जन-साधारण और विशेषज्ञों, दोनों में यह भय व्याप्त है कि जिस तरह 1914 में एक ऑस्ट्रियाई आर्कड्यूक की हत्या ने प्रथम विश्वयुद्ध के लिए चिंगारी का काम किया था, उसी तरह 2018 में सीरियाई रेगिस्तान की कोई घटना या कोरियाई प्रायद्वीप में कोई अविवेकपूर्ण क़दम वैश्विक टकराव को भड़का सकता है।

दुनिया में बढ़ते हुए तनाव, और वाशिंगटन, प्यांग्यांग और कई दूसरी जगहों के नेताओं के व्यक्तित्व को देखते हुए चिन्ता की वज़ह तो निश्चय ही है। तब भी 2018 और 1914 के बीच कई महत्त्वपूर्ण फ़र्क़ हैं। ख़ासतौर से, 1914 के युद्ध में दुनियाभर के कुलीन वर्ग के लिए बहुत बड़ा आकर्षण मौजूद था, क्योंकि उनके पास इस बात के बहुत-से ठोस उदाहरण थे कि किस तरह युद्धों ने आर्थिक समृद्धि और राजनीतिक शक्ति में योगदान किया था। इसके विपरीत, 2018 के सफल युद्ध विलुप्तप्राय प्रजाति प्रतीत होते हैं।

असीरियाइयों और चिन के ज़माने से विशाल साम्राज्य हिंसक विजयों की मार्फ़त स्थापित किए जाते रहे थे। 1914 में भी तमाम महाशक्तियों की हैसियत के पीछे सफल युद्ध रहे थे। उदाहरण के लिए, शाही जापान रूस और चीन की अपनी जीतों की वज़ह से

एक क्षेत्रीय शक्ति बन सका था, ऑस्ट्रिया-हंगरी और फ़्रांस पर अपनी जीत के बाद ही जर्मनी यूरोप का मुखिया बन सका था, और ब्रिटेन ने समूचे भूग्रह पर अनेक वैभवशाली छोटे-छोटे युद्धों के माध्यम से ही दुनिया का सबसे बड़ा और समृद्ध साम्राज्य खड़ा किया था। 1882 में ब्रिटेन ने तेल एल-कीबिर के निर्णायक युद्ध में मिस्र पर हमला कर उसको जीत लिया था और इसमें उसको मात्र सत्तावन सैनिकों को खोना पड़ा था। जहाँ हमारे समय में किसी मुस्लिम मुल्क पर क़ब्ज़ा करना पश्चिमी दुःस्वप्नों का विषय है, वहीं तेल एल-कीबिर के परिणामस्वरूप अँग्रेज़ों को बहुत थोड़े-से सशस्त्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था, और उसने छह दशकों से ज़्यादा समय तक नील घाटी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुएज़ नहर को अपने नियन्त्रण में रखा था। दूसरी यूरोपीय शक्तियों ने यूरोप का अनुसरण किया, और जब कभी पेरिस, रोम या ब्रुसेल्स में सरकारें वियतनाम, लीबिया या कांगो में फ़ौजें भेजने के बारे में सोचती थीं, तो उनको एकमात्र डर यह सताता था कि उनसे पहले कोई दूसरा वहाँ पहुँच सकता है।

यहाँ तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका तक महाशक्ति की अपनी हैसियत अकेले आर्थिक उद्यम के दम पर बना पाने की बजाय सैन्य कार्रवाई के बूते ही बना सका। 1846 में उसने मैक्सिको पर हमला किया, और कैलिफ़ोर्निया, नेवादा, यूटा, अरिज़ोना, न्यू मैक्सिको और कोलोराडो, कान्सास, व्योमिंग तथा ओकलाहोमा के कुछ हिस्सों को जीत लिया था। शान्ति-सन्धि ने भी टैक्सास के पिछले अमेरिकी क़ब्ज़े की पुष्टि की थी। लगभग 13,000 अमेरिकी सैनिक इस युद्ध में मारे गए थे, जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका में 23 लाख वर्ग किलोमीटर के इलाक़े का योगदान किया था (जो फ़्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, स्पेन और इटली के संयुक्त आकार के बराबर था)। यह सहस्राब्दी का सबसे सस्ता सौदा था।

इसलिए 1914 में वाशिंगटन, लन्दन और बर्लिन का कुलीन वर्ग इस बात को ठीक-ठीक समझता था कि एक सफल युद्ध किस तरह का होता है, और हम उससे कितना कुछ हासिल कर सकते हैं। इसके विपरीत, 2018 में वैश्विक कुलीन वर्ग के पास इस बात पर सन्देह करने की पर्याप्त वज़ह है कि इस क़िस्म का युद्ध विलुप्त हो गया लगता है, हालाँकि, तीसरी दुनिया के कुछ तानाशाह और गैर-राजकीय संगठन अभी भी युद्ध के माध्यम से फलने-फूलने में कामयाब होते हैं, लेकिन लगता है कि बड़ी शक्तियाँ अब इस इल्म से वाकिफ़ नहीं हैं।

जिस महान विजय - सोवियत संघ पर संयुक्त राज्य अमेरिका की विजय - की स्मृति अभी बनी हुई है, वह बिना किसी सैन्य टकराव के हासिल की गई थी। इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने पुराने चाल की सैन्य महिमा का अस्थायी स्वाद पहले खाड़ी युद्ध में चखा था, लेकिन इसने उसको इराक़ और अफ़गानिस्तान में अपमानजनक सैन्य नाकामयाबियों पर खरबों डॉलर ख़र्च करने के लिए ही ललचाया था। इक्कीसवीं सदी की उभरती हुई शक्ति चीन वियतनाम पर किए गए 1979 के विफल हमले के बाद से तमाम सशस्त्र

टकरावों को परिश्रमपूर्वक टालता रहा है, और उसके उभार के पीछे पूरी तरह से आर्थिक कारक हैं। इसमें उसने 1914 के पहले के दौर के जापानी, जर्मन और इताल्वी साम्राज्यों का नहीं, बल्कि 1945 के बाद के दौर के जापानी, जर्मन और इताल्वी आर्थिक चमत्कारों का अनुसरण किया है। इन सारे प्रकरणों में आर्थिक समृद्धि और भूराजनीतिक प्रभुत्व एक भी गोली दागे बिना हासिल किए गए थे।

यहाँ तक कि मध्य पूर्व में भी - जो कि दुनिया की रणभूमि है - क्षेत्रीय ताक़तों को यह समझ नहीं है कि सफल युद्ध किस तरह लड़े जाएँ। ईरान-इराक़ युद्ध के लम्बे रक्तपात से ईरान को कुछ भी हासिल नहीं हुआ, और इसके बाद उसने तमाम सीधे सैन्य टकरावों को टाला। ईरान इराक़ से लेकर यमन तक स्थानीय आन्दोलनों को धन और हथियार मुहैया कराता है, और उन्होंने सीरिया और लेबनान के अपने मित्रों की मदद के लिए क्रान्तिकारी रक्षकों को भेजा है, लेकिन वे अब तक किसी भी मुल्क पर हमला करने के मामले में सावधानी बरतते रहे हैं। ईरान हाल ही में एक वर्चस्वशाली क्षेत्रीय राष्ट्र बना है, तो युद्ध के मैदान की किसी भव्य विजय के बूते पर नहीं, बल्कि इसलिए बना है, क्योंकि और कोई विकल्प नहीं था। इसके दो मुख्य शत्रुओं - संयुक्त राज्य अमेरिका और इराक़ - एक ऐसे युद्ध में उलझे, जिसने इराक़ और मध्य पूर्वी दलदलों की अमेरिकी भूख, दोनों को तबाह कर दिया, और इस तरह ईरान को इन बर्बादियों का फ़ायदा उठाने के लिए छोड़ दिया।

ऐसा ही बहुत कुछ इज़रायल के बारे में कहा जा सकता है। इसका आख़िरी सफल युद्ध 1967 में लड़ा गया था। उसके बाद से इज़रायल अनेक युद्धों के बावजूद नहीं, बल्कि उनकी वज़ह से फला-फूला है। इसके द्वारा क़ब्ज़े में किए गए ज़्यादातर अधिकार-क्षेत्रों ने इसे भारी आर्थिक बोझ से लाद दिया है और इसकी राजनीतिक ज़िम्मेदारियों को पंगु बना दिया है। काफ़ी कुछ ईरान की ही तरह इज़रायल ने बाद में अपनी भूराजनीतिक स्थिति को सफल युद्ध लड़कर नहीं, बल्कि सैन्य जोखिमों को टालकर सुधारा है। जहाँ युद्ध ने इराक़, सीरिया और लीबिया में मौजूद इज़रायल के पूर्व शत्रुओं को उजाड़ दिया, वहीं इज़रायल अलग-थलग बना रहा। सीरियाई गृह युद्ध में न उलझना नेतनयाहू की (मार्च 2018 तक की) उचित ही सबसे बड़ी राजनीतिक उपलब्धि रही है। अगर इज़रायल के सुरक्षा बल चाहते, तो वे डमेस्कस पर हफ़्ते भर के भीतर क़ब्ज़ा कर सकते थे, लेकिन इससे इज़रायल को क्या हासिल होता? इज़रायल के सुरक्षा बलों के लिए गाज़ा को जीतना और हमास की शासन-व्यवस्था को पदच्युत कर देना इससे भी ज़्यादा आसान था, लेकिन इज़रायल ऐसा करने से लगातार इंकार करता रहा। अपनी सारी सैन्य शक्ति और इज़रायली राजनेताओं की युद्ध की सारी धौंस के बावजूद इज़रायल जानता है कि युद्ध से कुछ ख़ास हासिल नहीं होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, जर्मनी, जापान और ईरान की ही तरह इज़रायल इस बात को समझता लगता है कि इक्कीसवीं सदी में सबसे कामयाब रणनीति किसी का पक्ष लिए बिना दूसरों को आपके लिए लड़ने देना है।

क्रेमलिन से दिखाई देता नज़ारा

किसी महाशक्ति द्वारा इक्कीसवीं सदी में किया गया अब तक का सबसे कामयाब क़ब्ज़ा क्रीमिया पर रूस की विजय का रहा है। फ़रवरी 2014 में रूसी सेनाओं ने पड़ोसी उक्रेन पर हमला किया और क्रीमियाई प्रायद्वीप पर क़ब्ज़ा कर लिया, जिसे बाद में रूस के अधिकार-क्षेत्र में ले लिया गया। कोई ख़ास लड़ाई लड़े बिना रूस ने रणनीतिपरक ढंग से एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को हथिया लिया, अपने पड़ोसियों के दिलों में दहशत पैदा कर दी, और स्वयं को एक बार फिर विश्व-शक्ति के रूप में स्थापित कर लिया, लेकिन यह जीत कुछ असाधारण परिस्थितियों की वज़ह से सम्भव हो सकी थी। रूस के प्रति न तो उक्रेनियाई सेना ने कोई प्रतिरोध बरता और न ही स्थानीय आबादी ने, और वहीं दूसरी शक्तियाँ इस संकट में सीधा हस्तक्षेप करने से बचती रहीं। इन परिस्थितियों को दुनिया में किसी भी जगह पैदा करना मुश्किल होगा। अगर एक सफल युद्ध की पूर्वशर्त आक्रमणकारी को प्रतिरोध देने को तैयार शुत्रओं का न होना है, तो यह स्थिति उपलब्ध अवसरों को गम्भीर रूप से सीमित कर देती है।

सचमुच ही, जब रूस ने अपनी इस क्रीमियाई सफलता की नक़ल उक्रेन के दूसरे हिस्सों में करने की कोशिश की, तो उसको ख़ासे सख़्त विरोध का सामना करना पड़ा, और पूर्वी उक्रेन का युद्ध निरर्थक गतिरोध में उलझकर रह गया। इससे भी बदतर बात (मॉस्को के परिप्रेक्ष्य में) यह हुई है कि युद्ध से उक्रेन में रूस-विरोधी भावनाएँ भड़क चुकी हैं और उसने उस देश को एक दोस्त की जगह कट्टर दुश्मन में बदल दिया है। जिस तरह पहले खाड़ी युद्ध की कामयाबी ने संयुक्त राज्य अमेरिका के मन में इराक़ में असाध्य कामयाबी का लालच जगाया था, उसी तरह हो सकता है क्रीमिया की सफलता ने रूस के मन में उक्रेन में असाध्य कामयाबी का लालच जगाया हो।

इक्कीसवीं सदी के शुरुआती दौर के रूस के कॉकेसस और उक्रेन के युद्धों को साथ रखकर देखने पर उनको बमुश्किल ही सफल युद्धों की संज्ञा दी जा सकती है, हालाँकि इन युद्धों ने रूस की प्रतिष्ठा को महाशक्ति के रूप में बढ़ावा दिया है, लेकिन उन्होंने रूस के प्रति अविश्वास और शत्रुता में भी इज़ाफ़ा किया है, और आर्थिक दृष्टि से वे घाटे के उद्यम साबित हुए हैं। क्रीमिया के पर्यटक-सैरगाह और लुहान्स्क तथा दोनेत्स्क के सोवियत-युग के जर्जर कारख़ाने युद्ध पर ख़र्च किए गए धन की क़ीमत की भरपाई नहीं कर पाते, और वे पूँजी के पलायन तथा अन्तरराष्ट्रीय प्रतिबन्धों के रूप में चुकाई गई क़ीमत की भरपाई तो निश्चय ही नहीं कर पाते। रूसी नीति की सीमाओं को समझने के लिए हमें सिर्फ़ शान्तिपूर्ण चीन की पिछले बीस वर्षों की विपुल आर्थिक प्रगति की तुलना इसी दौर के 'विजेता' रूस के आर्थिक गतिरोध से करने भर की ज़रूरत है।

मॉस्को के शौर्यपूर्ण दावों के बावजूद रूसी कुलीन वर्ग स्वयं ही सम्भवतः अपने सैन्य कारनामों की वास्तविक क़ीमत और लाभ को अच्छी तरह-से समझता है, और यही वज़ह है कि वह अभी तक इन कारनामों को और अधिक गति न देने के प्रति सावधानी बरतता रहा है। रूस स्कूलयार्ड-बुली सिद्धान्त का अनुसरण करता रहा हैः 'सबसे कमज़ोर बच्चे को पकड़ो, और इतना ज़्यादा मत पीटो कि अध्यापक को दख़लन्दाज़ी करनी पड़े।' अगर पुतिन ने स्तालिन, पीटर द ग्रेट या चंगेज़ ख़ाँ की तरह की भावना के साथ युद्ध किए होते, तो रूस के टैंक अगर वारसा और बर्लिन की ओर नहीं, तो तेज़ी-से त्बलीसी और कीव की ओर बढ़ गए होते, लेकिन पुतिन न तो चंगेज़ हैं न स्तालिन। वे इस बात को किसी भी दूसरे के मुक़ाबले बेहतर ढंग से समझते लगते हैं कि इक्कीसवीं सदी में सैन्य शक्ति दूर तक नहीं जा सकती, और एक सफल युद्ध छेड़ने का अर्थ सीमित युद्ध छेड़ना ही है। यहाँ तक कि सीरिया में भी, रूस की क्रूरतापूर्ण हवाई गोलाबारी के बावजूद, पुतिन यह सावधानी बरतते रहे हैं कि वे अपने प्रभाव को कम-से-कम बनाए रखें, दूसरों को गम्भीरतापूर्वक लड़ने दें, और युद्ध को पड़ोसी देशों में न फैलने दें।

सचमुच, रूस के परिप्रेक्ष्य देखें, तो हाल के वर्षों की इसकी सारी कथित आक्रामक कार्रवाइयाँ किसी नए वैश्विक युद्ध की पहल करने वाली रणनीतियाँ नहीं रही हैं, इसकी बजाय वे संवेदनशील मोर्चाबन्दियों को मज़बूत करने की कोशिशें ही रही हैं। रूसी उचित ही इस ओर संकेत कर सकते हैं कि 1980 के दशक के बाद के वर्षों तथा 1990 के दशक के शुरुआती वर्षों में उनकी सेनाओं के वापस लौटाने की कार्रवाइयों को पराजित शत्रु की तरह देखा गया था। संयुक्त राज्य अमेरिका और नाटो (नॉर्थ अटलांटिक ट्रीटी ऑर्गनाइज़ेशन) ने रूस की कमज़ोरी का फ़ायदा उठाया, और विपरीत आश्वासनों के बावजूद नाटो के विस्तार में पूर्वी यूरोप, और पूर्व सोवियत गणराज्यों तक को समेट लिया। पश्चिम लगातार मध्य पूर्व में रूस के हितों की अनदेखी करता रहा, उसने सन्देहास्पद बहानों के आधार पर सर्बिया और इराक़ पर हमले किए, और व्यापक तौर पर रूस के सामने यह बात बहुत स्पष्ट कर दी थी कि वह पश्चिमी घुसपैठ से अपने प्रभाव-क्षेत्र का बचाव करने के लिए अपनी ख़ुद की सैन्य-शक्ति पर ही भरोसा कर सकता है। इस परिप्रेक्ष्य से, हाल के वर्षों की रूसी कार्रवाइयों के लिए जितना व्लादिमीर पुतिन को दोषी ठहराया जा सकता है, उतना ही बिल क्लिंटन और जॉर्ज डब्ल्यू बुश को भी ठहराया जा सकता है।

बेशक, जॉर्जिया, उक्रेन और सीरिया में रूसी सैन्य कार्रवाइयाँ अभी भी कहीं ज़्यादा बड़े साम्राज्यवादी अभियान के आरम्भिक धमाके साबित हो सकती हैं। बावजूद इसके कि पुतिन ने अभी तक विश्वविजय की किन्हीं संजीदा योजनाओं के मंसूबे नहीं पाले हैं, तब भी कामयाबी उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को हवा दे सकती है, लेकिन यह याद रखना भी उचित होगा कि पुतिन का रूस स्तालिन के यूएसएसआर के मुक़ाबले बहुत कमज़ोर है, और जब तक मसलन चीन जैसे देश उसके साथ नहीं हो जाते, तब तक वह पूर्ण विकसित विश्वयुद्ध

को तो छोड़ ही दें, एक नए शीत युद्ध को भी नहीं साध सकता। रूस की आबादी 15 करोड़ है और सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) 4 ट्रिलियन डॉलर है। यह अपनी आबादी और उत्पादन दोनों ही मामलों में संयुक्त राज्य अमेरिका (जहाँ की आबादी 32.5 करोड़ और जीडीपी 19 ट्रिलियन डॉलर है) और यूरोपीय यूनियन (जिसकी कुल आबादी 50 करोड़ और जीडीपी 21 ट्रिलियन डॉलर है) के सामने बौना पड़ जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय यूनियन की संयुक्त आबादी रूस से पाँच गुना ज़्यादा है, और उनका सकल घरेलू उत्पाद रूस से दस गुना ज़्यादा है।

हाल ही की प्रौद्योगिकीय घटनाओं ने इस अन्तराल को उससे ज़्यादा बढ़ा दिया है, जितना वह दिखाई देता है। यूएसएसआर बीसवीं सदी के मध्य में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था, जब भारी उद्योग वैश्विक अर्थव्यवस्था की रेल के इंजन हुआ करते थे, और सोवियत केन्द्रीकृत व्यवस्था ने ट्रैक्टरों, ट्रकों, टैंकों और अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के क्षेत्र में श्रेष्ठता हासिल कर ली थी। आज सूचना प्रौद्योगिकी तथा जैवप्रौद्योगिकी भारी उद्योगों से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन वह इनमें से किसी में भी आगे नहीं है, हालाँकि इसके पास साइबर युद्ध की प्रभावशाली क्षमताएँ हैं, लेकिन उसके पास असैनिक आईटी सेक्टर का अभाव है, और इसकी अर्थव्यवस्था ज़बरदस्त ढंग से प्राकृतिक संसाधनों, विशेष रूप से तेल और गैस पर निर्भर है। यह सब मुट्ठी-भर कुलीनों को सम्पन्न बनाने के लिए तो पर्याप्त हो सकती हैं और पुतिन को सत्ता में बनाए रख सकती हैं, लेकिन यह डिजिटल या जैवप्रौद्योगिकीय हथियारों की होड़ में जीतने के लिए नाकाफ़ी है।

इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि पुतिन के रूस के पास किसी सार्वभौमिक विचारधारा का अभाव है। शीत युद्ध के दौरान यूएसएसआर के पास साम्यवाद के वैश्विक आकर्षण, और उसी के साथ-साथ रेड आर्मी की वैश्विक पहुँच का भरोसा हुआ करता था। इसके विपरीत पुतिनवाद के पास क्यूबाइयों, वियतनामियों या फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों को देने लायक़ लगभग कुछ भी नहीं है। निरंकुश राष्ट्रवाद भले ही सचमुच दुनिया में फैल रहा हो, लेकिन यह अपने स्वभाव से ही आन्तरिक तौर पर जुड़ सकने वाले किन्हीं खेमों को स्थापित करने की दृष्टि से अनुकूल नहीं है। जहाँ पोलिश साम्यवाद और रूसी साम्यवाद, दोनों कम-से-कम सैद्धान्तिक तौर पर, सार्वभौमिक हितों और एक अन्तरराष्ट्रीय कामगार वर्ग के प्रति वचनबद्ध थे, वहीं पोलिश राष्ट्रवाद और रूसी राष्ट्रवाद पारिभाषिक तौर पर ही परस्पर-विरोधी हितों के प्रति वचनबद्ध हैं। जैसे ही पुतिन का उत्थान पोलिश राष्ट्रवाद के उभार को भड़काएगा, वैसे ही यह चीज़ पोलैंड को पहले से ज़्यादा रूस-विरोधी बना देगी।

इसलिए रूस ने हालाँकि नाटो और यूरोपीय यूनियन को तोड़ने के उद्देश्य से झूठी ख़बरों और साज़िशों के एक वैश्विक अभियान की शुरुआत की है, लेकिन इसकी कोई सम्भावना दिखाई नहीं देती कि यह भौतिक विजय के किसी वैश्विक अभियान की शुरुआत करने वाला है। आप उम्मीद कर सकते हैं - किसी हद तक वाजिब उम्मीद - कि क्रीमिया

का अधिग्रहण और जॉर्जिया तथा उक्रेन में रूसी घुसपैठें युद्ध के एक नए दौर के अग्रदूत बनने की बजाय बिरले उदाहरण ही बने रहेंगे।

युद्ध जीतने को लुप्त हो चुकी कला

इक्कीसवीं सदी में महाशक्तियों के लिए सफल युद्ध छेड़ पाना इतना मुश्किल क्यों हो गया है? एक कारण तो अर्थव्यवस्था की प्रकृति में आया बदलाव है। अतीत में, आर्थिक परिसम्पत्तियाँ ज़्यादा भौतिक होती थीं, इसलिए युद्ध में विजय हासिल कर ख़ुद को समृद्ध बनाना अपेक्षाकृत सरल उपाय था। अगर आप अपने शत्रु को युद्ध-भूमि में पराजित कर देते थे, तो आप नगरों को लूटकर, उनके नागरिकों को ग़ुलामों के बाज़ार में बेचकर, और गेहूँ के मूल्यवान खेतों और सोने की खदानों पर क़ब्ज़ा करके लाभ कमा सकते थे। रोमनों ने बन्धक बनाए गए ग्रीकों और गॉलों को बेचकर ख़ुद को समृद्ध किया था, और उन्नीसवीं सदी के अमेरिकी कैलिफ़ोर्निया की सोने की खदानों और टैक्सास के पशु-फ़ार्मों पर क़ब्ज़ा कर फले-फूले थे।

लेकिन इक्कीसवीं सदी में इन तरीक़ों से सिर्फ़ क्षुद्र लाभ ही कमाया जा सकता है। आज प्रमुख आर्थिक परिसम्पत्तियों की रचना गेहूँ के खेतों, सोने की खदानों या तेल के क्षेत्रों से नहीं, बल्कि तकनीकी और संस्थानिक ज्ञान से होती है, और ज्ञान को आप युद्ध से तो नहीं ही जीत सकते। उदाहरण के लिए इस्लामिक स्टेट जैसा कोई संगठन नगरों और मध्य पूर्व के तेल के कुँओं को लूटकर समृद्ध हो सकता है। उन्होंने इराक़ के बैंकों से 50 करोड़ डॉलर लूटे थे और 2015 में तेल बेचकर 50 करोड़ अतिरिक्त डॉलर कमाए थे, लेकिन मसलन चीन या संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी एक महाशक्ति के लिए यह बहुत तुच्छ-सी रक़म है। इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि 20 ट्रिलियन से ज़्यादा के सालाना जीडीपी वाला चीन कुछ अरबों की ख़ातिर युद्ध की शुरुआत करे। जहाँ तक संयुक्त राज्य अमेरिका के ख़िलाफ़ युद्ध पर खरबों डॉलर झोंकने का सवाल है, तो चीन इन ख़र्चों को चुकता कैसे करेगा और युद्ध से हुए सारे नुक़सानों तथा बर्बाद हो चुके व्यापारिक अवसरों की भरपाई कैसे करेगा? क्या विजेता पीपल्स लिबरेशन आर्मी सिलिकॉन वैली की सम्पदा को लूटेगी? सही है कि ऐपल, फ़ेसबुक और गूगल जैसे प्रतिष्ठान सैकड़ों अरब डॉलर का मूल्य रखते हैं, लेकिन इस सम्पत्तियों पर आप बलप्रयोग से क़ब्ज़ा नहीं कर सकते। सिलिकॉन वैली में सिलिकॉन की कोई खदानें नहीं हैं।

एक कामयाब युद्ध सैद्धान्तिक तौर पर अभी भी विजेता को वैश्विक व्यापार व्यवस्था को अपने पक्ष में मोड़ने में सक्षम बनाकर भारी लाभ पहुँचा सकता है, जैसा ब्रिटेन ने नेपोलियन को जीतकर किया था और संयुक्त राज्य अमेरिका ने हिटलर पर विजय प्राप्त

कर किया था, लेकिन सैन्य प्रौद्योगिकी के बदलावों ने इक्कीसवीं सदी में इन करतबों को दोहराना मुश्किल बना दिया है। एटम बम ने किसी विश्वयुद्ध में जीत को सामूहिक आत्महत्या में बदल दिया है। यह कोई संयोग नहीं है कि हिरोशिमा के बाद से महाशक्तियों ने सीधे-सीधे एक-दूसरे से कभी युद्ध नहीं किए, और वे केवल उन्हीं टकरावों में उलझीं, जिनमें (उनके सन्दर्भ में) बहुत कम दाँव पर लगा था। वास्तव में, मसलन उत्तर कोरिया जैसी दूसरे दर्ज़े की परमाणु शक्ति पर हमला करना भी एक अत्यन्त अनाकर्षक ख़याल है। यह ख़याल ही ख़ौफ़नाक है कि अगर किम परिवार को सैन्य पराजय का सामना करना पड़ा, तो वह क्या कर सकता है।

साइबर युद्ध स्थितियों को सम्भावित साम्राज्यवादियों के लिए और भी बदतर बना देता है। रानी विक्टोरिया और मैक्सिम बन्दूक़ के पुराने यादगार दिनों में ब्रितानी फ़ौज मैनचेस्टर और बर्मिंघम की शान्ति को ख़तरे में डाले बिना किसी सुदूर रेगिस्तान में फ़ज़ी-वज़ी क़बीलों का नरसंहार कर सकती थी। यहाँ तक कि जॉर्ज डब्ल्यू. बुश के ज़माने तक में संयुक्त राज्य अमेरिका बग़दाद और फ़ल्लुजाह में तबाही मचा सकता था, जबकि इराक़ियों के पास सैन फ़्रांसिस्को या शिकागो के ख़िलाफ़ बदले की कार्रवाई करने का कोई उपाय नहीं था, लेकिन अगर आज संयुक्त राज्य अमेरिका किसी ऐसे मुल्क पर हमला करे, जिसके पास साइबर युद्ध की सीमित क्षमताएँ भी हों, तो उस युद्ध को चन्द मिनिटों के भीतर कैलिफ़ोर्निया या इलिनॉय में लाया जा सकता है। मालवेयर और लॉजिक बम डलास के हवाई यातायात को ठप कर सकते हैं, फ़िलाडेल्फ़िया में ट्रेनों को आपस में भिड़ा सकते हैं, और मिशिगन की विद्युत ग्रिड को ध्वस्त कर सकते हैं।

विजेताओं के महान युग में युद्ध-कौशल कम नुक़सान और ज़्यादा मुनाफ़े का मसला हुआ करता था। 1066 में हैस्टिंग्स की लड़ाई में विलियम द कांकरर ने कुछ हज़ार लोगों की मौत की क़ीमत चुकाकर एक दिन में समूचे इंग्लैंड को हथिया लिया लिया था। इसके विपरीत, परमाणु हथियार और साइबर युद्ध ज़्यादा नुक़सान पहुँचाने वाली और कम मुनाफ़ा देने वाली प्रौद्योगिकियाँ हैं। आप इन औज़ारों का इस्तेमाल पूरे-के-पूरे देशों को नष्ट करने के लिए तो कर सकते हैं, लेकिन इनकी मदद से लाभदायक साम्राज्य खड़े नहीं कर सकते।

इसलिए सैन्य धमकियों और टकरावों से भरती जा रही इस दुनिया में, हमारी शान्ति की सबसे अच्छी गारंटी इस बात में है कि बड़ी शक्तियों को कामयाब युद्धों के हाल ही के उदाहरणों की जानकारी नहीं है। जहाँ चंगेज ख़ाँ या जूलियस सीज़र पलक झपकते किसी बाहरी देश को जीत लेते थे, वहीं मसलन आज के एर्दोगन, मोदी और नेतनयाहू जैसे नेता बातें भले ही बहुत बढ़-चढ़कर करते हैं, लेकिन सचमुच की लड़ाइयाँ छेड़ने के मामले में बहुत सावधानी बरतते हैं। हाँ, अगर इक्कीसवीं सदी की परिस्थितियों के तहत कामयाब लड़ाइयों को छेड़ने का कोई फ़ार्मूला किसी के हाथ लग जाए, तो मुमकिन है नर्क के

दरवाज़े बहुत तेज़ी के साथ खुल जाएँ। यही वह चीज़ है, जो क्रीमिया में रूस की कामयाबी को विशेष रूप से डरावने पूर्वाभास की शक्ल देती है। उम्मीद करना चाहिए कि यह एक अपवाद ही बना रहेगा।

मूर्खता को शोभायात्रा

आह!, इक्कीसवीं सदी में युद्ध भले ही घाटे के सौदे बने रहें, लेकिन इससे हमें शान्ति की पूरी गारंटी मिलने वाली नहीं है। हमें मनुष्य की बेवकूफ़ी को कभी भी कम करके नहीं आँकना चाहिए। मनुष्यों में व्यक्तिगत और सामूहिक, दोनों ही स्तरों पर आत्मघाती गतिविधियों में लिप्त होने की प्रवृत्ति होती है।

1939 में युद्ध धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली और जापान) के लिए सम्भवतः अनुत्पादक चाल थी, लेकिन उसने दुनिया की रक्षा नहीं की। दूसरे विश्वयुद्ध की सबसे ज़्यादा चौंकाने वाली बातें ये हैं कि पराजित शक्तियों ने युद्ध के बाद जितनी समृद्धि हासिल की, उतनी उन्होंने कभी नहीं की थी। उनकी सेनाओं के सम्पूर्ण विनाश और उनके साम्राज्यों के नितान्त ध्वस्त हो जाने के बीस साल बाद जर्मन, इताल्वी और जापानी समृद्धि के अपूर्व स्तरों पर जा पहुँचे थे। तब फिर वे युद्ध में शामिल ही क्यों हुए? उन्होंने असंख्य लाखों लोगों को अनावश्यक मौत और विनाश में क्यों झोंका? यह महज़ एक मूर्खतापूर्ण भूल थी। 1930 के दशक में जापानी जनरल, एडमिरल, अर्थशास्त्री और पत्रकार इस बात पर सहमत थे कि अगर कोरिया, मंचूरिया और चीनी तट को नियन्त्रण में नहीं लिया जाता, तो जापान आर्थिक रूप से निष्क्रिय हो जाने के लिए अभिशप्त होगा। वे सब ग़लत सोच रहे थे। वस्तुतः, जापान के प्रसिद्ध आर्थिक चमत्कार की शुरुआत ही तब हुई थी, जब जापान ने अपने जीते हुए सारे भू-भागों को गँवा दिया था।

मनुष्य की बेवकूफ़ी इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण ताक़तों में से एक है, लेकिन हम अक्सर इसको ख़ारिज़ करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। राजनेता, जनरल और अध्येता दुनिया को शतरंज की एक महान बाज़ी की तरह बरतते हैं, जहाँ हर चाल सावधानी के साथ सोच-विचार कर किए गए आकलनों के बाद चली जाती है। यह किसी हद तक उचित है। इतिहास के बहुत कम नेता ऐसे रहे हैं, जिनको संकुचित अर्थ में पागल कहा जा सकता हो, जो प्यादों और घोड़ों को कहीं भी चल देते हों। जनरल ताजो, सद्दाम हुसैन और किम जोंग-इल ने जो भी चालें चलीं, उनमें से हर चाल का उनके पास तर्कसंगत कारण था। समस्या यह है कि दुनिया शतरंज की बिसात से कहीं ज़्यादा जटिल चीज़ है, और मनुष्य की तर्कबुद्धि वास्तव में इसको समझने में सक्षम नहीं है। इसीलिए बहुत विवेकशील नेता भी अक्सर मूर्खतापूर्ण हरक़तें कर बैठते हैं।

तब हमें किसी विश्वयुद्ध को लेकर कितना डरना चाहिए? सबसे अच्छा है कि हम दो अतियों से बचें। एक ओर, युद्ध निश्चय ही अपरिहार्य नहीं है। शीतयुद्ध का शान्तिपूर्ण समापन साबित करता है कि जब मनुष्य सही फ़ैसले लेते हैं, तो महाशक्तियों के टकरावों को भी शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया जा सकता है। इसके अलावा, यह मानना निहायत ही ख़तरनाक है कि एक नया विश्वयुद्ध अपरिहार्य है। यह स्वयं कार्यान्वित भविष्यवाणी होगी। जैसे ही देश यह मान बैठते हैं कि युद्ध अपरिहार्य है, वैसे ही वे अपनी फ़ौजों को मज़बूत करने लगते हैं, तेज़ी के साथ हथियारों की होड़ शुरू कर देते हैं, किसी भी टकराव पर समझौता करने से इंकार कर देते हैं, और सद्भावपूर्ण चेष्टाओं पर सन्देह करते हुए उनको महज़ जाल में फँसाने की युक्तियों की तरह देखने लगते हैं। इससे युद्ध का भड़क उठना सुनिश्चित हो जाता है।

दूसरी ओर, यह मानना बचकानापन होगा कि युद्ध असम्भव है। अगर युद्ध हर किसी के लिए विनाशकारी भी हो, तो भी कोई देवता और कोई भी कुदरती नियम मनुष्य की बेवकूफ़ी से हमारी रक्षा नहीं कर सकते।

इंसानी बेवकूफ़ी का एक सम्भावित इलाज विनम्रता की एक ख़ुराक है। राष्ट्रीय, मज़हबी और सांस्कृतिक तनाव इस अहंकारपूर्ण अनुभूति से बदतर रूप ले लेते हैं कि मेरा राष्ट्र, मेरा मज़हब और मेरी तहज़ीब दुनिया में सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए मेरे हितों को किसी भी दूसरे के हितों से, या कुल मिलाकर मानव-जाति के हितों से ऊपर होना चाहिए। राष्ट्रों, मज़हबों और तहज़ीबों को हम कुछ ज़्यादा व्यावहारिक और दुनिया में उनकी वास्तविक जगह के सन्दर्भ में कुछ ज़्यादा विनम्र किस तरह बना सकते हैं?

12

विनयशीलता

आप दुनिया के केन्द्र नहीं हैं

ज़्यादातर लोग ऐसा मानने की ओर प्रवृत्त होते हैं कि वे दुनिया का केन्द्र हैं, और उनकी संस्कृति मानव-इतिहास की धुरी की कील है। बहुत-से ग्रीकवासियों का मानना है कि इतिहास की शुरुआत होमर, सोफ़ोक्लीज़ और प्लेटो के साथ हुई थी, और सारे महत्त्वपूर्ण विचारों और ईजादों का जन्म एथेंस, स्पार्टा, अलेक्ज़ेंड्रिया या कांस्टेंटिनोपल में हुआ था। चीनी राष्ट्रवादी तपाक से कह देते हैं कि इतिहास की शुरुआत वास्तव में यलो एम्परर और शा और शेंग राजवंशों के साथ हुई थी, और पाश्चात्य लोगों, मुसलमानों और हिन्दुस्तानियों ने जो कुछ भी हासिल किया है, वह मूल चीनी ईजादों की फीकी नक़ल से ज़्यादा कुछ नहीं है।

ख़ुद को हिन्दुस्तान का मूल निवासी मानने वाले हिन्दू चीनियों के इन दावों को ख़ारिज़ करते हैं, और कहते हैं कि हवाई जहाज और परमाणु बम, आइंस्टाइन और राइट बन्धुओं को तो छोड़ ही दें, कन्फ़्यूशियस और प्लेटो के भी पहले भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीन ऋषियों द्वारा आविष्कृत कर लिए गए थे। मसलन, क्या आप जानते हैं कि ये महर्षि भारद्वाज थे, जिन्होंने रॉकेटों और वायुयानों का आविष्कार किया था, विश्वामित्र ने प्रक्षेपास्त्रों का न सिर्फ़ आविष्कार किया था, बल्कि उनका इस्तेमाल तक किया था, आचार्य कणद अणु सिद्धान्त के जनक थे, और महाभारत में परमाणु अस्त्रों का एकदम ठीक-ठीक वर्णन किया गया है?

मज़हबी मुसलमान पैग़म्बर मोहम्मद के पहले के सारे इतिहास को व्यापक तौर पर बेतुका मानते हैं, और वे मानते हैं कि कुरान के इल्हाम के बाद का सारा इतिहास मुस्लिम *उमाह* (विश्वव्यापी मुस्लिम समुदाय) के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता है। इस मामले में मुख्य

अपवाद तुर्क, ईरानी और मिस्र के राष्ट्रवादी हैं, जो यह मानते हैं कि मोहम्मद साहब के पहले भी उनका अपना देश मनुष्यता की तमाम अच्छाइयों का स्रोत रहा है, और यह कि कुरान के इल्हाम के बाद भी मुख्यतः उनके ही समाज ने इस्लाम की पवित्रता को सुरक्षित रखा है और उसकी महिमा को विस्तार दिया है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि अँग्रेज़, फ़्रांसीसी, जर्मन, अमेरिकी, रूसी, जापानी और अनगिनत दूसरे समुदाय भी इसी तरह यक़ीन करते हैं कि उनके राष्ट्र की वैभवशाली उपलब्धियों के बिना मानव-जाति बर्बर और अनैतिक अज्ञान के युग में रह रही होती। इतिहास में कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कल्पना कर डाली है कि उनकी राजनीतिक संस्थाएँ और मज़हबी आचार भौतिकी के नियमों तक के लिए सारभूत अहमियत रखते हैं। जैसे कि अज़्टेकों का यह दृढ़ विश्वास था कि उनके द्वारा हर साल दी जाने वाली क़ुर्बानियों के बिना सूर्योदय न हुआ होता और सारी सृष्टि विघटित हो गई होती।

ये सारे दावे झूठे हैं। वे इतिहास के प्रति स्वैच्छिक अज्ञान और नस्लवाद के निरे संकेत से ज़्यादा कुछ के मिश्रण के नतीजे हैं। जिस वक़्त इंसानों ने दुनिया को उपनिवेशीकृत किया था, वनस्पतियों और पशुओं को पालतू बनाया था, प्रथम नगर बसाए थे, या लेखन और पैसे का आविष्कार किया था, तब आज के ज़माने के किसी भी मज़हब या राष्ट्र का अस्तित्व नहीं था। नैतिकता, कला, आध्यात्मिकता और सृजनात्मकता मनुष्य की सार्वभौमिक योग्यताएँ हैं, जो हमारे डीएनए में ही अन्तर्निहित हैं। उनकी उत्पत्ति पाषाण युगीन अफ़्रीका में हुई थी। इसलिए अपेक्षाकृत हाल के किसी देश या काल के लिए उनका श्रेय देना मूढ़तापूर्ण अहंकार है, चाहे वह देश-काल यलो एम्परर के ज़माने का चीन हो, प्लेटो के ज़माने का यूनान हो, या मोहम्मद साहब के युग का अरब हो।

व्यक्तिगत तौर पर मैं इस तरह के मूढ़तापूर्ण अहंकार से बहुत अच्छी तरह वाकिफ़ हूँ, क्योंकि मेरे अपने समुदाय के यहूदी भी यही सोचते हैं कि वे दुनिया के सबसे महत्त्वपूर्ण लोग हैं। आप किसी भी मानवीय उपलब्धि या आविष्कार का नाम लें, और वे तुरन्त उसका श्रेय ले लेंगे। और चूँकि मैं उनको क़रीब से जानता हूँ, इसलिए मैं यह भी जानता हूँ कि वे इस तरह के दावों पर ईमानदारी से यक़ीन करते हैं। मैं एक बार इज़रायल में योग के एक गुरु के पास गया, जिसने अपनी पहली ही क्लास में पूरी संजीदगी के साथ बताया कि योग का आविष्कार अब्राहम ने किया था, और योग की सारी बुनियादी मुद्राएँ हिब्रू वर्णमाला के अक्षरों से निकली हैं! (लिहाज़ा त्रिकोणासन हिब्रू अक्षर अलेफ और तुलादण्डासन हिब्रू अक्षर डेल्ड की नक़ल है।) अब्राहम ने इन मुद्राओं की शिक्षा अपनी एक रखैल के बेटे को दी थी, जिसने हिन्दुस्तान जाकर हिन्दुस्तानियों को योग की शिक्षा दी थी। जब मैंने इसका कुछ प्रमाण पेश करने को कहा, तो उस गुरु ने बाइबल के एक हिस्से को उद्धृत किया : “और अब्राहम ने अपनी रखैलों के बेटों को उपहार दिए, और अभी जब वे जीवित ही थे, तो उन्होंने अपने बेटे इसाक को पूरब की दिशा में पूर्वी मुल्क में भेजा था”

(जेनेसिस 25:6)। आप क्या सोचते हैं, ये क्या उपहार थे? इस तरह आप पाते हैं कि योग तक का आविष्कार दरअसल यहूदियों ने किया था।

अब्राहम को योग का आविष्कारक मानना एक साधारण-सी धारणा है, लेकिन यहूदी मज़हब की मुख्यधारा की यह दृढ़ मान्यता है कि समूचे ब्रह्माण्ड का अस्तित्व है ही इसलिए, ताकि यहूदी रब्बी अपनी पवित्र पोथियों का अध्ययन कर सकें, और यह कि अगर यहूदी ऐसा करना बन्द कर देंगे, तो सृष्टि का अन्त हो जाएगा। अगर यरुशलम और ब्रुकलिन के रब्बी तलमूद पर बहस करना बन्द कर दें, तो चीन, हिन्दुस्तान, ऑस्ट्रेलिया और यहाँ तक कि सुदूर आकाशगंगाओं तक का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। यह परम्परावादी यहूदियों की आस्था का एक केन्द्रीय अनुच्छेद है, और जो भी कोई इस पर शक करने की घृष्टता करता है, उसको अज्ञानी मूर्ख माना जाता है। सेक्युलर यहूदी इस अहंकारपूर्ण दावे को लेकर कुछ ज़्यादा शंकालु हो सकते हैं, लेकिन इतना वे भी मानते हैं कि यहूदी लोग इतिहास के केन्द्रीय नायक और मानवीय नैतिकता, आध्यात्मिकता तथा ज्ञान के परम स्रोत हैं।

मेरे समुदाय के लोगों में संख्या और वास्तविक प्रभाव की दृष्टि से जो कमी है, इस तरह की गुस्ताख़ियों के माध्यम से वे उसकी पूर्ति करने से ज़्यादा कुछ करते हैं। चूँकि बाहरी लोगों की आलोचना करने की बजाय अपने लोगों की आलोचना करना ज़्यादा शिष्टाचारपूर्ण रवैया है, इसलिए मैं यहूदी मज़हब का उदाहरण यह दर्शाने के लिए लूँगा कि इस तरह के अहंकारपूर्ण बयान कितने हास्यास्पद होते हैं, और यह ज़िम्मेदारी मैं दुनिया-भर के पाठकों पर छोड़ दूँगा कि वे ही अपने समुदायों द्वारा फुलाए गए इस तरह के गुब्बारों को फोड़ें।

फ़्रायड की माँ

मेरी पुस्तक *सेपियन्स : अ ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ ह्यूमनकाइंड* इज़रायली जनता के लिए मूलतः हिब्रू में लिखी गई थी। 2011 में इसके हिब्रू संस्करण के प्रकाशन के बाद इज़रायली पाठकों द्वारा जो सबसे आम सवाल मुझसे किया गया, वह यह था कि मैंने मानव प्रजाति के अपने इस इतिहास में यहूदी मज़हब का कोई ख़ास ज़िक्र क्यों नहीं किया। मैंने ईसाइयत, इस्लाम और बौद्ध धर्म के बारे में तो इतने विस्तार से लिखा, लेकिन यहूदी मज़हब और यहूदी समाज को थोड़े-से शब्दों में क्यों निपटा दिया? क्या मैंने मानव इतिहास के लिए किए गए उनके योगदान की जानबूझकर उपेक्षा की है? क्या मैं किसी कुटिल राजनीतिक योजना से प्रेरित रहा हूँ?

इस तरह के सवाल उन इज़रायली यहूदियों के मन में सहज ही पैदा होते हैं जिनको किंडरगार्टन से ही इस तरह सोचने की सीख दी गई होती है कि यहूदी मज़हब मानव-इतिहास का सुपरस्टार है। इज़रायली बच्चे आमतौर से विश्व की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की कोई स्पष्ट तसवीर हासिल किए बिना स्कूली शिक्षा के बारह वर्ष पूरे कर लेते हैं। उनको चीन, हिन्दुस्तान या अफ़्रीका के बारे में लगभग कुछ नहीं पढ़ाया जाता, और वे हालाँकि रोमन साम्राज्य, फ़्रांसीसी क्रान्ति और द्वितीय विश्वयुद्ध के बारे में पढ़ते हैं, लेकिन ये एक-दूसरे अलग-थलग पहेली के टुकड़े उनको किसी व्यापक आख्यान तक नहीं ले जाते। इसकी बजाय, इज़रायली शिक्षा-प्रणाली द्वारा दी जाने वाली इतिहास की एकमात्र सुसंगत शिक्षा की शुरुआत हिब्रू के ओल्ड टेस्टामेंट से होती है, जो बीच के दौर में इज़रायल से बाहर रहे विभिन्न यहूदी समुदायों को छोड़ते हुए सेकेंड टैम्पल ईरा तक जारी रहती है, और यहूदीवाद, होलोकॉस्ट (यहूदियों के विनाश), और इज़रायल राज्य की स्थापना पर जाकर समाप्त होती है। ज़्यादातर छात्र इस यक़ीन के साथ स्कूल छोड़ते हैं कि मनुष्य के समूचे क़िस्से का मुख्य कथानक निश्चय ही यही होगा, क्योंकि जब छात्र रोमन साम्राज्य या फ़्रांसीसी क्रान्ति के बारे में सुनते भी हैं, तो कक्षा में होने वाली चर्चा इस पर होती है कि रोमन साम्राज्य ने यहूदियों के साथ किस तरह बर्ताव किया था या इस पर कि फ़्रांसीसी गणराज्य में यहूदियों की राजनीतिक हैसियत क्या हुआ करती थी। इस तरह की ऐतिहासिक ख़ुराक पर पले लोगों को इस विचार को पचाने में बहुत मुश्किल पेश आती है कि दुनिया पर यहूदी मज़हब का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभाव पड़ा है।

लेकिन सच्चाई यही है कि यहूदी मज़हब ने हमारी प्रजाति के इतिहास में सिर्फ़ मामूली भूमिका ही निभाई है। ईसाइयत, इस्लाम और बौद्ध धर्म से भिन्न यहूदी मज़हब हमेशा से ही एक क़बीलाई धर्ममत रहा है। इसके ध्यान के केन्द्र में एक छोटे-से राष्ट्र की नियति और थोड़ी-सी ज़मीन ही रही है, और तमाम दूसरे समाजों और दूसरे देशों की नियति में इसकी बहुत कम दिलचस्पी रही है। उदाहरण के लिए, यह जापान की घटनाओं या भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों की कोई ख़ास परवाह नहीं करता। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि इसकी ऐतिहासिक भूमिका बहुत सीमित रही।

यह निश्चय ही सही है कि यहूदी मज़हब ने ईसाइयत को जन्म दिया, और इस्लाम के जन्म पर प्रभाव डाला, जो इतिहास के दो सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण मज़हब हैं, लेकिन, ईसाइयत और इस्लाम की वैश्विक उपलब्धियों और उन्हीं के साथ-साथ बहुत से गुनाहों के लिए उनके अपराध-बोध का श्रेय यहूदियों को नहीं, बल्कि स्वयं ईसाइयों और मुसलमानों को जाता है। जिस तरह धर्मयुद्धों के दौरान हुई सामूहिक हत्याओं के लिए यहूदी मज़हब को दोषी ठहराना नाजायज़ है (इसके लिए ईसाइयत 100 % गुनहगार है), उसी तरह कोई कारण नहीं है कि यहूदी मज़हब को इस महत्त्वपूर्ण ईसाई धारणा के लिए श्रेय दिया जाए कि ईश्वर के समक्ष सारे मनुष्य समान हैं (एक ऐसी धारणा जो उस यहूदी कट्टर परम्परावाद

के ठीक विपरीत जाती है, जो आज भी इस मान्यता पर अडिग है कि यहूदी जन्मजात रूप से तमाम दूसरे मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं)।

मानव-जाति के क़िस्से में यहूदी मज़हब की भूमिका कुछ-कुछ वैसी ही है, जैसी वह आधुनिक पश्चिम के इतिहास में फ़्रायड की माँ की है। यह ठीक हो या ग़लत, लेकिन आधुनिक पश्चिम के विज्ञान, संस्कृति, कला और लोक-प्रज्ञा पर फ़्रायड का अपरिमित प्रभाव रहा है। यह भी सही है कि फ़्रायड की माँ के बिना हमें फ़्रायड न मिले होते, और फ़्रायड के व्यक्तित्व, महत्त्वाकांक्षाओं और धारणाओं को गढ़ने में अपनी माँ के साथ फ़्रायड के रिश्तों का सम्भवतः काफ़ी हद तक योगदान था - जैसा कि उन्होंने ही इस बात को सबसे पहले स्वीकार किया था, लेकिन जब आधुनिक पश्चिम का इतिहास लिखा जाता है, तो कोई उम्मीद नहीं करता कि उसमें फ़्रायड की माँ पर एक पूरा अध्याय हो। इसी तरह, यहूदी मज़हब के बिना आपको ईसाइयत हासिल न हुई होती, लेकिन जब दुनिया का इतिहास लिखा जाता है, तो यह तथ्य ख़ास महत्त्व का हक़दार नहीं होता। असल मुद्दा यह है कि ईसाइयत ने अपनी यहूदी माँ की विरासत के साथ किया क्या है?

कहना न होगा कि यहूदी कौम विस्मयकारी इतिहास से युक्त एक अनूठी कौम है (हालाँकि, यह ज़्यादातर कौमों के मामले में सही है)। इसी तरह यह भी कहना न होगा कि यहूदी परम्परा गहरी अन्तर्दृष्टियों और गौरवशाली मूल्यों से परिपूर्ण है (हालाँकि यह कुछ सन्देहास्पद धारणाओं, और नस्लपरक, नारी-द्वेषी और समलैंगिक-द्वेषी प्रवृत्तियों से भी भरी हुई है)। यह भी सच है कि यहूदी लोगों ने अपनी संख्या के अनुपात में पिछले 2,000 सालों के इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है, लेकिन जब आप *होमो सेपियन्स* के आविर्भाव के 100,000 वर्षों से ज़्यादा समय के बाद के हमारे इतिहास की वृहत तसवीर पर नज़र डालते हैं, तो यह बात ज़ाहिर होती है कि इतिहास में यहूदी लोगों का बहुत कम योगदान रहा था। मनुष्यों ने यहूदी मज़हब के वजूद में आने के हज़ारों साल पहले समूचे ग्रह को बसा लिया था, कृषि को अपना लिया था, प्रथम नगरों की स्थापना कर ली थी, और लेखन तथा पैसे का आविष्कार कर लिया था।

यहाँ तक कि पिछली दो सहस्राब्दियों में, अगर आप इतिहास को चीनियों या मूल निवासी अमेरिकन इंडियन्स के परिप्रेक्ष्य से देखें, तो ईसाइयों और मुसलमानों की मध्यस्थता की मार्फ़त उनके योगदान के अलावा यहूदियों के किसी बड़े योगदान को लक्ष्य कर पाना मुश्किल है। नतीजतन, हिब्रू ओल्ड टेस्टामेंट अन्ततः वैश्विक मानवीय संस्कृति की आधारशिला इसलिए बन गया, क्योंकि इसे ईसाइयत ने पूरे उत्साह से अपनाया और बाइबल में समाविष्ट किया। इसके विपरीत, तलमूद को ईसाइयत द्वारा नकार दिया गया, हालाँकि उसका महत्त्व यहूदी संस्कृति के लिए ओल्ड टेस्टामेंट से बहुत ज़्यादा है। परिणामतः वह एक ऐसी गूढ़ पोथी बना रहा, जो जापानियों और माया का तो कहना ही क्या, अरबों, पोलैंडवासियों या डचों के लिए भी लगभग अज्ञात बना रहा। (जो कि एक

बड़ी त्रासदी है, क्योंकि तलमूद ओल्ड टेस्टामेंट के मुक़ाबले कहीं अधिक चिन्तनपरक और करुणामय पोथी है।)

क्या आप किसी ऐसी महान कृति का नाम ले सकते हैं, जो ओल्ड टेस्टामेंट से प्रेरित हो? आह! यह आसान हैः माइकल एंजेलों का मूर्तिशिल्प *डेविड,* वर्दी का ऑपेरा *नबुको,* सेसिल बी. डे. मिल की फ़िल्म *द टेन कमांडमेंट्स* । क्या आप ऐसी किसी प्रसिद्ध कृति का नाम बता सकते हैं, जो न्यू टेस्टामेंट से प्रभावित हो? बहुत आसान है : लियोनार्दो का चित्र लास्ट सॅपर, बाख़ की संगीत-रचना सेंट *मैथ्यू पैशॅन,* मोंटी पायथन की फ़िल्म *लाइफ़ ऑफ़ ब्रेन* । अब असली परीक्षा है : क्या आप कुछ ऐसी महान कलाकृतियों की सूची पेश कर सकते हैं, जो तलमूद से प्रेरित हों?

यद्यपि यहूदियों के वे समुदाय, जिन्होंने तलमूद का अध्ययन किया है, अब दुनिया के बड़े हिस्से में फैले हैं, लेकिन उन्होंने चीनी साम्राज्य को खड़ा करने, खोजों की यूरोपीय यात्राओं, लोकतान्त्रिक व्यवस्था को स्थापित करने, या औद्योगिक क्रान्ति में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई। सिक्का, विश्वविद्यालय, संसद, बैंक, कम्पास, छापाख़ाना और भाप का इंजन, सब के सब ग़ैर-यहूदियों द्वारा आविष्कृत किए गए थे।

बाइबल के पहले की नैतिकी

इज़रायली अक्सर 'तीन महान मज़हब' पद का इस्तेमाल करते हैं, तो यह सोचकर करते हैं कि ये मज़हब हैं, ईसाइयत (2.3 अरब अनुयायी), इस्लाम (1.8 अरब अनुयायी) और यहूदी मज़हब (1.5 करोड़ अनुयायी)। शिन्तो (5 करोड़ अनुयायी) और सिख धर्म (2.5 करोड़ अनुयायी) की बात तो छोड़ ही दें, एक अरब आस्थावानों वाले हिन्दू धर्म, और 50 करोड़ अनुयायियों वाले बौद्ध धर्म भी इस मानक पर खरे नहीं उतरते। इज़रायलियों के मन में 'तीन महान मज़हबों' की इस विकृत अवधारणा का अभिप्राय अक्सर यह होता है कि सारी बड़ी मज़हबी और नैतिक परम्पराएँ यहूदी मज़हब के गर्भ से उत्पन्न हुई हैं, जो कि सार्वभौमिक नैतिक विधानों की शिक्षा देने वाला पहला मज़हब था। मानो अब्राहम और मूसा से पहले के युगों में मनुष्य किसी तरह की नैतिक प्रतिबद्धताओं के बिना प्रकृति की हॉब्सियाई अवस्था में रहते थे, और मानो सारी-की-सारी समकालीन नैतिकता का स्रोत टेन कमांडमेंट्स है। यह एक बेबुनियाद और अहंकारी धारणा है, जो दुनिया की बहुत-सी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नैतिक परम्पराओं की उपेक्षा करती है।

अब्राहम के दसियों-हज़ारों साल पहले पाषाण युग के शिकारी-संग्रहकर्ता क़बीलों की नैतिक विधि-संहिताएँ हुआ करती थीं। जब अठारहवीं सदी के बाद के वर्षों में यूरोप के पहले उपनिवेशवादी ऑस्ट्रेलिया पहुँचे थे, तो उनका सामना ऐसे मूल-निवासी क़बीलों से

हुआ, जिनके पास मूसा, ईसा और मोहम्मद से पूरी तरह अनभिज्ञ होने के बावजूद एक सु-विकसित नैतिक विश्वदृष्टि थी। यह तर्क देना मुश्किल होगा कि स्थानीय निवासियों को हिंसक ढंग से बेदख़ल करने वाले ईसाई उपनिवेशवादियों ने किन्हीं श्रेष्ठ नैतिक मानदण्डों का परिचय दिया था।

आज के ज़माने के वैज्ञानिक इस ओर ध्यान दिलाते हैं कि दरअसल, नैतिकता की गहरी विकासपरक जड़ें हैं, जिनका अस्तित्व मानव-जाति के अभ्युदय से लाखों वर्ष पहले से रहा है। सारे सामाजिक स्तनधारियों, जैसे कि भेड़ियों, डॉल्फ़िनों और बन्दरों की नैतिक संहिताएँ हैं, जो सामूहिक सहकार को प्रोत्साहित करने के लिए विकास की प्रक्रिया में अनुकूलित किए गए हैं। उदाहरण के लिए, जब भेड़ियों के शावक एक-दूसरे के साथ खेलते हैं, तो उनके 'वाजिब खेल' के नियम होते हैं। अगर कोई शावक ज़्यादा ज़ोर-से काट लेता है, या अपने किसी ऐसे प्रतिद्वन्द्वी को काटना जारी रखता है, जो अपनी पीठ के बल लेट गया होता है और आत्मसमर्पण कर चुका होता है, तो दूसरे शावक उसके साथ खेलना बन्द कर देते हैं।

चिम्पांज़ियों के झुण्डों में वर्चस्वशाली सदस्यों से कमज़ोर सदस्यों के सम्पत्ति के अधिकारों का सम्मान करने की अपेक्षा की जाती है। अगर किसी कम उम्र की मादा चिम्पांज़ी को एक केला मिल जाता है, तो प्रधान नर भी आमतौर से उससे वह केला छीनने से बचेगा। अगर वह इस नियम को तोड़ता है, तो इस बात की पूरी सम्भावना होती है कि वह अपनी हैसियत खो दे। वानर-प्रजाति के प्राणी न सिर्फ़ समूह के कमज़ोर सदस्यों का नाजायज़ फ़ायदा उठाने से बचते हैं, बल्कि कभी-कभी सक्रिय रूप से उनकी मदद भी करते हैं। किडोगो नामक एक बौना चिम्पांज़ी नर, जो मिल्वॉकी काउंटी चिड़ियाघर में रहता था, हृदय की गम्भीर बीमारी का शिकार था, जिसने उसको अशक्त और सम्भ्रमित बना दिया था। जब वह पहली बार उस चिड़ियाघर में आया था, तो न तो उसको दिशा-ज्ञान था, न ही वह चिड़ियाघर की देखभाल करने वाले व्यक्तियों के निर्देशों को समझ पाता था। वे लोग अक्सर किडोगो का हाथ पकड़ते थे, और वह जहाँ भी जाना चाहता था, उसको वहाँ ले जाते थे। अगर किडोगो भटक जाता था, तो वह ऊँची आवाज़ में पुकारकर संकट में होने के संकेत देता था, और कुछ वानर उसकी मदद के लिए भागते थे।

किडोगो के मुख्य मददगारों में से एक झुण्ड का सर्वोच्च श्रेणी का नर लोडी भी था, जो किडोगो को न सिर्फ़ मार्गदर्शन देता था, बल्कि उसकी रक्षा भी करता था। जहाँ समूह के लगभग सारे सदस्य किडोगो के साथ दया से परिपूर्ण व्यवहार करते थे, वहीं मर्फ़ नामक एक किशोर चिम्पांज़ी अक्सर उसको बेरहमी के साथ छेड़ता था। जब लोडी का ध्यान इस ओर जाता था, तो वह ऐसी गुण्डागर्दी करने वाले को दूर खदेड़ देता था, या किडोगो के बचाव में उसको अपनी बाँह से घेर लेता था।

इससे भी ज़्यादा मार्मिक प्रकरण आइवरी कोस्ट के जंगलों में घटित हुआ था। जब ऑस्कर के नाम से पुकारे जाने वाले एक नौजवान चिम्पांज़ी ने अपनी माँ को खो दिया, तो उसने अपने बूते जीवित बने रहने का संघर्ष किया। कोई भी दूसरी मादा उसको अपनाने और पालने को तैयार नहीं थी, क्योंकि उनके सिर पर अपने ही बच्चों पालने का बोझ था। ऑस्कर का वज़न, स्वास्थ्य और ऊर्जा धीरे-धीरे घटने लगी, लेकिन जब कोई रास्ता नहीं बचा, तो ऑस्कर को उस झुण्ड के मुखिया नर, फ़्रेडी द्वारा 'गोद ले लिया' गया। यह मुखिया इस बात का पूरा ख़याल रखता था कि ऑस्कर ठीक-से खाए-पिए, और वह उसको अपनी पीठ पर बैठाकर घुमाता तक था। आनुवंशिक परीक्षणों ने इस बात को साबित किया कि फ़्रेडी ऑस्कर का रिश्तेदार नहीं था। हम इस बारे में सिर्फ़ अटकल ही लगा सकते हैं कि वह क्या चीज़ थी, जिसने उस कठोर बुज़ुर्ग नेता को इस यतीम बच्चे को पालने के लिए प्रोत्साहित किया था, लेकिन समझा जाता है कि वानर नेताओं ने दयनीय, ज़रूरतमन्द और पिता-हीनों की मदद करने की प्रवृत्ति उसके लाखों साल पहले विकसित कर ली थी, जब बाइबल ने प्राचीन इज़रायल-वासियों को निर्देश दिया था कि उनको 'किसी विधवा या पिता-हीन बच्चे के साथ दुर्व्यवहार' नहीं करना चाहिए (एक्सोडस 22:21), और जब पैग़म्बर एमॉस ने उस सामाजिक कुलीन वर्ग के ख़िलाफ़ शिकायत की थी 'जो ग़रीबों का दमन करते हैं और ज़रूरतमन्दों के लिए कुचलते हैं' (एमॉस 4:1)।

यहाँ तक कि प्राचीन मध्यपूर्व में रहने वाले *होमो सेपियन्स* के बीच भी बाइबल के पैगम्बर अपूर्व नहीं थे। 'आपको हत्या नहीं करनी चाहिए' और 'आपको चोरी नहीं करनी चाहिए' के उपदेशों से सुमेरियाई नगर-राज्य, फ़ैरो के मिस्र और बेबिलॉन के साम्राज्य की विधि-संहिताएँ और नैतिक-संहिताएँ भलीभाँति परिचित थीं। विश्राम के नियतकालिक दिनों का विधान यहूदी सैबथ से पहले से रहा है। पैग़म्बर एमॉस द्वारा इज़रायली कुलीन वर्ग को उनके दमनशील व्यवहार के लिए फटकार लगाए जाने के एक हज़ार साल पहले बेबिलोनियाई राजा हम्मूरबी ने स्पष्ट किया था कि महान देवताओं ने उसको 'देश के भीतर न्यायपूर्ण व्यवहार करने, बुराई और दुराचरण का विनाश करने, ताक़तवर को कमज़ोर का शोषण करने से रोकने का निर्देश दिया था'।

इस बीच मिस्र में - मूसा के जन्म के सदियों पहले - लिपिकों ने 'वाचाल किसान की कहानी' लिख डाली थी, जो उस ग़रीब किसान के बारे में बताती है जिसकी सम्पत्ति एक लालची भूमिपति द्वारा छीन ली गई थी। वह किसान अपनी फ़रियाद लेकर फ़ैरो के भ्रष्ट अधिकारियों के पास गया, और जब वे उसकी रक्षा करने में विफल रहे, तो उसने उनको यह समझाना शुरू कर दिया कि क्यों उनको इंसाफ़ मुहैया कराना चाहिए और ख़ासतौर से ग़रीबों की अमीरों से रक्षा करनी चाहिए। एक बहुरंगी रूपक-कथा में, इस मिस्रवासी किसान ने समझाया था कि ग़रीब की थोड़ी-सी सम्पत्तियाँ उनकी साँस जैसी होती हैं, और सरकारी तन्त्र का भ्रष्टाचार उनके नथुनों को मूँदकर, उनका दम घोंट देता है।

बाइबल के बहुत-से विधान उन नियमों की नक़ल हैं, जो इज़रायल में जूडा के राज्य की स्थापना के सदियों ही नहीं, बल्कि हज़ारों साल पहले मेसोपोटेमिया, मिस्र और कैनान में स्वीकृत थे। अगर बाइबल के यहूदी मज़हब ने इन विधियों को कोई अनूठा मोड़ दिया, तो वह यह था कि उसने उनको तमाम मनुष्यों पर लागू होने वाले नियमों की जगह मुख्यतः यहूदी समुदाय पर लागू होने वाली क़बाइली संहिताओं में बदल दिया। यहूदी नैतिकता शुरू में एक पूरी तरह से क़बाइली मामले के रूप में गढ़ी गई थी, और वह किसी हद तक आज भी वैसी ही बनी हुई है। ओल्ड टेस्टामेंट, तलमूद और बहुत-से (हालाँकि, सभी नहीं) रब्बी यह मानते थे कि एक यहूदी का जीवन किसी ग़ैर-यहूदी के जीवन से ज़्यादा मूल्यवान है, इसीलिए, मसलन, यहूदियों को किसी यहूदी को मौत से बचाने के लिए सैबथ को दूशित करने की इजाज़त है, लेकिन महज़ किसी ग़ैर-यहूदी को बचाने के लिए इसकी सख़्त मनाही है (बेबिलोनियाई तलमूद, योमा 84:2)।

कुछ यहूदी सन्तों का तर्क था कि यह सुप्रसिद्ध धर्मादेश कि 'अपने पड़ोसी से उसी तरह स्नेह करो, जिस तरह ख़ुद से करते हो' तक सिर्फ़ यहूदियों की ओर संकेत करता है, और ग़ैर-यहूदियों को स्नेह करने का कोई धर्मादेश नहीं है। सचमुच, लेविटिकस का मूल मज़मून कहता है : 'अपने लोगों के बीच किसी तरह की बदले या शत्रुता की भावना मत रखो, बल्कि अपने पड़ोसी को उसी तरह स्नेह करो जिस तरह ख़ुद से करते हो' (लेविटिकस 19:18), जिससे यह सन्देह पैदा होता है कि 'अपने पड़ोसी' सिर्फ़ 'अपने लोगों' की ओर संकेत करता है। इस सन्देह को बहुत ज़्यादा बल इस बात से मिला है कि बाइबल यहूदियों को कुछ ख़ास समुदायों, जैसे कि अमालिक़ों और कनानियों का सम्पूर्ण विनाश कर देने का धर्मादेश देता है : 'एक भी इंसान को ज़िन्दा मत छोड़ो', पवित्र ग्रन्थ आदेश देता है, 'उनको पूरी तरह नष्ट कर दो - हिटाइटों, अमोराइटों, कनानियों, पेरिज़ाइटों, हिवीइटों और जेबुसाइटों को - जैसा कि मालिक यानी तुम्हारे ईश्वर ने तुम्हें धर्मादेश दिया है' (ड्युटेरॉनिमी 20:16-17)। ये मानव इतिहास के पहले दस्तावेज़ीकृत उदाहरण हैं, जहाँ जातिसंहार को एक बन्धनकारी मज़हबी कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

ये सिर्फ़ ईसाई ही थे, जिन्होंने यहूदी नैतिक संहिता के कुछ हिस्सों को चुनकर उनको सार्वभौमिक धर्मादेशों में बदल दिया और उनको सारी दुनिया में फैला दिया। सचमुच, ईसाइयत ठीक इसी वज़ह से यहूदी मज़हब से अलग हुई थी। जहाँ बहुत-से यहूदी आज दिन तक ऐसा मानते हैं कि तथाकथित 'चुनिन्दा लोग' दूसरे राष्ट्रों की तुलना में ईश्वर के ज़्यादा क़रीब हैं, वहीं ईसाइयत के संस्थापक सेंट पॉल द अपासल ने अपने प्रसिद्ध इपिसल टु द गैलेशियन्स में प्रतिज्ञा की थी कि 'न तो कोई यहूदी है न ग़ैर-यहूदी, न कोई ग़ुलाम है न कोई आज़ाद है, और न ही कोई नर या मादा है, क्योंकि ईसा मसीह में तुम सब एक हो' (गैलेशियन्स 3:28)।

और हमें एक बार फिर इस बात पर बल देना चाहिए कि ईसाइयत के अपरिमित प्रभाव के बावजूद, यह पहली बार नहीं था, जब किसी मनुष्य ने सार्वभौमिक नैतिकता की शिक्षा दी थी। बाइबल दूर-दूर तक मानवीय नैतिकता का कुण्ड नहीं है (और उसमें निहित बहुत-से नस्लपरक, नारी-द्वेषी और समलैंगिकता-भीरु प्रवृत्तियों को देखते हुए, यह सौभाग्य की बात ही है)। कन्फ़्यूशियस, लाओज़ी, बुद्ध और महावीर ने कैनान या इज़रायल के पैग़म्बरों के बारे में किसी तरह की जानकारी के बग़ैर पॉल और ईसा के बहुत पहले सार्वभौमिक नैतिक संहिताओं को स्थापित कर दिया था। कन्फ़्यूशियस ने यह सीख कि हमें दूसरों से उसी तरह स्नेह करना चाहिए जिस तरह हम स्वयं को करते हैं, उसके 500 साल पहले दी थी, जब रब्बी हिलेल द एल्डर ने इसे टोरा का मूल तत्व बताया था। और जिस वक़्त यहूदी मज़हब पशुओं की बलि और मनुष्यों की सम्पूर्ण आबादी के संहार का अधिकार दे रहा था, तब बुद्ध और महावीर अपने अनुयायियों को न सिर्फ़ सारे मनुष्यों को, बल्कि कीड़ों समेत किसी भी चेतन सत्ता को नुक़सान पहुँचाने से बचने का निर्देश दे रहे थे। इसलिए यहूदी मज़हब और उसकी सन्तानों, ईसाइयों और मुसलमानों को मानवीय नैतिकता की सृष्टि का श्रेय देने का कोई अर्थ नहीं है।

धर्मान्धता का जन्म

तब फिर एकेश्वरवाद के बारे में क्या कहा जाए? क्या कम-से-कम एकमात्र ईश्वर में आस्था की अगुवाई करने के लिए यहूदी मज़हब विशेष सराहना का पात्र नहीं है, एक ऐसा ईश्वर, जिसकी दुनिया में अन्यत्र कहीं भी कोई मिसाल नहीं थी (भले ही पृथ्वी के चारों कोनों में इस आस्था का प्रचार यहूदियों से ज़्यादा ईसाइयों और मुसलमानों ने किया)? हालाँकि, हम इसकी भी नुक़्ताचीनी कर सकते हैं, क्योंकि एकेश्वरवाद का पहला स्पष्ट प्रमाण ईसापूर्व 1350 के आसपास फ़ैरो अख़्नातेन की मज़हबी क्रान्ति में मिलता है, और मसलन मेशा स्टेलिए नामक शिलालेख (जिसे मोआबी सम्राट मेशा ने स्थापित किया था) जैसे दस्तावेज़ संकेत करते हैं कि बाइबल-युगीन इज़रायल का मज़हब मोआब जैसे उसके पड़ोसी राज्यों के मज़हब से भिन्न नहीं था। मेशा अपने महान देवता कीमोश का वर्णन लगभग उस तरह करता है, जिस तरह ओल्ड टेस्टामेंट यावे का वर्णन करता है, लेकिन यहूदी मज़हब द्वारा दुनिया के लिए एकेश्वरवाद का योगदान किए जाने की धारणा के साथ असल समस्या यह है कि यह कोई ऐसी धारणा नहीं है, जिस पर गर्व किया जाए। नैतिकी के सन्दर्भ में, एकेश्वरवाद निस्सन्देह मानवीय इतिहास की सबसे निकृष्ट अवधारणाओं में से एक है।

मनुष्य के नैतिक स्तरों में सुधार लाने के लिए एकेश्वरवाद ने कोई ख़ास योगदान नहीं किया। क्या आपको वाक़ई लगता है कि मुसलमान स्वाभाविक रूप से हिन्दुओं से ज़्यादा

नैतिक हैं, महज़ इसलिए कि मुसलमान एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, जबकि हिन्दू बहुत-से देवताओं में विश्वास करते हैं? क्या ईसाई विजेता अमेरिका के मूल निवासी पेगन क़बीलों से ज़्यादा नैतिक थे? जो काम एकेश्वरवाद ने निस्सन्देह किया, वह यह था कि उसने बहुत-से लोगों को पहले से ज़्यादा असहिष्णु बनाया, और इस तरह मज़हबी उत्पीड़नों और धर्मयुद्धों के विस्तार में योगदान किया। बहुदेववादी इस बात को पूरी तरह से स्वीकार्य मानते हैं कि विभिन्न लोग विभिन्न देवताओं की उपासना करें और विभिन्न अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों का पालन करें। उन्होंने महज़ अपनी धार्मिक आस्थाओं की वज़ह से शायद ही कभी लड़ाइयाँ की हों, अत्याचार किए हों, या लोगों की हत्याएँ की हों। इसके विपरीत एकेश्वरवादी यह मानते थे कि उनका ईश्वर ही एकमात्र देवता है, और वह सार्वभौमिक आज्ञाकारिता की माँग करता है। परिणामतः, जैसे-जैसे ईसाइयत और इस्लाम सारी दुनिया में फैलते गए, वैसे-वैसे धर्मयुद्ध, जिहाद, धर्मपरीक्षण और धार्मिक पक्षपात भी फैलते गए।

उदाहरण के लिए, ईसा पूर्व तीसरी सदी के भारत के सम्राट अशोक के रवैये की तुलना रोमन साम्राज्य के ईसाई सम्राटों से करें। सम्राट अशोक अनगिनत धर्मों, पन्थों और गुरुओं से भरे साम्राज्य पर शासन कर रहा था। उसने स्वयं को 'देवानाम प्रियः' और 'सब लोगों को प्रिय समझने वाला' की उपाधियाँ दे रखी थीं। ईसापूर्व 250 के आस-पास कभी उसने सहिष्णुता का एक शाही फ़रमान जारी किया था, जिसमें घोषणा की गई थी :

> देवानाम प्रियः सम्राट जो सब लोगों को प्रिय समझता है, वह सारे धर्मों के संन्यासियों और गृहस्थों, दोनों का सम्मान करता है... और इस बात को महत्त्व देता है कि सारे धर्मों के आधारभूत तत्वों का विकास होना चाहिए। इन आधारभूत तत्वों का विकास विभिन्न तरीक़ों से किया जा सकता है, लेकिन उन सभी में मूलतः वाणी का संयम होना आवश्यक है, यानी, अपने धर्म की सराहना न करना, या हित के किसी ध्येय के बिना दूसरों के धर्म की निन्दा न करना...जो भी कोई अतिशय भक्तिभाव के कारण अपने धर्म की सराहना करता है, और दूसरे के धर्म की यह सोचकर निन्दा करता है कि 'मुझे अपने धर्म की महिमा का बखान करना चाहिए', वह अपने ही धर्म की हानि करता है। इसलिए धर्मों के बीच सम्पर्क शुभ है। हमें दूसरों द्वारा प्रचारित धर्मसिद्धान्तों को सुनना चाहिए और उनका सम्मान करना चाहिए। देवानाम प्रियः, सम्राट जो सब लोगों को प्रिय समझता है, आकांक्षा करता है कि सभी लोगों को दूसरे धर्मों के सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

पाँच सौ साल बाद पूर्व रोमन साम्राज्य उतना ही विविधताओं से भरा था, जितना अशोक का भारत था, लेकिन जब ईसाइयत ने उसे सँभाला, तो उसके सम्राटों ने धर्म के प्रति

बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। कॉन्स्टेन्टीन द ग्रेट और उसके बेटे कॉन्स्टेन्टियस II के साथ ही सारे सम्राटों ने सारे ग़ैर-ईसाई पूजा-स्थलों को बन्द करवा दिया और तथाकथित 'पेगन' अनुष्ठानों को वर्जित करते हुए उनके लिए मौत की सज़ा का कारण घोषित कर दिया। सम्राट थियोडोसियस - जिसके नाम का मतलब है 'ईश्वर-प्रदत्त' - के काल में यह उत्पीड़न अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था, जिसके द्वारा 391 में जारी किए गए थियोडोसियाई फ़रमान ने ईसाइयत और यहूदी मज़हब के अलावा सारे मज़हबों को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया था (यहूदी मज़हब पर भी कई तरह से अत्याचार किए जाते थे, लेकिन उसका पालन क़ानूनी बना रहा)। इन नए क़ानूनों के मुताबिक़ किसी व्यक्ति को अपने घर के भीतर भी ज्युपिटर या मिथ्रास की उपासना करने पर मृत्युदण्ड दिया जा सकता था। साम्राज्य को सारी विधर्मी विरासत से मुक्त करते हुए उसका शुद्धिकरण करने की इस मुहिम के हिस्से के तौर पर ईसाई सम्राटों ने ओलम्पिक खेलों का भी दमन किया। एक हज़ार साल से भी ज़्यादा समय तक जश्न के साथ आयोजित किए जाने के बाद अन्तिम प्राचीन ओलम्पियाड चौथी सदी के आख़िर में या आरम्भिक पाँचवीं सदी के आस-पास कभी आयोजित किया गया था।

बेशक, सारे-के-सारे एकेश्वरवादी शासक थियोडोसियस जितने असहिष्णु नहीं थे, जबकि बहुत-से शासकों ने अशोक जैसी उदार नीतियों को अपनाए बिना ही एकेश्वरवाद को नकार दिया था। तब भी, इस बात पर ज़ोर देते हुए कि 'हमारे ईश्वर के अलावा और कोई ईश्वर नहीं है' एकेश्वरवादी विचार धर्मान्धता को प्रोत्साहित करने की ओर प्रवृत्त हुआ। यहूदियों ने इस ख़तरनाक प्रवृत्ति को फैलाने में अपनी भूमिका को कम बनाए रखा। उन्होंने ईसाइयों और मुसलमानों को इसके लिए ज़िम्मेदार बनने दिया।

यहूदी भौतिकी, ईसाई जैविकी

सिर्फ़ उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में ही हम यहूदियों को, आधुनिक विज्ञान में उनकी विस्तृत भूमिका के माध्यम से, सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए असाधारण योगदान करते देखते हैं। आइंस्टाइन और फ़्रायड जैसे सुविख्यात नामों के अतिरिक्त नोबेल पुरस्कार जीतने वाले सारे वैज्ञानिकों में से 20 % वैज्ञानिक यहूदी रहे हैं, हालाँकि विश्व की कुल आबादी का 0.2 % हिस्सा ही यहूदी है। लेकिन इस बात पर ज़ोर दिया जाना ज़रूरी है कि यह एक मज़हब या संस्कृति के रूप में यहूदी मज़हब का नहीं, बल्कि यहूदी व्यक्तियों का योगदान रहा है। पिछले 200 वर्षों में सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यहूदी वैज्ञानिक यहूदी मज़हबी क्षेत्र के बाहर सक्रिय रहे हैं। सच तो यह है कि यहूदियों ने विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान की शुरुआत तभी की, जब उन्होंने प्रयोगशालाओं के पक्ष में येशिवाओं

(वे शिक्षा-संस्थान, जहाँ मुख्यतः यहूदी धर्मग्रन्थ तलमूद का अध्ययन किया जाता है) को त्याग दिया।

1800 से पहले तक विज्ञान पर यहूदी प्रभाव सीमित था। यह स्वाभाविक ही है कि चीन में, हिन्दुस्तान में या माया सभ्यता में यहूदियों ने विज्ञान की प्रगति में कोई ख़ास उल्लेखनीय भूमिका नहीं निभाई। यूरोप और मध्य पूर्व में मैमोनाइड्स जैसे कुछ यहूदी चिन्तकों का उनके ग़ैर-यहूदी सहकर्मियों पर ख़ासा प्रभाव रहा, लेकिन समग्रतः यहूदी प्रभाव कमोबेश उनकी जनसंख्या के अनुपात में ही रहा। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों के दौरान यहूदी मज़हब ने वैज्ञानिक क्रान्ति के विस्फोट में कोई ख़ास भूमिका नहीं निभाई। अगर स्पिनोज़ा को छोड़ दें (जिनको उनके द्वारा पैदा की गई मुश्किलों की वज़ह से यहूदी समुदाय द्वारा समाज-बहिष्कृत कर दिया गया था), तो आप शायद ही ऐसे किसी एक यहूदी का नाम ले सकें, जो आधुनिक भौतिकी, रसायन-शास्त्र, जीवविज्ञान या समाजविज्ञानों के उदय के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण रहा हो। हम नहीं जानते कि गैलेलियो और न्यूटन के ज़माने में आइंस्टाइन के पूर्वज क्या कर रहे थे, लेकिन पूरी सम्भावना है कि वे प्रकाश का अध्ययन करने की बजाय तलमूद का अध्ययन करने में ज़्यादा दिलचस्पी लेते रहे होंगे।

महान परिवर्तन उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में जाकर ही घटित हुआ, जब सेक्युलराइज़ेशन और यहूदी ज्ञानोदय की वज़ह से बहुत-से यहूदियों ने अपने ग़ैर-यहूदी पड़ोसियों की विश्वदृष्टि और जीवन-शैली अपनाई। इसके बाद ही यहूदियों ने विश्वविद्यालयों और जर्मनी, फ़्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों के अनुसन्धान-केन्द्रों में दाख़िला लेना शुरू किया। यहूदी अध्येता घेटो (यहूदी बस्तियों) और श्टेटलों (यहूदी नगरों) से महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विरासतें लेकर आए थे। यहूदी वैज्ञानिकों की असाधारण सफलता की मुख्य वज़ह यह थी कि यहूदी संस्कृति में शिक्षा का केन्द्रीय मूल्य था। इसके दूसरे कारकों में उत्पीड़ित अल्पसंख्यकों की अपनी क़ाबिलियत साबित करने की आकांक्षा, और वे अवरोध शामिल थे, जिन्होंने प्रतिभाशाली यहूदियों को सेना और राज्य-प्रशासन जैसी उन संस्थाओं में प्रगति करने से रोका था, जो ज़्यादा यहूदी-विरोधी रही थीं।

लेकिन जहाँ यहूदी वैज्ञानिक येशिवाओं से अपने साथ ज़बरदस्त अनुशासन और ज्ञान के मूल्य में गहरी आस्था लेकर आए, वहीं वे ठोस विचारों और अन्तर्दृष्टियों का कोई ऐसा सामान नहीं लाए, जो मददगार होता। आइंस्टाइन यहूदी थे, लेकिन सापेक्षता का सिद्धान्त 'यहूदी भौतिकी' नहीं था। टोरा की पवित्रता में आस्था का इस अन्तर्दृष्टि से क्या सम्बन्ध है कि ऊर्जा, द्रव्य (मास) के साथ प्रकाश की घनाकार गति के गुणनफल के बराबर होती है? तुलना की ख़ातिर बात करें तो डार्विन एक ईसाई थे और और उन्होंने एंग्लिकन पादरी बनने के उद्देश्य से कैम्ब्रिज में पढ़ाई तक शुरू कर दी थी, लेकिन क्या इससे यह मतलब

निकलता है कि विकासवाद का सिद्धान्त एक ईसाई सिद्धान्त है? सापेक्षता के सिद्धान्त को मानव-जाति के लिए यहूदी योगदान की तरह दर्ज़ करना उसी तरह हास्यास्पद है, जिस तरह विकासवाद के सिद्धान्त का श्रेय ईसाइयत को देना हास्यास्पद है।

इसी तरह, ट्ज़ि हैबर (रसायनशास्त्र में नोबेल पुरस्कार, 1918) द्वारा अमोनिया संश्लेषण की प्रक्रिया के आविष्कार में कोई विशेष यहूदीपन देखना मुश्किल है, सेलमैन वॉक्समेन (फ़िज़ियोलॉजी या मेडीसन में नोबेल पुरस्कार, 1952) द्वारा स्ट्रेप्टोमाइसिन एंटीबॉयोटिक्स की खोज में कोई विशेष यहूदीपन देखना मुश्किल है, या डैन शेट्टमैन (रसायनशास्त्र में नोबेल पुरस्कार, 2011) द्वारा क़्वासीक्रिस्टल्स की खोज में कोई विशेष यहूदीपन देखना मुश्किल है। मानविकी और समाजविज्ञानों के क्षेत्र के अध्येताओं, जैसे कि फ़्रायड के प्रकरण में उनकी यहूदी विरासत का उनकी अन्तर्दृष्टियों पर सम्भवतः अधिक गहरा प्रभाव था, लेकिन इन प्रकरणों में भी विच्छिन्नता जीवित कड़ियों के मुक़ाबले ज़्यादा स्पष्ट है। इंसानी मानस के बारे में फ़्रायड के दृष्टिकोण रब्बी जोसेफ़ कारो या रब्बी योचनन बेन ज़काई के दृष्टिकोणों से बहुत भिन्न थे, और इन लोगों ने शुलहन अरुख़ (यहूदी विधि-संहिता) का बारीक़ी-से अनुशीलन करते हुए इडिपस कॉम्प्लेक्स की खोज नहीं की थी।

संक्षेप में, यद्यपि ज्ञानार्जन पर दिए गए यहूदियों के बल ने सम्भवतः यहूदी वैज्ञानिकों की असाधारण सफलता में महत्त्वपूर्ण योगदान किया, लेकिन ये ग़ैर-यहूदी चिन्तक ही थे, जिन्होंने आइंस्टाइन, हैबर, और फ़्रायड की उपलब्धियों के लिए नींव तैयार की। वैज्ञानिक क्रान्ति कोई यहूदी परियोजना नहीं थी, और यहूदियों ने इसमें अपनी जगह तब बनाई, जब वे येशिवाओं से निकलकर विश्वविद्यालयों में गए। सच तो यह है कि प्राचीन पोथियों को पढ़कर सारे सवालों का जवाब खोजने की यहूदी आदत आधुनिक विज्ञान की दुनिया में यहूदियों के घुलने-मिलने में एक अहम रुकावट रही है, जहाँ जवाब पर्यवेक्षणों और प्रयोगों से हासिल होते हैं। अगर स्वयं यहूदी मज़हब में कोई ऐसी चीज़ होती, जो अनिवार्यतः वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर ले जाने वाली होती, तो क्या कारण है कि 1905 और 1933 के बीच दस धर्मनिरपेक्ष जर्मन यहूदियों ने रसायनशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान और भौतिकी में नोबेल पुरस्कार जीते, लेकिन इसी अवधि के दौरान एक भी उग्र-परम्परावादी यहूदी या एक भी बुल्गारियाई या यमनवासी यहूदी ने नोबेल पुरस्कार नहीं जीता? कहीं कहीं मैं एक 'आत्म-धिक्कारी यहूदी' या एक यहूदी-विरोधी न मान लिया जाऊँ, इसलिए मैं इस बात पर विशेष ज़ोर देना चाहूँगा कि मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि यहूदी मज़हब विशेष रूप से बुरा या अज्ञानपूर्ण मज़हब रहा है। मैं सिर्फ़ इतना कह रहा हूँ कि यह मानव-जाति के इतिहास के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। यहूदी मज़हब कई सदियों तक एक ऐसे बहुत छोटे-से और उत्पीड़ित अल्पसंख्यकों का मज़हब रहा था, जिन्होंने सुदूर स्थित मुल्कों को जीतने और धर्मद्रोहियों को स्टेक पर जलाने की बजाय अध्ययन-मनन का विकल्प चुना था।

यहूदी-विरोधी आमतौर से सोचते हैं कि यहूदी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यहूदी- विरोधियों का ख़याल है कि यहूदी दुनिया, या बैंक-प्रणाली, या कम-से-कम मीडिया को नियन्त्रित करते हैं, और यह कि वे ही भूमण्डल के बढ़ते ताप से लेकर 9/11 हमले तक हर चीज़ के लिए दोषी हैं। इस क़िस्म का यहूदी-विरोधी उन्माद उतना ही हास्यास्पद है, जितना यहूदियों का उन्मादपूर्ण आत्मअहंकार है। यहूदी बहुत दिलचस्प लोग हो सकते हैं, लेकिन जब आप बड़े परिदृश्य में देखते हैं, तो आपको यह समझना अनिवार्य हो जाता है कि दुनिया पर उनका बहुत सीमित प्रभाव रहा है।

समूचे इतिहास के दौरान मनुष्यों ने सैकड़ों विभिन्न मज़हबों और मज़हबी पन्थों की रचना है। उनमें से थोड़े-से मज़हबों - ईसाइयत, इस्लाम, हिन्दू धर्म, कन्फ़्यूशियनिज़्म और बुद्ध धर्म ने अरबों लोगों पर प्रभाव डाला (जो हमेशा श्रेष्ठ प्रभाव नहीं रहा)। व्यक्तिगत रूप से मुझे क्रूर विश्व विजेताओं का नहीं, बल्कि उन साधारण लोगों का वंशज होने का ख़याल पसन्द है, जो दूसरे लोगों के मामलों में शायद ही कभी दख़ल देते हैं। बहुत-से मज़हब हैं, जो विनयशीलता के मूल्य की सराहना करते हैं, लेकिन इसके बाद वे ख़ुद को सृष्टि की सबसे महत्त्वपूर्ण सच्चाई के रूप में भी देखते हैं। वे निजी विनम्रता के साथ ज़बरदस्त सामूहिक अहंकार का घालमेल करते हैं। भलाई इसी में है कि सारे मज़हबी पन्थों के लोग विनयशीलता को अधिक गम्भीरता के साथ लें।

विनयशीलता के जितने भी रूप हैं, उनमें सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण है ईश्वर के समक्ष विनयशीलता। मनुष्य जब भी कभी ईश्वर की बात करते हैं, वे अक्सर ही दयनीय आत्मविलोपन की वकालत करते हैं, लेकिन वही लोग फिर ईश्वर के नाम का इस्तेमाल अपने ही बन्धुओं से अपने को श्रेष्ठ साबित करने के लिए करते हैं।

13

ईश्वर

व्यर्थ ही ईश्वर का नाम न लें

क्या ईश्वर का अस्तित्व है? यह इस पर निर्भर करता है कि आपके मन में कौन-सा ईश्वर है। ब्रह्माण्डीय रहस्य या सांसारिक विधियों का निर्माता? कभी-कभी जब लोग ईश्वर की बात करते हैं, तो किसी भव्य और विस्मयकारी पहेली की बात करते हैं, जिसके बारे में हम नितान्त कुछ भी नहीं जानते। इस रहस्यमय ईश्वर का सहारा हम ब्रह्माण्ड की गहनतम गुत्थियों को समझाने के लिए करते हैं। ऐसा क्यों है कि न कुछ की बजाय कुछ है? वह क्या चीज़ है, जिसने भौतिकी के बुनियादी नियमों को गढ़ा है? चेतना क्या है, और कहाँ से उत्पन्न होती है? हम इन सवालों के जवाब नहीं जानते, और हम अपने इस अज्ञान को ईश्वर के भव्य नाम से मण्डित करते हैं। इस रहस्यमय ईश्वर की सबसे बुनियादी विशेषता यह है कि हम उसके बारे में कोई भी ठोस बात नहीं कह सकते। ये दार्शनिकों का ईश्वर है। वह ईश्वर, जिसके बारे में हम देर रात अलाव के चारों ओर बैठकर बतियाते हैं, और इस बारे में अटकल लगाते हैं कि जीवन आख़िर कुल मिलाकर क्या है।

दूसरे कुछ अवसरों पर लोग ईश्वर को एक निष्ठुर और सांसारिक विधि-निर्माता के रूप में देखते हैं, जिसके बारे में हम बहुत कुछ जानते हैं। हमें ठीक-ठीक मालूम होता है कि वह फ़ैशन, भोजन, काम-वासना और राजनीति के बारे में क्या सोचता है, और हम लाखों नियमों, राजकीय आदेशों और टकरावों का औचित्य साबित करने के लिए स्वर्ग में बैठे इस क्रोधी मनुष्य (एंग्री मेन) का सहारा लेते हैं। जब स्त्रियाँ छोटी बाँहों वाली कमीज़ें पहनती हैं, जब दो पुरुष आपस में यौन-संसर्ग करते हैं, या जब किशोर हस्तमैथुन करते हैं, तो वह खिन्न हो उठता है। कुछ लोग कहते हैं कि उसको हमारा शराब पीना क़तई पसन्द नहीं है, जबकि कुछ दूसरे लोगों के मुताबिक़ वह पूरी तरह से माँग करता है कि हम हर शुक्रवार

की रात या हर इतवार की सुबह वाइन पिया करें। उसको ठीक-ठीक क्या पसन्द है या क्या नापसन्द है, इसके बारीक़-से-बारीक़ ब्योरों को स्पष्ट करने के लिए पुस्तकालय के पुस्तकालय लिखे गए हैं। इस सांसारिक विधि-निर्माता की सबसे बुनियादी विशेषता यह है कि उसके बारे में हम अत्यन्त ठोस ढंग से बात कर सकते हैं। ये धर्मयोद्धाओं और जिहादियों, धर्मपरीक्षकों, नारी-द्वेषियों तथा समलैंगिकता-भीरुओं का ईश्वर है। यह वह ईश्वर है, जिसके बारे में हम उस समय बतियाते हैं, जब हम जलती हुई चिता के चारों ओर खड़े होकर वहाँ जलाए जा रहे विधर्मियों पर पत्थर फेंकते हैं और गालियाँ बकते हैं।

जब आस्थावानों से पूछा जाता है कि क्या वाक़ई ईश्वर का अस्तित्व है, तो वे अक्सर अपनी बात की शुरुआत सृष्टि के पहेलीनुमा रहस्यों और मनुष्य की समझ की सीमाओं के बारे में बोलते हुए करते हैं। "विज्ञान बिग बैंग के बारे में नहीं समझा सकता," वे तपाक से कहते हैं, "इसलिए यह निश्चय ही ईश्वर का कृत्य है", लेकिन ताश के एक पत्ते को चुपके-से दूसरे पत्ते से बदलकर दर्शकों को बेवकूफ़ बनाते किसी जादूगर की तरह, ये आस्थावान फुर्ती से ब्रह्माण्डीय रहस्य को सांसारिक विधि-निर्माता से बदल देते हैं। ब्रह्माण्ड के अज्ञात रहस्यों को 'ईश्वर' का नाम देने के बाद फिर वे किसी तरह से बिकनियों और तलाकों की निन्दा करने के लिए उसका इस्तेमाल करते हैं। "हम बिग बैंग को नहीं समझते, इसलिए तुम्हें सार्वजनिक स्थलों पर अपना सिर ढँककर रखना चाहिए और समलैंगिकों की शादियों के ख़िलाफ़ मतदान करना चाहिए।" न सिर्फ़ इन दोनों चीज़ों के बीच कोई तार्किक रिश्ता नहीं है, बल्कि दरअसल वे अन्तर्विरोधी हैं। सृष्टि के रहस्य जितने ही अबूझ होंगे, उतनी ही कम सम्भावना इस बात की होगी कि जो भी कोई शक्ति इन रहस्यों के पीछे हो, वह स्त्रियों की वेशभूषा-सम्बन्धी नियमों या इंसानी यौन-आचरण की कोई परवाह करे।

ब्रह्माण्डीय रहस्य और सांसारिक विधि-निर्माता के बीच की लुप्त कड़ी (मिसिंग लिंक) आमतौर से किसी पवित्र ग्रन्थ के माध्यम से उपलब्ध कराई जाती है। यह ग्रन्थ सर्वाधिक तुच्छ क़िस्म के विधि-निषेधों से भरा होता है, तब भी उसे ब्रह्माण्डीय रहस्य से जोड़कर देखा जाता है। उसकी रचना कथित रूप से देश-काल के रचयिता द्वारा की गई होती है, लेकिन तब भी उसने हमें मुख्यतः देवालय के कुछ गुप्त अनुष्ठानों और भोजन-सम्बन्धी वर्जनाओं के बारे में ज्ञान देने का कष्ट उठाया होता है। सच्चाई यह है कि हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि बाइबल या कुरान या मोर्मन की पोथी या वेद या कोई भी दूसरा पवित्र ग्रन्थ उस शक्ति के द्वारा रचा गया था, जिसने यह निर्धारित किया था कि ऊर्जा, द्रव्य (मास) के साथ प्रकाश की घनाकार गति के गुणनफल के बराबर होती है, और प्रोटॉन इलेक्ट्रॉनों के मुक़ाबले 1,837 गुना बड़े होते हैं। हमारी अपनी श्रेष्ठतम वैज्ञानिक जानकारी के मुताबिक़, ये सारे पवित्र ग्रन्थ कल्पनाशील *होमो सेपियन्स* द्वारा लिखे गए थे। ये महज़ क़िस्से हैं जिनको हमारे पूर्वजों ने सामाजिक मानकों और राजनीतिक ढाँचों को वैधीकृत करने के उद्देश्य से गढ़ा था।

व्यक्तिगत रूप से मैं अस्तित्व के रहस्य को लेकर विस्मित रहा हूँ, लेकिन मुझे यह बात कभी समझ में नहीं आई कि इसका यहूदी मज़हब, ईसाइयत या हिन्दू धर्म के साधारण से विधि-निषेधों से क्या सम्बन्ध है। ये विधि-निषेध निश्चय ही हज़ारों सालों तक सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने और उसका पोषण करने में मददगार रहे हैं, लेकिन इस मामले में वे धर्मनिरपेक्ष राज्यों और संस्थाओं द्वारा गढ़े गए विधि-निषेधों से बुनियादी तौर पर भिन्न नहीं हैं।

बाइबल के दस विधानों (टेन कमांडमेंट्स) में से तीसरा विधान इंसानों को ईश्वर के नाम का ग़लत इस्तेमाल न करने का निर्देश देता है। बहुत-से लोग इसको बचकाने ढंग से यूँ समझते हैं कि यह स्पष्ट तौर पर ईश्वर का नाम उच्चारित करने का निषेध करता है (जैसा कि मोंटी पायथन के प्रसिद्ध दृश्य में है कि 'इफ़ यू सै जहोवह...')। सम्भवतः इस विधान का गहरा अर्थ यह है कि हमें कभी भी अपने राजनीतिक स्वार्थों, अपनी आर्थिक महत्त्वाकांक्षाओं या अपनी निजी नफ़रतों को उचित ठहराने के लिए ईश्वर के नाम का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। लोग किसी व्यक्ति के प्रति अपनी नफ़रत का इज़हार करते हुए कहते हैं "ईश्वर उससे नफ़रत करता है"; लोग ज़मीन के एक टुकड़े की लालसा करते हुए कहते हैं "ईश्वर इसे चाहता है"। अगर हम इस तीसरे विधान का अधिक निष्ठापूर्वक पालन करें, तो दुनिया एक बेहतर जगह बन जाएगी। आप अपने पड़ोसियों से युद्ध कर उनकी ज़मीन छीनना चाहते हैं? तो मेहरबानी कर ईश्वर को इससे दूर रखिए, और अपने लिए कोई दूसरा बहाना खोजिए।

सब कुछ पर विचार करने के बाद, ये शब्दों के अर्थ का मसला है। जब मैं 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो मैं इस्लामिक स्टेट के ईश्वर के बारे में, धर्मयुद्धों के ईश्वर के बारे में, धर्मपरीक्षणों के ईश्वर के बारे में, और 'ईश्वर समलैंगिकों से नफ़रत करता है' के बैनरों के ईश्वर के बारे में सोच रहा होता हूँ। जब मैं अस्तित्व के रहस्य पर विचार करता हूँ, तो मैं दूसरे शब्दों का इस्तेमाल करना पसन्द करता हूँ, ताकि कोई भ्रम पैदा न हो। और इस्लामिक स्टेट तथा धर्मयुद्धों के ईश्वर से भिन्न (जिसको नामों और सबसे ज़्यादा अपने पवित्र नाम से बहुत ज़्यादा लगाव है) अस्तित्व का रहस्य इसकी रत्तीभर परवाह नहीं करता कि हम वानर उसको क्या नाम देते हैं।

ईश्वरविहीन नैतिकी

निश्चय ही ब्रह्माण्डीय रहस्य सामाजिक व्यवस्था के रख-रखाव में हमारी क़तई कोई मदद नहीं करता। लोग अक्सर यह तर्क देते हैं कि हमें उस ईश्वर में विश्वास रखना चाहिए,

जिसने मनुष्यों के लिए कुछ अत्यन्त ठोस विधान उपलब्ध कराए हैं, नहीं तो नैतिकता समाप्त हो जाएगी और समाज ध्वस्त होकर आदिम अराजकता की दशा में पहुँच जाएगा।

यह निश्चय ही सही है कि देवताओं में आस्था विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के लिए प्राणवायु की तरह रही है, और कभी-कभी इसके सकारात्मक परिणाम निकले हैं। वाक़ई, जो मज़हब कुछ लोगों के मन में नफ़रत और कट्टरता के भाव जगाते हैं, ठीक वे ही मज़हब कुछ दूसरे लोगों के मन में प्रेम और करुणा के भाव जगाते हैं। उदाहरण के लिए, 1960 के दशक के शुरुआती वर्षों में मेथॉडिस्ट चर्च के श्रद्धेय पादरी टेड मेकिलवेना अपने समुदाय के समलैंगिक स्त्री-पुरुषों, उभयलैंगिकों और किन्नर की दुर्दशा को लेकर जागरूक हो उठे थे। उन्होंने समाज में समलैंगिक स्त्रियों और पुरुषों की स्थिति की छानबीन शुरू की, और मई 1964 में कैलिफ़ोर्निया स्थित ह्वाइट मैमोरियल रिट्रीट सेंटर में पादरियों तथा समलैंगिकता के पक्षधर कार्यकर्ताओं के बीच तीन दिवसीय अग्रगामी संवाद आयोजित किया। इसके परिणामस्वरूप संवाद के सहभागियों ने 'काउंसिल ऑफ़ रिलीजन एंड द होमोसेक्शुअल' (सीआरएच) की स्थापना की, जिसमें इन कार्यकर्ताओं के अलावा मेथॉडिस्ट, एपिस्कोपल, लुथेरियन और यूनाइटेड चर्च ऑफ़ क्राइस्ट मिनिस्टर्स भी शामिल थे। यह पहला अमेरिकी संगठन था, जिसने अधिकृत तौर पर 'होमोसेक्शुअल' शब्द के इस्तेमाल का साहस किया था।

बाद के वर्षों में सीआरएच कार्यकर्ताओं ने वेशभूषा पार्टियों से लेकर अन्यायपूर्ण पक्षपात और उत्पीड़नों के ख़िलाफ़ क़ानूनी कार्रवाइयाँ करने तक विभिन्न गतिविधियाँ कीं। सीआरएच कैलिफ़ोर्निया में समलैंगिक अधिकारों के आन्दोलन का बीज बन गया। श्रद्धेय पादरी टेड मेकिलवेना और उनके साथ जुड़े अन्य पादरी भी समलैंगिकता के ख़िलाफ़ बाइबलपरक निषेधों के बारे में भलीभाँति जागरूक थे, लेकिन उनका सोचना था कि बाइबल की सख़्त हिदायतों से ज़्यादा ईसा की करुणामय भावना के प्रति निष्ठा ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है।

देवता हालाँकि हमें करुणामय ढंग से आचरण करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं, लेकिन मज़हबी आस्था नैतिक आचरण की अनिवार्य शर्त नहीं है। हमें नैतिक आचरण की प्रेरणा देने के लिए एक अतिप्राकृतिक सत्ता की ज़रूरत है। यह धारणा में इस मान्यता में निहित है कि नैतिकता में अप्राकृतिक होने जैसा कुछ है, लेकिन क्यों? एक तरह की नैतिकता कुदरती होती है। चिम्पांज़ी से लेकर चूहों तक सारे सामाजिक स्तनधारियों की नैतिक संहिताएँ होती हैं, जो चोरी और हत्या जैसी चीज़ों को सीमित करती हैं। मनुष्यों में नैतिकता सारे समाजों में मौजूद है, भले ही वे सब समान ईश्वर में, या किसी भी ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। ईसाई हिन्दू देवमण्डली में आस्था रखे बिना परोपकार की भावना के साथ कर्म करते हैं, मुसलमान ईसा की दिव्यता से इंकार करने के बावजूद ईमानदारी को

महत्त्व देते हैं, और डेनमार्क तथा चेक गणराज्य जैसे धर्मनिरपेक्ष देश ईरान और पाकिस्तान जैसे धर्मपरायण मुल्कों से ज़्यादा हिंसक नहीं हैं।

नैतिकता का अर्थ 'दैवीय विधानों का अनुसरण करना' नहीं है। इसका अर्थ है 'दुःख में कमी लाना'। इसलिए नैतिक आचरण करने के लिए आपको किसी मिथक या क़िस्से में विश्वास करना आवश्यक नहीं है। आपको सिर्फ़ दुःख के प्रति गहरी समझ विकसित करना भर ज़रूरी है। अगर आप सचमुच इस बात को समझ लेते हैं कि कोई कृत्य किस तरह स्वयं आपके या दूसरों के लिए अनावश्यक दुःख का कारण बनता है, तो आप निश्चय ही उस कृत्य से परहेज़ करेंगे। तब भी लोग हत्या, बलात्कार और चोरी करते हैं, क्योंकि उनमें उस विपत्ति की बहुत सतही समझ होती है, जो इन कृत्यों की वज़ह से पैदा होती है। वे अपनी तात्कालिक वासना और लोभ को सन्तुष्ट करने के बारे में ही निरन्तर सोचते हैं, इस बात की परवाह किए बिना कि दूसरों पर इसका क्या असर होगा या ख़ुद उन पर उसका दीर्घकालिक असर क्या होगा। यहाँ तक धर्मपरीक्षक भी, जो अपने शिकारों को यथासम्भव पीड़ा पहुँचाते हैं, वे तक आमतौर से ख़ुद को अपने कृत्य से दूर रखने के लिए तरह-तरह की असंवेदनशील और अमानवीय बनाने वाली तकनीकें अपनाते हैं।

आप आपत्ति उठा सकते हैं कि हर इंसान स्वाभाविक ही दुःख के अहसास से बचने की कोशिश करता है, लेकिन जब तक कोई ईश्वर ही इसकी माँग नहीं करता, तब तक कोई भी मनुष्य दूसरों की पीड़ा की परवाह क्यों करेगा? इसका एक ज़ाहिर-सा जवाब है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी होते हैं, इसलिए उनका सुख काफ़ी हद तक दूसरों के साथ उनके सम्बन्धों पर निर्भर करता है। प्रेम, मैत्री और समुदाय के बिना कोई सुखी रह सकेगा? अगर आप एक अकेला आत्मकेन्द्रित जीवन जीते हैं, तो यह बात लगभग तय है कि आप दुःखी होंगे। इसलिए सुखी होने के लिए आपको हर हाल में अपने परिवार की, अपने दोस्तों की, और अपने समुदाय के सदस्यों की चिन्ता करना ज़रूरी है।

तब उन लोगों के बारे में क्या कहा जाए, जो पूरी तरह से अजनबी होते हैं? क्यों न अजनबियों की हत्या की जाए और ख़ुद की और अपनी जाति की समृद्धि की ख़ातिर उनकी सम्पत्ति को लूट लिया जाए? बहुत-से चिन्तकों ने विस्तृत सामाजिक सिद्धान्त गढ़ते हुए यह समझाया है कि क्यों इस तरह का आचरण दीर्घकालिक स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पैदा करने वाला होता है। आप एक ऐसे समाज में नहीं रहना चाहेंगे, जहाँ अजनबियों को आए दिन लूटा जाता हो और उनकी हत्याएँ की जाती हों। ऐसे समाज में आप न सिर्फ़ निरन्तर ख़तरे में रहेंगे, बल्कि आप वाणिज्य जैसी उन चीज़ों के लाभ से भी वंचित रहेंगे, जो अजनबियों के बीच आपसी भरोसे पर ही निर्भर करती हैं। सौदागर आमतौर से गुप्त अड्डों और चोरों के पास नहीं जाते। प्राचीन युग के चीन से लेकर आधुनिक यूरोप तक के धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्तकारों ने इसी तरह इस स्वर्णिम नियम को उचित ठहराया है कि "दूसरों

के साथ ऐसा कुछ भी मत करो, जैसा आप उनके द्वारा आपके साथ किया जाना पसन्द नहीं करेंगे।”

लेकिन सार्वभौमिक करुणा के कुदरती आधार को हासिल करने के लिए हमें वास्तव में इस तरह के पेचीदा दीर्घकालिक सिद्धान्तों की आवश्यकता नहीं है। वाणिज्य को थोड़ी देर के लिए भूल जाइए। एक कहीं ज़्यादा तात्कालिक स्तर पर, दूसरों को चोट पहुँचाने से मुझे भी चोट पहुँचती है। दुनिया के हर हिंसक कृत्य की शुरुआत किसी के दिमाग़ में हिंसा की आकांक्षा के साथ होती है, जो किसी अन्य की शान्ति और सुख को भंग करने से पहले स्वयं उस व्यक्ति की शान्ति और सुख को भंग करती है। इसलिए जब तक लोगों के मन में भरपूर लालच और ईष्या पैदा नहीं हो जाते, तब तक वे शायद ही चोरी करते हैं। लोग आमतौर से तब तक हत्या नहीं करते, जब तक कि उनके भीतर क्रोध और घृणा के भाव पैदा नहीं होते। लालच, ईर्ष्या, क्रोध और घृणा जैसी भावनाएँ बहुत अप्रिय होती हैं। जिस समय आप क्रोध या ईर्ष्या से उबल रहे होते हैं, उस समय आप आनन्द और सम्बन्धों की मधुरता अनुभव नहीं कर सकते। इसलिए किसी की हत्या करने से पहले ही आपका क्रोध आपकी मानसिक शान्ति की हत्या कर चुका होता है।

दरअसल, आप अपनी घृणा के पात्र की वास्तव में कभी भी हत्या किए बिना वर्षों क्रोध से उबलते रह सकते हैं। उस सूरत में आपने किसी और को नुक़सान नहीं पहुँचाया होता है, लेकिन तब भी आपने ख़ुद को तो नुक़सान पहुँचाया ही होता है। इसलिए यह आपका नैसर्गिक आत्महित है, न कि किसी ईश्वर का आदेश, जिसे आपको अपने क्रोध को क़ाबू में लाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। अगर आप क्रोध से पूरी तरह मुक्त होंगे, तो आप उससे कहीं ज़्यादा बेहतर महसूस करेंगे जितना आप किसी घृणित शत्रु की हत्या करने पर महसूस करेंगे।

कुछ लोगों के लिए अपने क्रोध पर क़ाबू पाने में किसी ऐसे करुणामय ईश्वर में गहरी आस्था मददगार हो सकती है, जो हमें आदेश देता है कि अगर कोई आपके एक गाल पर तमाचा मारे, तो आप अपना दूसरा गाल उसके आगे कर दें। दुनिया की शान्ति और समरसता के लिए मज़हबी आस्था का यह एक महान योगदान रहा है। दुर्भाग्य से, कुछ अन्य लोगों के लिए मज़हबी आस्था दरअसल उनके क्रोध को उकसाने और उसको उचित ठहराने की भूमिका निभाती है, ख़ासतौर से तब, जब कोई उनके ईश्वर का अपमान करता है या उसकी आकांक्षाओं की अवहेलना करता है। इस तरह विधि-निर्माता ईश्वर का मूल्य अन्ततः उसके भक्तों के आचरण पर निर्भर करता है। अगर वे सदाचरण करते हैं, तो वे किसी भी उस चीज़ में आस्था रख सकते हैं, जो उनको ठीक लगती है। इसी तरह, मज़हबी अनुष्ठानों और पवित्र स्थलों का मूल्य इन अनुष्ठानों और स्थलों द्वारा उत्प्रेरित आचरणों पर निर्भर करता है। अगर किसी देवालय में जाने से लोग शान्ति और सौहार्द का अनुभव करते हैं, तो यह बहुत ही अच्छा है, लेकिन अगर कोई देवालय हिंसा और टकरावों को जन्म देता

है, तो फिर हमें उसकी क्या ज़रूरत है? वह स्पष्ट तौर पर एक दुष्क्रियाशील देवालय है। जिस तरह फल उपजाने की बजाय काँटे उपजाने वाले किसी रुग्ण वृक्ष की ख़ातिर लड़ना निरर्थक है, उसी तरह किसी ऐसे दूशित देवालय की ख़ातिर लड़ना निरर्थक है, जो समरसता की बजाय शत्रुता पैदा करता है।

किसी भी देवालय में न जाना और किसी भी देवता में आस्था न रखना भी एक मानने-योग्य विकल्प है। जैसा कि पिछली कुछ सदियों ने साबित किया है, एक नैतिक जीवन जीने के लिए हमें किसी ईश्वर के नाम का सहारा लेने की ज़रूरत नहीं है। धर्मनिरपेक्षता हमें वे सारे मूल्य उपलब्ध करा सकती है, जिनकी हमें ज़रूरत है।

14

धर्मनिरपेक्षता

अपनी परछाईं को स्वीकार कीजिए

धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) होने का क्या अर्थ है? धर्मनिरपेक्षता को कभी-कभी धर्म के नकार के रूप में परिभाशित किया जाता है, और इसलिए धर्मनिरपेक्ष लोगों को उस चीज़ से पहचाना जाता है, जिसमें वे आस्था नहीं रखते और जो वे नहीं करते। इस परिभाषा के मुताबिक़, धर्मनिरपेक्ष लोग किन्हीं देवताओं या देवदूतों में आस्था नहीं रखते, वे चर्चों और मन्दिरों में नहीं जाते, और कोई अनुष्ठान और कर्मकाण्ड नहीं करते। इस रूप में धर्मनिरपेक्ष दुनिया एक खोखली, शून्यवादी और नैतिकता-निरपेक्ष दुनिया के रूप में उभरती है। एक ऐसे ख़ाली बक्से के रूप में, जो किसी चीज़ से भरे जाने की प्रतीक्षा कर रहा है।

बहुत कम लोग ही इस तरह की नकारात्मक पहचान को स्वीकार करना चाहेंगे। स्व-घोषित धर्मनिरपेक्षतावादी धर्मनिरपेक्षता को एक बिल्कुल अलग ढंग से देखते हैं। उनके लिए, धर्मनिरपेक्षता एक बहुत ही सकारात्मक और क्रियाशील विश्व-दृष्टि है, जो इस या उस मज़हब के विरोध की बजाय मूल्यों की एक सुसंगत संहिता से परिभाशित होती है। दरअसल, बहुत-से धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को विभिन्न मज़हबी परम्पराएँ साझा करती हैं। जो मज़हबी पन्थ इस बात पर ज़ोर देते हैं कि समूची प्रज्ञा और सदाचार पर उन्हीं का एकाधिकार है, उनसे भिन्न धर्मनिरपेक्ष लोगों की मुख्य विशेषता यह है कि वे इस तरह के एकाधिकार का दावा नहीं करते। वे ऐसा नहीं सोचते कि नैतिकता और प्रज्ञा का अवतरण स्वर्ग से किसी ख़ास देश और काल में हुआ था। इसकी बजाय, नैतिकता और प्रज्ञा तमाम मनुष्यों की नैसर्गिक विरासत है। इसलिए अपेक्षित केवल यही है कि कम-से-कम कुछ

मूल्य ऐसे होंगे, जो सारी दुनिया के मानव-समाजों में दिखाई देंगे, और जिन्हें मुसलमान, ईसाई, हिन्दू और नास्तिक सभी साझा करते होंगे।

मज़हबी नेता अक्सर अपने अनुयायियों के सामने या तो यह/या वह का एक सख़्त विकल्प पेश करते हैं - या तो आप मुसलमान हैं, या नहीं हैं। अगर आप मुसलमान हैं, तो आपको बाक़ी सारे धर्ममतों का तिरस्कार करना चाहिए। इसके विपरीत, धर्मनिरपेक्ष लोग बहुत-सी मिश्रित पहचानों के साथ सहज महसूस करते हैं। जहाँ तक धर्मरिपेक्षता का सवाल है आप ख़ुद को मुसलमान कहते रह सकते हैं और अल्लाह की इबादत करते रह सकते हैं, हलाल का भोजन करते रह सकते हैं और मक्का की हज पर जाते रह सकते हैं, लेकिन इसी के साथ-साथ एक धर्मनिरपेक्ष समाज का अंग बने रह सकते हैं, बशर्ते कि आप धर्मनिरपेक्ष नैतिक संहिता के मुताबिक़ आचरण करें। यह नैतिक संहिता - जो वाक़ई लाखों मुसलमानों, ईसाइयों और हिन्दुओं और इन्हीं के साथ-साथ नास्तिकों द्वारा मान्य होती है - सत्य, करुणा, समानता, स्वतन्त्रता, साहस और उत्तरदायित्व के मूल्यों को सँजोए होती है। यह आधुनिक वैज्ञानिक और लोकतान्त्रिक संस्थाओं की बुनियाद रचती है।

तमाम नैतिक संहिताओं की तरह ही धर्मनिरपेक्ष संहिता एक सामाजिक वास्तविकता होने की बजाय एक ऐसा आदर्श है, जो आकांक्षा का विषय है। जिस तरह ईसाई समाज और ईसाई संस्थाएँ अक्सर ईसाई आदर्शों से भटक जाती हैं, उसी तरह धर्मनिरपेक्ष समाज और संस्थाएँ भी अक्सर धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पातीं। मध्ययुगीन फ़्रांस एक स्वघोषित ईसाई सल्तनत था, लेकिन वह तमाम ऐसी गतिविधियों को आज़माता रहा था, जो दूर-दूर तक ईसाई नहीं थीं (ज़रा पददलित कृषक-वर्ग से पूछकर देखिए)। आधुनिक फ़्रांस एक स्वघोषित धर्मनिरपेक्ष राज्य है, लेकिन वह रॉबस्पियर के ज़माने से लेकर आज तक कई बार स्वयं आज़ादी की परिभाषा के कष्टदायी दुरुपयोग करता रहा (ज़रा स्त्रियों से पूछकर देखिए)। इसका यह मतलब नहीं है कि धर्मनिरपेक्ष लोगों के पास - फ़्रांस में या कहीं और - किसी आचारपरक दिशासूचक या किसी नैतिक प्रतिबद्धता का अभाव होता है। इसका सिर्फ़ इतना मतलब है कि किसी आदर्श पर खरा उतरना आसान नहीं होता।

धर्मनिरपेक्ष आदर्श

तब यह धर्मनिरपेक्ष आदर्श क्या है? सबसे महत्त्वपूर्ण धर्मनिरपेक्ष प्रतिबद्धता सत्य के प्रति होती है, जो निरी आस्था की बजाय पर्यवेक्षण और साक्ष्य पर आधारित होता है। धर्मनिरपेक्ष लोग सत्य को आस्था से भ्रमित न करने की कोशिश करते हैं। अगर आप किसी क़िस्से में बहुत तगड़ी आस्था रखते हैं, तो यह चीज़ हमें आपके मनोविज्ञान के बारे

में, आपके बचपन के बारे में, और आपके मस्तिष्क की संरचना के बारे में बहुत-सी दिलचस्प बातें बता सकती है, लेकिन इससे यह साबित नहीं हो जाता कि वह क़िस्सा सत्य है। (अक्सर तगड़ी आस्थाओं की ज़रूरत पड़ती ही तब है, जब क़िस्सा सही नहीं होता।)

इसके अतिरिक्त, धर्मनिरपेक्ष लोग किसी समुदाय, किसी व्यक्ति या किसी ग्रन्थ को इस तरह पवित्रीकृत नहीं करते, मानो सत्य का एकमात्र संरक्षक वही है। इसकी बजाय, सत्य जहाँ कहीं भी अपने को प्रकट करता है - प्राचीन जीवाश्मीकृत अस्थियों में, सुदूर आकाशगंगाओं की छवियों में, सांख्यिकीय आँकड़ों की तालिका में, या विभिन्न मानवीय परम्पराओं के लेखन में, जहाँ कहीं भी - धर्मनिरपेक्ष लोग उसको वहाँ पवित्रीकृत करते हैं। सत्य के प्रति यह प्रतिबद्धता उस आधुनिक विज्ञान की बुनियाद तैयार करती है, जिसने मानव-जाति को अणु का विखण्डन करने में, जीन-समूह के अर्थ की गुत्थी सुलझाने में, जीवन के विकास की प्रक्रिया का अनुशीलन करने में, और स्वयं मानव-जाति के इतिहास को समझने में सक्षम बनाया है।

धर्मनिरपेक्ष लोगों की दूसरी मुख्य प्रतिबद्धता करुणा के प्रति होती है। धर्मनिरपेक्ष नैतिकी इस या उस ईश्वर के आदेशों का पालन करने पर निर्भर नहीं करती, बल्कि इसकी बजाय वह दुःख के गहरे बोध पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, धर्मनिरपेक्ष लोग हत्या से परहेज़ करते हैं, तो इसलिए नहीं कि किसी प्राचीन ग्रन्थ में इसका निषेध किया गया है, बल्कि इसलिए कि हत्या चेतन प्राणियों को अपरिमित पीड़ा पहुँचाती है। जो लोग हत्या से इसलिए परहेज़ करते हैं क्योंकि 'यह ईश्वर का कहना है' उन लोगों में कोई अत्यन्त विचलित करने वाली और ख़तरनाक प्रवृत्ति होती है। ऐसे लोग करुणा की बजाय आज्ञापरायणता से प्रेरित होते हैं, और तब वे क्या करेंगे, जब उनके मन में यह विश्वास बैठ जाएगा कि उनका ईश्वर उनको विधर्मियों, डायनों, परस्त्रीगमन करने वालों या विदेशियों को मारने का हुक्म देता है?

बेशक, किन्हीं परम दैवीय विधानों के अभाव में, धर्मनिरपेक्ष नैतिकी को अक्सर मुश्किल दुविधाओं का सामना करना पड़ता है। उस वक़्त क्या होता है, जब एक ही कृत्य किसी एक व्यक्ति को क्षति पहुँचाता है, जबकि दूसरे व्यक्ति के लिए सहायक होता है? क्या ग़रीबों की मदद की ख़ातिर अमीरों पर भारी कर थोपना नैतिक है? किसी क्रूर तानाशाह को हटाने के लिए रक्तपात से भरा युद्ध छेड़ना नैतिक है? अपने देश में असीमित तादाद में शरणार्थियों को आने की इजाज़त दी जानी चाहिए? जब धर्मनिरपेक्ष लोग इस तरह की दुविधाओं का सामना करते हैं, तो वे यह सवाल नहीं उठाते कि 'ईश्वर का क्या आदेश है?' इसकी बजाय, वे सावधानी के साथ तमाम सम्बन्धित लोगों की भावनाओं को तौलते हैं, विचारों और सम्भावनाओं के व्यापक दायरे का परीक्षण करते हैं, और एक ऐसा मध्यमार्ग तलाशते हैं, जो कम-से-कम नुक़सान पहुँचाने वाला हो।

उदाहरण के लिए, यौनकर्म के प्रति अपनाए जाने वाले रुखों पर ही विचार करें। धर्मनिरपेक्ष लोग इस बात का फ़ैसला कैसे करते हैं कि बलात्कार, समलैंगिकता, पशुगमन, या सगे सम्बन्धी के साथ यौन-कर्म का अनुमोदन किया जाए या उसका विरोध किया जाए? भावनाओं का परीक्षण करते हुए। बलात्कार ज़ाहिरा तौर पर अनैतिक है, इसलिए नहीं कि यह किसी दैवीय विधान को भंग करता है, बल्कि इसलिए कि यह लोगों को आघात पहुँचाता है। इसके विपरीत, दो मर्दों के बीच प्रेम-सम्बन्ध किसी को नुक़सान नहीं पहुँचाता, इसलिए इस पर प्रतिबन्ध लगाने की कोई वज़ह नहीं है।

पशुगमन के बारे में क्या कहा जाए? मैंने समलैंगिकों के विवाह से सम्बन्धित कई निजी और सार्वजनिक बहसों में भाग लिया है, और पाया है कि अक्सर ही कोई अक़्लमन्द आदमी पूछता है कि "अगर दो मर्दों के बीच विवाह ठीक है, तो फिर किसी मर्द और किसी बकरी के बीच विवाह की छूट भी क्यों न दी जाए?" धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से इसका जवाब ज़ाहिर है। स्वस्थ रिश्ते भावनात्मक, बौद्धिक और यहाँ तक कि आध्यात्मिक गहराई की माँग करते हैं। इस तरह की गहराई का अभाव आपको कुण्ठित, अकेला और मनोवैज्ञानिक रूप से अविकसित बना देगा। जहाँ दो मर्द निश्चय ही एक-दूसरे की भावनात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक ज़रूरतों को पूरा कर सकते हैं, वहीं किसी बकरी के साथ रिश्ता ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए अगर आप विवाह को एक ऐसी व्यवस्था के रूप में देखते हैं, जिसका लक्ष्य मनुष्य के कुशलक्षेम में वृद्धि करना है - जैसा कि धर्मनिरपेक्ष लोग मानते हैं - तो आप इस तरह के अजीबोग़रीब सवाल उठाने का सपना भी नहीं देखेंगे। इस तरह की बात सिर्फ़ वे ही लोग कर सकते हैं, जो विवाह को किसी चमत्कारपूर्ण अनुष्ठान के रूप में देखते हैं।

तब फिर एक पिता और उसकी बेटी के बीच यौन-सम्बन्ध के बारे में क्या कहेंगे? वे दोनों तो इंसान हैं, तब इसमें बुराई क्या है? अनेक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों ने इस बात को दर्शाया है कि इस तरह के रिश्ते बच्चे को अपरिमित और आम तौर से अपूरणीय क्षति पहुँचाते हैं। इसके अतिरिक्त, वे अभिभावक में विनाशकारी प्रवृत्तियों को दर्शाते हैं और गहराते हैं। विकास-प्रक्रिया ने सेपियन्स के मानस को कुछ इस तरह गढ़ा है कि रोमानी सम्बन्ध अभिभावकीय सम्बन्धों के साथ मेल खाते ही नहीं हैं। इसलिए सगे सम्बन्धियों के साथ यौन-संसर्ग का विरोध करने के लिए आपको ईश्वर या बाइबल की ज़रूरत नहीं है। आपको सिर्फ़ इस सिलसिले में किए गए मनोवैज्ञानिक अध्ययनों को पढ़ने भर की ज़रूरत है।

यही इस बात की गहरी वज़ह है कि धर्मनिरपेक्ष लोग वैज्ञानिक सत्य से बहुत ज़्यादा लगाव रखते हैं। अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए नहीं, बल्कि यह समझने के लिए कि दुनिया के दु:ख को कम करने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या है। विज्ञान के मार्गदर्शन के बिना हमारी करुणा अक्सर अन्धी होती है।

सत्य और करुणा के प्रति ये दोहरी प्रतिबद्धताएँ समानता के प्रति प्रतिबद्धता को भी जन्म देती हैं। यद्यपि आर्थिक और राजनीतिक समानता से जुड़े सवालों को लेकर मतभेद हैं, फिर भी धर्मनिरपेक्ष लोग उच्च-निम्न के पूर्वनिर्धारित क्रम को लेकर बुनियादी तौर पर शंकालु होते हैं। दुःख, दुःख ही होता है, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उसको कौन भोगता है, और ज्ञान, ज्ञान ही होता है, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उसकी खोज किसने की है। किसी ख़ास राष्ट्र, वर्ग या लिंग के अनुभवों या उसके द्वारा की गई खोजों को वरीयता हमें असंवेदनशील और अज्ञानी बना सकती है। धर्मनिरपेक्ष लोग निश्चय ही अपने राष्ट्र, देश और संस्कृति की विशिष्टता पर गर्व करते हैं, लेकिन वे 'विशिष्टता' को 'श्रेष्ठता' से भ्रमित नहीं करते। इसलिए यद्यपि धर्मनिरपेक्ष लोग अपने राष्ट्र और अपने मुल्क के प्रति अपने विशेष कर्तव्यों को स्वीकार करते हैं, लेकिन वे इन कर्तव्यों को एकमात्र नहीं मानते, और वे उन्हीं के साथ-साथ समूची मानवता के प्रति भी अपने कर्तव्यों को स्वीकार करते हैं।

सोचने, पड़ताल करने और प्रयोग करने की स्वतन्त्रता के बिना हम सत्य की और दुःखों से छुटकारा पाने के तरीक़े की खोज नहीं कर सकते। इसलिए धर्मनिरपेक्ष लोग स्वतन्त्रता के प्रबल आग्रही होते हैं, और किसी ग्रन्थ, संस्था या नेता को सत्य और शुभ का परम निर्णायक मानने से परहेज़ करते हैं। मनुष्य को सन्देह करने, फिर से जाँचकर देखने, वैकल्पिक मत को सुनने-समझने, और अलग रास्ते को आज़माने की स्वतन्त्रता हमेशा बचाकर रखनी चाहिए। धर्मनिरपेक्ष लोग गैलिलियो गैलिली की सराहना करते हैं, जिसने यह सवाल उठाने का साहस किया था कि क्या पृथ्वी ब्रह्माण्ड के केन्द्र में अचल रूप से स्थित है। वे जनसाधारण के उस समूह की सराहना करते हैं, जिसने 1789 में बैस्टिले पर हमला करके लुई XVI की अत्याचारी हुकूमत को ख़त्म कर दिया था' और वे रोज़ा पार्क्स की सराहना करते हैं, जिसने सिर्फ़ गोरे लोगों के लिए आरक्षित बस की सीट पर बैठने की हिम्मत दिखाई थी।

पक्षपातों और दमनकारी हुकूमतों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए बहुत सारे साहस की ज़रूरत होती है, लेकिन इससे भी ज़्यादा साहस की ज़रूरत अज्ञानता को स्वीकारने और अज्ञात में उतरने का जोखिम उठाने के लिए होती है। धर्मनिरपेक्ष शिक्षा हमें सीख देती है कि अगर ऐसा कुछ है, जो हम नहीं जानते, तो हमें अपनी अज्ञानता को स्वीकार करने और नए साक्ष्य की तलाश करने से डरना नहीं चाहिए। यहाँ तक कि अगर हम सोचते हैं कि हम कुछ जानते हैं, तो भी हमें अपनी राय पर सन्देह करने और ख़ुद को दोबारा जाँचने से भी नहीं डरना चाहिए। बहुत सारे लोग अज्ञात से भयभीत होते हैं, और सवाल का स्पष्ट जवाब चाहते हैं। अज्ञात का भय हमें उससे ज़्यादा पंगु बना देता है, जितना कोई आततायी बनाता है। समूचे इतिहास के दौरान इस बात को लेकर परेशान होते रहे थे कि अगर हम परम उत्तरों के किसी ढाँचे में अपनी आस्था नहीं रखते, तो मानव-समाज चूर-चूर हो

जाएगा। दरअसल, आधुनिक इतिहास ने यह दर्शाया है कि अज्ञानता को स्वीकारने और मुश्किल सवाल उठाने के लिए तत्पर रहने वाले साहसी लोगों का समाज न सिर्फ़ ऐसे समाजों की तुलना में ज़्यादा समृद्ध, बल्कि शान्तिपूर्ण भी होता है, जिनमें हरेक को किसी एकमात्र जवाब को स्वीकार करना अनिवार्य होता है। अपने सत्य को खो देने से डरने वाले लोग हिंसा की ओर उन लोगों की तुलना में ज़्यादा प्रवृत्त होते हैं, जिनको दुनिया को बहुत-से अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने की आदत होती है। ऐसे सवाल, जिनके जवाब आप नहीं दे सकते, अक्सर ऐसे जवाबों से ज़्यादा बेहतर होते हैं, जिन पर आप सवाल नहीं उठा सकते।

अन्त में, धर्मनिरपेक्ष लोग उत्तरदायित्व के प्रति प्रबल आग्रह रखते हैं। वे किसी ऐसी उच्चतर शक्ति में विश्वास नहीं रखते, जो दुनिया की देखभाल करती है, दुष्टों को दण्ड देती है, न्यायपूर्ण लोगों को पुरस्कृत करती है, और महामारी या युद्ध से हमारी रक्षा करती है। इसलिए हम हाड़-मांस के बने नश्वर इंसानों को उन सारे कृत्यों की पूरी ज़िम्मेदारी लेनी चाहिए, जो हम करते हैं या नहीं करते हैं। अगर दुनिया दुःखों से भरी हुई है, तो उनका समाधान निकालना हमारा कर्तव्य है। धर्मनिरपेक्ष लोग आधुनिक समाजों की विपुल उपलब्धियों, जैसे कि महामारियों का इलाज ढूँढ लेने, भूखों का पेट भरने, और दुनिया के बड़े हिस्सों में शान्ति स्थापित करने पर गर्व करते हैं। इन उपलब्धियों के लिए हमें किसी अलौकिक रक्षक को श्रेय देने की ज़रूरत नहीं है। ये उपलब्धियाँ मनुष्यों द्वारा अपने ज्ञान और करुणा को विकसित करने का परिणाम हैं, लेकिन ठीक इसी वज़ह से हमें जातिसंहारों से लेकर पारिस्थितिकी की अधोगति तक आधुनिकता के सारे गुनाहों और नाकामयाबियों की भी पूरी ज़िम्मेदारी लेना ज़रूरी है। चमत्कारों के घटित होने की ख़ातिर प्रार्थना करने की बजाय हमें यह सवाल उठाना ज़रूरी है कि हम मदद करने के लिए क्या कर सकते हैं।

ये धर्मनिरपेक्ष दुनिया के प्रमुख मूल्य हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनमें से कोई भी मूल्य पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष नहीं है। यहूदी भी सत्य को मूल्यवान मानते हैं, ईसाई भी करुणा को मूल्यवान मानते हैं, मुसलमान भी समानता को मूल्यवान मानते हैं, हिन्दू भी उत्तरदायित्व को मूल्यवान मानते हैं, आदि, आदि। धर्मरिपेक्ष समाज और संस्थाएँ इन सूत्रों को सहर्ष स्वीकार करते हैं और मज़हबी यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों और हिन्दुओं को सहर्ष अंगीकार करते हैं, बशर्ते कि जब धर्मनिरपेक्ष संहिता मज़हबी सिद्धान्तों से टकराने की स्थिति में हो, तो मज़हबी सिद्धान्त रास्ते से हट जाएँ। उदाहरण के लिए, धर्मनिरपेक्ष समाज में स्वीकार्यता हासिल करने के लिए कट्टरपन्थी यहूदियों से अपेक्षित है कि वे ग़ैर-यहूदियों को अपनी बराबरी का दर्ज़ा दें, ईसाइयों से अपेक्षित है कि वे विधर्मियों को स्टेक पर जलाने से परहेज़ करें, मुसलमानों से अपेक्षित है कि वे अभिव्यक्ति की

स्वतन्त्रता का अनिवार्यतः सम्मान करें, और हिन्दुओं से अपेक्षित है कि वे अनिवार्यतः जाति-आधारित पक्षपात करना बन्द करें।

इसके विपरीत, ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है कि मज़हबी लोगों को ईश्वर के अस्तित्व से इंकार कर देना चाहिए या पारम्परिक अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों को त्याग देना चाहिए। धर्मनिरपेक्ष दुनिया लोगों का मूल्यांकन उनकी प्रिय वेशभूषाओं और अनुष्ठानों की बजाय उनके आचरण के आधार पर करती है। कोई व्यक्ति वेशभूषा से सम्बन्धित निहायत ही अजीबोग़रीब क़िस्म के साम्प्रदायिक नियमों को अपना सकता है और नितान्त विचित्र क़िस्म के मज़हबी अनुष्ठानों का पालन कर सकता है, लेकिन इस सब के साथ वह मूलभूत धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के अनुरूप आचरण कर सकता है। दुनिया में बहुत-से यहूदी वैज्ञानिक, ईसाई पर्यावरणवादी, मुसलमान नारीवादी और हिन्दू मानवाधिकार कार्यकर्ता हैं। अगर वे सत्य के प्रति, करुणा के प्रति, समानता और स्वतन्त्रता के प्रति निष्ठा रखते हैं, तो वे धर्मनिरपेक्ष दुनिया के पूर्ण सदस्य हैं, इसकी नितान्त कोई वज़ह नहीं है कि उनसे उनके यामाकाज़ (परम्परावादी यहूदियों द्वारा पहनी जाने वाली टोपियाँ), सलीबें, हिजाब या तिलक हटाने को कहा जाए।

इसी के चलते, धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का मतलब एक ऐसा निषेधात्मक विचार भी नहीं है, जो बच्चों को ईश्वर में आस्था न रखने और किसी तरह के मज़हबी जश्न में शामिल न होने की शिक्षा देता हो। इसकी बजाय, धर्मनिरपेक्ष शिक्षा बच्चों को सत्य और आस्था के बीच फ़र्क़ करने, उनको तमाम दुखियों के प्रति करुणा विकसित करने, पृथ्वी के सारे नागरिकों की प्रज्ञा और अनुभवों की सराहना करने, अज्ञात के भय से मुक्त होकर सोचने और अपने कृत्यों के प्रति तथा समग्र दुनिया के प्रति उत्तरदायी होने की सीख देती है।

क्या स्तालिन धर्मनिरपेक्ष थे?

इसलिए धर्मरिपेक्षता में नैतिक प्रतिबद्धताओं या सामाजिक उत्तरदायित्वों के अभाव का आरोप लगाते हुए उसकी आलोचना करना बेबुनियाद है। दरअसल, धर्मनिरपेक्षता की समस्या इससे ठीक उलटी है। वह सम्भवतः नैतिकता के मापदण्ड को बहुत ऊँचा बनाकर रखती है। ज़्यादातर लोग इस तरह की बहुत अधिक की माँग करने वाली संहिता पर खरे नहीं उतरते, और बड़े समाज सत्य और करुणा की उन्मुक्त तलाश के आधार पर संचालित नहीं हो सकते। विशेष रूप से आपातकालीन पारिस्थितियों- जैसे कि युद्ध या आर्थिक संकट के दौरान - समाजों को तत्परता के साथ और सशक्त ढंग से कार्रवाई करना अनिवार्य होता है, भले ही वे इस बारे में सुनिश्चित न हों कि सत्य क्या है और ऐसा सर्वाधिक करुणामय कर्म क्या है, जिसे किया जाना चाहिए। उनको स्पष्ट मार्गदर्शन की,

आकर्षक नारों की और युद्ध के उत्प्रेरक आह्वानों की ज़रूरत होती है। चूँकि सन्देहास्पद अटकलों के आधार पर सैनिकों को युद्ध पर भेजना या क्रान्तिकारी आर्थिक सुधारों को लागू करना मुश्किल है, इसलिए धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन बार-बार कट्टरपन्थों में तब्दील हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए, कार्ल मार्क्स ने इस घोषणा के साथ शुरुआत की थी कि सारे मज़हब दमनकारी धोखे हैं, और उन्होंने अपने अनुयायियों को स्वयं ही विश्वव्यवस्था की वास्तविक प्रकृति की पड़ताल के लिए प्रोत्साहित किया था। बाद के दशकों में क्रान्ति और युद्ध के दबावों ने मार्क्सवाद को सख़्त बना दिया, और स्तालिन के आते-आते सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का अधिकृत विचार यह बन गया कि विश्वव्यवस्था इतनी पेचीदा है कि वह जनसाधारण की समझ से परे है, इसलिए हमेशा पार्टी के विवेक पर भरोसा करना और जो वह कहे, वही करना ही श्रेयस्कर है, भले ही वह गुपचुप तरीक़े से दसियों लाख लोगों को क़ैद करती हो और नेस्तनाबूद कर देती हो। यह बात भद्दी लग सकती है, लेकिन जैसा कि पार्टी के विचारधारापरस्त लोग इस बात को समझाते हुए कभी थकते नहीं हैं कि क्रान्ति कोई पिकनिक नहीं है, और अगर आप ऑमलेट चाहते हैं, तो आपको कुछ अण्डे फोड़ने ही पड़ेंगे।

इसलिए स्तालिन को एक धर्मनिरपेक्ष नेता के रूप में देखना चाहिए या नहीं, यह मसला इस पर निर्भर करता है कि आप धर्मनिरपेक्षता को किस तरह से परिभाषित करते हैं। अगर हम न्यूनतम नकारात्मक परिभाषा का इस्तेमाल करें - 'धर्मनिरपेक्ष लोग ईश्वर में आस्था नहीं रखते' - तो स्तालिन निश्चय ही धर्मनिरपेक्ष था। अगर हम सकारात्मक परिभाषा का इस्तेमाल करें - 'धर्मनिरपेक्ष लोग तमाम अवैज्ञानिक मतों को ख़ारिज़ करते हैं और सत्य, करुणा और स्वतन्त्रता के प्रति प्रतिबद्ध होते हैं - तो मार्क्स एक धर्मनिरपेक्ष दिग्गज थे, लेकिन स्तालिन क़तई धर्मनिरपेक्ष नहीं था। वह ईश्वरविहीन, किन्तु अत्यन्त कट्टर मज़हब स्तालिनिज़्म का पैग़म्बर था।

स्तालिनवाद कोई अकेला उदाहरण नहीं है। राजनीतिक परिदृश्य के दूसरे छोर पर पूँजीवाद की शुरुआत भी एक उदारमनस्क वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में हुई थी, लेकिन वह धीरे-धीरे एक कट्टर मत के रूप में दृढ़ होता गया। बहुत-से पूँजीवादी ज़मीनी वास्तविकताओं की परवाह किए बिना मुक्त बाज़ार और आर्थिक समृद्धि के मन्त्र को दोहराते रहते हैं। आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण या निजीकरण के जो भी डरावने परिणाम कभी-कभी सामने आते रहते हैं, उनको पूँजीवाद में सच्ची आस्था रखने वाले लोग महज़ 'विकासजन्य पीड़ाएँ' ('ग्रोइंग पेन्स') कहकर ख़ारिज़ करते रहते हैं, और आश्वासन देते रहते हैं कि थोड़ी-सी और समृद्धि आने पर सब कुछ ठीक हो जाएगा।

मध्यमार्गी उदारवादी लोकतान्त्रिक सत्य और करुणा के धर्मनिरपेक्ष साधनों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक निष्ठावान रहे हैं, लेकिन कभी-कभी वे तक इसे सान्त्वना देने वाले मतों

के पक्ष में त्याग देते हैं। जैसे कि जब क्रूर तानाशाहियों और विफल राज्यों से उदारवादियों का सामना होता है, तो वे अक्सर आम चुनावों के प्रभावशाली अनुष्ठान में सन्देहरहित आस्था प्रकट करते हैं। वे युद्ध लड़ते हैं और इराक़, अफ़गानिस्तान और कांगो जैसी जगहों पर अरबों डॉलर इस दृढ़ विश्वास के साथ ख़र्च करते हैं कि आम चुनाव इन जगहों को जादुई ढंग से डेनमार्क के उज्ज्वल संस्करण में बदल देंगे। यह निरन्तर विफलताओं के बावजूद और इस तथ्य के बावजूद होता है कि उन जगहों पर भी जहाँ आम चुनावों की एक सुस्थापित परम्परा है, ये अनुष्ठान कभी-कभी लोकलुभावन सर्वसत्तावादियों को सत्ता में ले आते हैं, और बहुसंख्यक तानाशाहियों से ज़्यादा बड़ी किसी चीज़ में फलित नहीं होते। अगर आप आम चुनावों के कथित औचित्य पर सवाल उठाने की कोशिश करेंगे, तो आपको गुलाग में तो नहीं भेज दिया जाएगा, लेकिन इसकी पूरी सम्भावना है कि आपको कट्टरपन्थी भर्त्सनाओं की तीखी बौछार का सामना करना पड़े।

निश्चय ही, सारे कट्टरवादी मत समान रूप से नुक़सानदेह नहीं होते। जिस तरह से कुछ मज़हबी विश्वासों ने मानवता का हित किया है, उसी तरह कुछ धर्मनिरपेक्ष मतों ने भी किया है। यह बात विशेष रूप से मानवाधिकारों के सिद्धान्त के बारे में सही है। अधिकारों का अस्तित्व जिस एकमात्र जगह पर होता है, वह वे क़िस्से हैं, जिनको एक-दूसरे को सुनाने के लिए मनुष्यों ने ईजाद किया होता है। इन क़िस्सों को मज़हबी कट्टरता और निरंकुश हुकूमतों के ख़िलाफ़ संघर्ष के दौरान स्वतःसिद्ध मतों के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया था, हालाँकि यह सही नहीं है कि मनुष्यों को जीवन या स्वतन्त्रता का कुदरती हक़ मिला हुआ नहीं है, तब भी इस क़िस्से में विश्वास ने सर्वसत्तावादी हुकूमतों की शक्ति को नियन्त्रित किया था, अल्पसंख्यकों को नुक़सान से बचाया, और निर्धनता तथा हिंसा के निकृष्टतम परिणामों से अरबों लोगों की हिफ़ाज़त की। इस तरह इसने मनुष्यता के सुख और कल्याण के लिए सम्भवतः इतिहास के किसी भी अन्य सिद्धान्त के मुक़ाबले ज़्यादा योगदान किया।

तब भी वह एक सिद्धान्त तो है ही। इसीलिए मानवाधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र का अनुच्छेद 19 कहता है कि "हर किसी को अपना मत व्यक्त करने और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार है।" अगर हम समझते हैं कि यह एक राजनीतिक माँग है ('हर किसी को अपना मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी *चाहिए*'), तो यह पूरी तरह से तर्कसंगत है, लेकिन अगर हम यह मानते हैं कि हर सेपियन्स 'मत व्यक्त करने के अधिकार' से कुदरती तौर पर सम्पन्न हैं, और इसलिए इसमें कटौती किसी कुदरती उसूल का उल्लंघन है, तो हम मनुष्यता के सत्य को जानने से चूक रहे होते हैं। जब तक आप स्वयं को 'अविच्छेद्य नैसर्गिक अधिकारों से सम्पन्न व्यक्ति' के रूप में परिभाषित करते रहेंगे, आप यह नहीं जान पाएँगे कि आप वास्तव में कौन हैं, और आप उन ऐतिहासिक

शक्तियों को नहीं समझ पाएँगे, जिन्होंने आपके समाज और स्वयं आपके दिमाग़ को (जिसमें 'नैसर्गिक अधिकारों' में आपका विश्वास शामिल है) गढ़ा है।

इस तरह की अज्ञानता शायद बीसवीं सदी में कम महत्त्व रखती थी, जब लोग हिटलर और स्तालिन से लड़ने में व्यस्त थे, लेकिन यही अज्ञानता इक्कीसवीं सदी में घातक साबित हो सकती है, क्योंकि जैवप्रौद्योगिकी और आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस अब मनुष्यता-मात्र की परिभाषा बदलने की कोशिश कर रहे हैं। अगर हम जीवन के अधिकार के प्रति प्रतिबद्ध हैं, तो क्या इसका अभिप्राय यह है कि हमें मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए जैवप्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करना चाहिए? अगर हम आज़ादी के मूल्य से प्रतिबद्ध हैं, तो क्या हमें उन ऐल्गरिदमों को सशक्त बनाना चाहिए, जो हमारी छिपी हुई आकांक्षाओं को समझ लेते हैं और उनको सन्तुष्ट कर देते हैं? अगर सारी मानवता को समान मानवाधिकार प्राप्त हैं, तो क्या अतिमानवों को अतिशय अधिकार मिलने चाहिए? इस तरह के सवालों से उलझने में धर्मनिरपेक्ष लोगों को तब तक कठिनाई होगी, जब तक कि वे 'मानवाधिकारों' में कट्टर आस्था से प्रतिबद्ध बने रहेंगे।

मानवाधिकारों का सिद्धान्त पिछली सदी में धर्मपरीक्षण, *आँसियाँ रिज़ीम,* (1789 की क्रान्ति से पहले की फ़्रांस की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था), नाज़ियों और केकेके (कू क्लक्स क्लान यानी गोरों की नस्ल को श्रेष्ठ मानने वाला अमेरिका का नस्लवादी समूह) के ख़िलाफ़ एक हथियार के रूप में गढ़ा गया था। इसलिए यह सिद्धान्त अतिमानवों, साइबोर्गों और अतिशय बुद्धिमान कम्प्यूटरों से निपटने में सक्षम नहीं है। जहाँ मानवाधिकार आन्दोलनों ने मज़हबी पक्षपातों और आततायी इंसानों के ख़िलाफ़ तर्कों और बचावों का प्रभावशाली शस्त्रागार खड़ा कर रखा है, वहीं यह शस्त्रागार उपभोक्तवादी अतिचारों और प्रौद्योगिकीय स्वप्नलोकों के ख़िलाफ़ हमारा बचाव शायद ही कर सके।

परछाईं को पहचान

धर्मनिरपेक्षतावाद को स्तालिनवादी कट्टरता या पश्चिमी साम्राज्यवाद और बेलगाम औद्योगिकीकरण की बराबरी पर रखकर नहीं देखा जाना चाहिए, लेकिन यह उनकी सारी ज़िम्मेदारी से अपने कन्धे भी नहीं झाड़ सकता। धर्मनिरपेक्ष आन्दोलनों और वैज्ञानिक संस्थाओं ने परिपूर्ण मानवता के आश्वासन और हमारी प्रजाति के हित में भूग्रह की उदारता का भरपूर उपयोग करने के आश्वासन के साथ अरबों लोगों को सम्मोहित किया है। इस तरह के आश्वासन सिर्फ़ महामारियों और अकालों पर विजय पाने के नतीजों के रूप में ही सामने नहीं आए हैं, बल्कि वे गुलागों और हिमशिखरों के पिघलने के रूप में भी सामने आए हैं। आप शायद तर्क दे सकते हैं कि ये सब उन लोगों की ग़लतियाँ हैं, जिन्होंने मूलभूत

धर्मरिपेक्ष आदर्शों और विज्ञान के वास्तविक तथ्यों को ग़लत समझा है और उनको विकृत किया है। और आपका यह कहना एकदम सही होगा, लेकिन यह सारे प्रभावशाली आन्दोलनों की एक आम समस्या है।

उदाहरण के लिए, ईसाइयत धर्मपरीक्षणों, धर्मयुद्धों, सारी दुनिया की मूल संस्कृतियों के दमन, और स्त्रियों को निर्बल करने जैसे भीषण अपराधों के लिए ज़िम्मेदार रही है। कोई ईसाई इस बात से आहत हो सकता है और मुँहतोड़ जवाब देते हुए कह सकता है कि ये सारे अपराध ईसाइयत की पूरी तरह से ग़लत समझ के नतीजे थे। ईसा ने तो सिर्फ़ प्रेम करने की शिक्षा दी थी, और धर्मपरीक्षण उनकी शिक्षाओं के भयावह विकृतिकरण पर आधारित थे। हम इस दावे के प्रति सहानुभूति रख सकते हैं, लेकिन ईसाइयत को इन आरोपों से इतनी आसानी से पीछा छुड़ाने की छूट देना ग़लत होगा। धर्मपरीक्षण और धर्मयुद्धों से स्तम्भित ईसाई इन अत्याचारों से इतनी आसानी से अपने हाथ नहीं झाड़ सकते। इसकी बजाय उनको स्वयं से कुछ मुश्किल सवाल पूछने चाहिए। आख़िर उनके इस 'प्रेम के मज़हब' ने स्वयं को इस तरह विकृत हो जाने की छूट कैसे दी, और एक बार नहीं, बल्कि कई-कई बार? जो प्रोटेस्टेंट इस सबका दोष कैथोलिक धर्मान्धता के मत्थे मढ़ने की कोशिश करते हैं, उनको सलाह दी जाती है कि वे आयरलैंड या उत्तरी अमेरिका में प्रोटेस्टेंट उपनिवेशवादियों के आचरण के बारे में कोई पुस्तक पढ़ें। इसी तरह, मार्क्सवादियों को स्वयं से पूछना चाहिए कि मार्क्स की शिक्षाओं में ऐसा क्या था, जिसने गुलाग का मार्ग प्रशस्त किया, वैज्ञानिकों को इस पर विचार करना चाहिए कि वैज्ञानिक परियोजना ने भूमण्डल के पारिस्थितिकीय तन्त्र को इतनी आसानी से अस्थिर बनाने के लिए अपना उपयोग कैसे होने दिया, और अनुवांशिकीविदों को विशेष रूप से उस युक्ति को एक चेतावनी की तरह लेना चाहिए, जिसके सहारे नाज़ियों ने डार्विन के सिद्धान्तों का अपहरण किया था।

हरेक मज़हब, विचारधारा और पन्थ की अपनी परछाईं होती है, और आप जिस किसी भी पन्थ का अनुसरण करें, आपको अपनी परछाईं को स्वीकार करना चाहिए और इस बचकाने भुलावे से बचना चाहिए कि 'यह हमारे साथ नहीं हो सकता'। धर्मनिरपेक्ष विज्ञान ज़्यादातर पारम्परिक मज़हबों के मुक़ाबले कम-से-कम एक मामले में बहुत बेहतर स्थिति में है, और वह यह है कि वह अपनी परछाईं से भयभीत नहीं है, और वह अपनी ग़लतियों तथा अपनी पहुँच की सीमाओं को सिद्धान्ततः स्वीकार करने को तत्पर होता है। अगर आप किसी अलौकिक सत्ता द्वारा उजागर किए गए किसी परम सत्य में विश्वास करते हैं, तो आप ख़ुद को कोई ग़लती स्वीकार करने की छूट नहीं दे सकते, क्योंकि यह चीज़ आपके समूचे क़िस्से को ही रद्द कर देगी, लेकिन अगर आप ग़लतियाँ कर सकने वाले इंसानों की सत्य की जिज्ञासा में विश्वास करते हैं, तो गम्भीर भूलों को स्वीकार करना खेल का स्वाभाविक अंग है।

यही इस बात की भी वज़ह है कि ग़ैर कट्टरपन्थी धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन अपेक्षाकृत संयमित वादे करते हैं। अपनी अपूर्णताओं के प्रति सजग होने के नाते वे छोटे-छोटे क्रमिक परिवर्तनों को लाने की उम्मीद करते हैं, जैसे कि न्यूनतम मज़दूरी में कुछ डॉलर की वृद्धि या बाल-मृत्यु दर में कुछ प्रतिशत की कमी लाना। यह कट्टरपन्थी विचारधाराओं का लक्षण है कि वे अपने अतिशय आत्मविश्वास की वज़ह से अक्सर असम्भव कुछ कर गुज़रने की क़समें खाती हैं। उनके नेता अत्यन्त मुक्त ढंग से 'शाश्वतता', 'शुचिता' और 'मुक्ति' के बारे में बात करते हैं, मानो कोई क़ानून लागू कर, कोई मन्दिर निर्माण कर या किसी राज्य का कोई हिस्सा जीतकर वे अपने एक ही भव्य करतब के साथ समूची दुनिया की रक्षा कर सकते हों।

जैसे ही हमारे सामने जीवन के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने का सवाल पैदा होता है, तो मैं व्यक्तिगत रूप से उन लोगों पर ज़्यादा भरोसा करता हूँ, जो अपनी अज्ञानता को स्वीकार करते हैं, बजाय उनके जो अचूकता का दावा करते हैं। अगर आप चाहते हैं कि आपका मज़हब, विचारधारा या विश्वदृष्टि दुनिया का नेतृत्व करे, तो आपसे मेरा पहला सवाल यह है : "वह कौन-सी सबसे बड़ी भूल है, जो आपके मज़हब, विचारधारा या विश्वदृष्टि ने की है? उससे क्या ग़लती हुई?" अगर आप कोई संजीदा जवाब नहीं दे सकते, तो मैं तो निश्चय ही आप पर भरोसा नहीं करूँगा।

IV

सत्य

अगर आप विश्व की दुर्दशा से आक्रान्त और भ्रमित महसूस करते हैं, तो आप सही रास्ते पर हैं।
वैश्विक प्रक्रियाएँ इतनी पेचीदा हो चुकी हैं कि कोई भी एक अकेला व्यक्ति उनको नहीं समझ सकता।
तब फिर आप दुनिया की सच्चाई को कैसे जान सकते हैं, और प्रचार तथा ग़लत जानकारी का शिकार होने से कैसे बच सकते हैं?

15

अज्ञानता

आप उससे कम जानते हैं, जितना आप सोचते हैं कि आप जानते हैं

पिछले अध्यायों में वर्तमान युग की कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण समस्याओं और घटनाओं का सर्वेक्षण किया गया है, जिनमें आतंकवाद के बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखे गए ख़तरे से लेकर प्रौद्योगिकीय अराजकता के बहुत कम करके आँके गए ख़तरे तक शामिल हैं। अगर आप इस टीस के अहसास से भर उठे हैं कि यह सब आपकी पकड़ से परे है, और आप इस सबको प्रॉसेस नहीं कर सकते, तो आपका सोचना बिल्कुल सही है। कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता।

पिछली कुछ सदियों में उदारवादी चिन्तन ने तर्क-बुद्धि से लैस व्यक्ति में अपरिमित विश्वास विकसित किया है। इसने मानव-व्यक्तियों को तर्क-बुद्धि से युक्त स्वाधीन कारकों के रूप में चित्रित किया है, और इन मिथिकीय जन्तुओं को आधुनिक समाज के आधार के रूप में प्रतिष्ठित किया है। लोकतन्त्र इस विचार पर आधारित है कि मतदाता सबसे बेहतर समझता है, मुक्त-बाज़ार अर्थव्यवस्था मानती है कि ग्राहक हमेशा सही होता है, और उदारवादी शिक्षा छात्रों को स्वयं ही सोचने की सीख देती है।

लेकिन तर्क-बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति में इतना ज़्यादा भरोसा रखना एक ग़लती है। उत्तरउपनिवेशवादी और नारीवादी चिन्तकों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि यह 'तर्क-बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति' उच्च-वर्गीय गोरों की स्वायत्तता और शक्ति का महिमामण्डन करने वाली एक उग्र राष्ट्रवादी पश्चिमी फ़न्तासी भी हो सकती है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है व्यवहारवादी अर्थशास्त्रियों और विकासवादी मनोवैज्ञानिकों ने इस बात को दर्शाया है कि

मनुष्यों के अधिकांश निर्णय तार्किक विश्लेषणों की बजाय भावनात्मक प्रतिक्रियाओं और अनुमानपरक शॉर्टकटों पर आधारित होते हैं। हमारी भावनाएँ और अनुमान शायद पाषाणयुगीन जीवन से निपटने के लिए उपयुक्त रहे हों, लेकिन इस सिलिकॉन युग में वे दुःखद रूप से अनुपयुक्त हैं।

सिर्फ़ तर्कबुद्धि ही नहीं, बल्कि वैयक्तिकता भी एक मिथक है। इंसान स्वयं बहुत कम सोचते हैं। इसकी बजाय, हम समूहों में सोचते हैं। जिस तरह एक बच्चे को बड़ा करने के लिए एक समूचा क़बीला ज़रूरी होता है, उसी तरह कोई औज़ार विकसित करने के लिए, किसी तक़रार को सुलझाने के लिए, या किसी रोग का उपचार करने के लिए एक क़बीला ज़रूरी होता है। कोई भी व्यक्ति वह सब कुछ नहीं जानता, जो एक कैथेड्रल, एक अणु बम, या एक वायुयान तैयार करने के लिए जानना ज़रूरी होता है। जिस चीज़ ने *होमो सेपियन्स* को दूसरे प्राणियों से श्रेष्ठ बनाया और हमें इस ग्रह के स्वामी में बदल दिया, वह हमारी व्यक्तिगत तर्कबुद्धि नहीं थी, बल्कि विशाल समूहों में एक साथ मिलकर सोचने की हमारी बेमिसाल क़ाबिलियत थी।

अलग-अलग इंसान दुनिया के बारे में शर्मनाक ढंग से बहुत कम जानते हैं, और इतिहास के विकसित होने के साथ-साथ उनका यह ज्ञान उत्तरोत्तर कम होता गया। पाषाण युग की एक शिकारी-संग्रहकर्ता स्त्री अपने ख़ुद के कपड़े तैयार करना, आग सुलगाना, खरगोशों का शिकार करना और शेरों से बचना जानती थी। हम समझते हैं कि हम आज ज़्यादा जानते हैं, लेकिन व्यक्तियों के रूप में हम दरअसल बहुत कम जानते हैं। हम अपनी लगभग तमाम ज़रूरतों के मामले में दूसरों की दक्षता पर निर्भर करते हैं। अभिमान कम करने वाले एक प्रयोग के तहत लोगों से एक सवाल किया गया, जिसका उद्देश्य यह जानना था कि वे एक साधारण ज़िप के काम करने के ढंग के बारे में कितना ठीक-से समझते हैं। ज़्यादातर लोगों ने आत्मविश्वासपूर्वक जवाब दिया कि वे बहुत अच्छी तरह समझते हैं - आख़िरकार, वे सारे वक़्त ज़िप का इस्तेमाल करते ही हैं। इसके बाद उनसे ज़िप की कार्यप्रणाली का यथासम्भव विस्तार के साथ वर्णन करने को कहा गया। ज़्यादातर लोगों को इसकी कोई जानकारी नहीं थी। यही वह चीज़ है जिसे स्टीवेन स्लोमन और फ़िलिप फ़र्नबाख़ ने 'ज्ञान का भ्रम' की संज्ञा दी है। बावजूद इसके कि हम व्यक्तिगत तौर पर बहुत कम जानते हैं, तब भी हम सोचते हैं कि हम बहुत कुछ जानते हैं, क्योंकि हम दूसरे लोगों के दिमाग़ में भरे ज्ञान को कुछ इस तरह मानते हैं, जैसे वह हमारा अपना ज्ञान हो।

यह ज़रूरी तौर पर बुरी बात नहीं है। सामूहिक विचार-प्रक्रिया पर हमारी निर्भरता ने हमें दुनिया के स्वामियों में बदल दिया है, और ज्ञान का भ्रम हमें स्वयं ही हर चीज़ को समझने की असम्भव कोशिश में फँसे बिना जीवन को पार करने में सक्षम बनाता है। एक विकासवादी परिप्रेक्ष्य में देखें, तो दूसरों के ज्ञान पर भरोसा *होमो सेपियन्स* के लिए बहुत कारगर साबित हुआ है।

तब भी जिस तरह उन बहुत-से दूसरे इंसानी लक्षणों के साथ हुआ, जो अतीत के युगों में मायने रखते थे, लेकिन जिन्होंने आधुनिक युग में मुश्किल पैदा की, उसी तरह ज्ञान के भ्रम का भी अपना नकारात्मक पहलू है। दुनिया उत्तरोत्तर पहले से ज़्यादा जटिल होती जा रही है, और लोग यह समझने में विफल होते जा रहे हैं कि जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसके बारे में वे किस क़दर अज्ञानता से भरे हैं। नतीजतन, कुछ लोग हैं, जो मौसमविज्ञान या जीवविज्ञान के बारे में लगभग कुछ भी नहीं जानते, तब भी वे जलवायु-परिवर्तन और जनेटिक ढंग से संशोधित फ़सलों से सम्बन्धित नीतियाँ प्रस्तावित करते हैं। वहीं कुछ दूसरे लोग हैं, जो इराक़ या उक्रेन को लेकर क्या कार्रवाइयाँ की जानी चाहिए, इस बारे में अत्यन्त सख़्त दृष्टिकोण रखते हैं, जबकि वे इन मुल्कों को नक़्शे पर पहचान तक नहीं सकते। बहुत कम होता है जब लोग अपनी अज्ञानता को स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे स्वयं को अपने ही जैसे सोच-विचार रखने वाले दोस्तों और स्वतःप्रमाणित न्यूज़फ़ीड्स के प्रतिध्वनि-कक्ष में बन्द करके रखते हैं, जहाँ उनके विश्वासों को लगातार बल मिलता रहता है और उनको लगभग न के बराबर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

लोगों को ज़्यादा और बेहतर जानकारी उपलब्ध कराने से स्थितियों के सुधरने की सम्भावना नहीं है। वैज्ञानिक बेहतर वैज्ञानिक शिक्षा के माध्यम से ग़लत दृष्टिकोणों को हटाने की उम्मीद करते हैं, और जानकार लोग सटीक तथ्यों तथा विशेषज्ञों की रिपोर्टें पेश कर ओबामाकेयर या ग्लोबल वार्मिंग जैसे मुद्दों पर जनमत को प्रभावित करने की उम्मीद करते हैं। इस तरह की उम्मीदें लोगों के सोचने के वास्तविक ढंग के बारे में ग़लतफ़हमी पर टिकी होती हैं। हमारे ज़्यादातर दृष्टिकोण वैयक्तिक तर्कबुद्धि की बजाय सामुदायिक स्तर के सामूहिक सोच-विचार के माध्यम से गढ़े गए होते हैं, और सामूहिक निष्ठा के चलते हम इन दृष्टिकोणों से चिपके रहते हैं। लोगों पर तथ्यों की बौछार करने और उनकी व्यक्तिगत अज्ञानता को उजागर करने के नतीजे उलटे और ख़तरनाक हो सकते हैं। ज़्यादातर लोग बहुत ज़्यादा तथ्य पसन्द नहीं करते, और वे बेवक़ूफ़ महसूस करना तो निश्चय ही पसन्द नहीं करते। यह मानकर मत चलिए कि आप टी पार्टी समर्थकों के समक्ष सांख्यिकीय आँकड़ों के पत्रक पेश कर उनको ग्लोबल वर्मिंग की सच्चाई के बारे में यक़ीन दिला सकते हैं। सामूहिक विचार की शक्ति की व्यापकता इतनी अधिक होती है कि उसकी पकड़ को तोड़ना उस वक़्त भी मुश्किल होता है, जब उसके दृष्टिकोण किंचित मनमाने प्रतीत होते हैं। इसीलिए संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणपन्थी अनुदारवादी प्रदूषण और विलुप्तप्राय प्रजातियों जैसी चीज़ों की चिन्ता की ओर उतने प्रवृत्त नहीं होते, जितने वामपन्थी प्रगतिशील होते हैं। यही वज़ह है कि लूसियाना के पर्यावरण-सम्बन्धी नियम मैसाचुसेट्स के नियमों की तुलना में काफ़ी कमज़ोर हैं। हम इस स्थिति के अभ्यस्त हैं, इसलिए हम इसकी ओर ख़ास ध्यान नहीं देते, लेकिन यह सचमुच ख़ासे आश्चर्य की बात है। आपको लगता होगा कि अनुदारवादी लोग पुरानी पारिस्थितिकीय व्यवस्था के संरक्षण, और अपनी

पैतृक ज़मीनों, जंगलों और नदियों की रक्षा की ज़्यादा चिन्ता करते होंगे। इसके विपरीत, प्रगतिशीलों से देहाती इलाक़ों में मूलगामी परिवर्तनों के प्रति अधिक खुला रवैया अपनाने की अपेक्षा की जा सकती होगी, विशेष रूप से तब, जबकि लक्ष्य प्रगति को रफ़्तार देने और मनुष्य के जीवन-स्तर को उन्नत बनाने का हो, लेकिन जैसे ही विभिन्न और विचित्र ऐतिहासिक संयोगों के माध्यम से पार्टी का रुख तय हो गया, वैसे ही प्रदूशित नदियों और लुप्त होते परिन्दों की चिन्ताओं को ख़ारिज़ करना अनुदारवादियों के लिए सहज स्वाभाविक हो गया, वहीं वामपन्थी प्रगतिशील पुरानी पारिस्थितिकीय व्यवस्था में किसी तरह की गड़बड़ी को लेकर भयभीत होने लगे।

यहाँ तक कि वैज्ञानिक भी सामूहिक विचार की शक्ति के प्रभाव में आने से नहीं बच पाते। नतीजतन, जो वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि तथ्य जनमत को बदल सकते हैं, वे स्वयं भी वैज्ञानिक समूह-चिन्तन के शिकार हो सकते हैं। वैज्ञानिक समुदाय तथ्यों की प्रभावशीलता में विश्वास करता है, इसलिए उस समुदाय में निष्ठा रखने वाले लोग यह विश्वास जारी रखते हैं कि विपरीत निष्कर्षों की ओर ले जाने वाले अनुभवपरक साक्ष्यों के बावजूद वे सही तथ्य पेश करते हुए सार्वजनिक बहस को जीत सकते हैं।

इसी तरह, वैयक्तिक तर्कबुद्धि में उदारवादी विश्वास स्वयं भी उदारवादी समूह-चिन्तन का फल हो सकता है। मोंटी पायथन की फ़िल्म *लाइफ़ ऑफ़ ब्रियान* के एक चरम क्षण में हसीन ख़्वाबों से भरे अनुयायियों की एक विशाल भीड़ ब्रियान को मसीहा समझने की भूल कर बैठती है। ब्रियान अपने इन अनुयायियों से कहता है, ‘आपको मेरा अनुसरण करने की ज़रूरत नहीं है, आपको किसी का भी अनुसरण करने के ज़रूरत नहीं है! आपको ख़ुद ही सोचने की ज़रूरत है! आप सब स्वतन्त्र व्यक्ति हैं! आप सब एक-दूसरे से अलग हैं!’ मोंटी पायथन 1960 के दशक की प्रतिसांस्कृतिक कट्टरता की नक़ल कर रहे थे, लेकिन मुद्दा सामान्य तौर पर तार्किक व्यक्तिवाद में आस्था के सन्दर्भ में सही हो सकता है। आधुनिक लोकतन्त्र इस तरह के सामूहिक नारे लगाने वालों की भीड़ों से भरे हुए हैं कि ‘हाँ, मतदाता सबसे बेहतर समझता है! हाँ, ग्राहक हमेशा सही होता है!’

सत्ता का ब्लैक होल

समूह-चिन्तन और व्यक्तिगत अज्ञानता की समस्या केवल साधारण मतदाताओं और ग्राहकों का ही नहीं, बल्कि राष्ट्रपतियों और चीफ़ एक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़िसरों का भी सिरदर्द है। उनके पास ढेरों सलाहकार और विशाल ख़ुफ़िया एजेंसियाँ हो सकती हैं, लेकिन ज़रूरी नहीं कि इससे स्थिति बेहतर हो जाती हो। जब आप दुनिया पर हुकूमत कर रहे हों, तब सत्य का पता लगा पाना बेहद मुश्किल होता है। आप कुछ ज़्यादा ही व्यस्त होते हैं।

ज़्यादातर राजनीतिक मुखिया और कारोबारी मुग़ल हमेशा हड़बड़ी में होते हैं, लेकिन अगर आप किसी विषय की गहराई में जाना चाहते हैं, तो आपको ढेर-सारे वक़्त की ज़रूरत होती है, और विशेष रूप से आपको वक़्त बर्बाद करने की विशेष सुविधा का मिलना ज़रूरी होता है। आपको व्यर्थ रास्तों को आज़माने, आपको बन्द गलियों की छानबीन करने, सन्देहों और ऊब को गुंजाइश देने, और अन्तर्दृष्टि के छोटे-छोटे बीजों को प्रस्फुटित और फलने-फूलने की गुंजाइश देने की ज़रूरत होती है। अगर आप इस तरह वक़्त बर्बाद करने की स्थिति में नहीं हैं, तो आप सत्य को कभी नहीं जान सकते।

और भी बदतर बात यह है कि बड़ी शक्तियाँ सत्य को अपरिहार्यतः विकृत करती हैं। सत्ता वास्तविकता को उसके वास्तविक स्वरूप में देखने की बजाय उसको बदलने में विश्वास रखती है। जब आपके हाथ में हथौड़ा होता है, तो आपको हर चीज़ एक कील जैसी प्रतीत होती है, और जब आपके हाथों में बहुत अधिक सत्ता होती है, तो आपको हर चीज़ दख़लन्दाज़ी के लिए एक आमन्त्रण जैसी प्रतीत होती है। अगर आप किसी तरह इस तीव्र इच्छा पर क़ाबू पा भी लें, तो जिन लोगों से आप घिरे हैं, वे उस हथौड़े को कभी नहीं भूलेंगे, जो आपने थाम रखा है। आपसे बात करने वाले हर व्यक्ति के मन में एक सुविचारित या अविचारित कार्यसूची होगी, इसलिए वे जो कुछ भी कहेंगे, उसमें आप कभी भी पूरी तरह विश्वास नहीं कर पाएँगे। कोई भी सुलतान अपने दरबारियों और मातहतों पर कभी भी इतना भरोसा नहीं कर सकता कि वे उसके सामने सच कह सकें।

बड़ी शक्ति इस तरह एक ऐसे ब्लैक होल के रूप में काम करती है, जो अपने आस-पास के हर स्पेस को विकृत कर देता है। आप उसके जितने ही ज़्यादा क़रीब जाते हैं, हर चीज़ उतनी ही तोड़ी-मरोड़ी गई होती जाती है। आपकी कक्षा में प्रवेश करते ही हर शब्द को अतिरिक्त वज़नदार बना दिया गया होता है, और जिस किसी भी व्यक्ति से आप मिलते हैं, वह आपकी चाटुकारिता करने, आपको ख़ुश करने, आपसे कुछ हासिल करने की कोशिश करता है। वे जानते हैं कि आप उनको दो-एक मिनिट से ज़्यादा वक़्त नहीं दे सकते, और वे डरे होते हैं कि उनकी ज़बान से कोई अनुचित या गड़बड़ बात न निकल जाए, इसलिए अन्त में वे या तो खोखले नारे लगाते हैं या सबसे ज़्यादा घिसी-पिटी बातें करने लगते हैं।

कुछ साल पहले मुझे इज़रायल के प्रधानमन्त्री बेन्यामिन नेतनयाहू के साथ डिनर के लिए आमन्त्रित किया गया था। मेरे दोस्तों ने मुझे वहाँ न जाने की चेतावनी दी थी, लेकिन मैं अपने लोभ का संवरण नहीं कर सका। मैं सोचता था कि मुझे ऐसी कुछ बड़ी रहस्य की बातें सुनने को मिलेंगी, जो बन्द दरवाज़ों के पीछे केवल महत्त्वपूर्ण कानों को ही सुनने को मिलती हैं, लेकिन वह मुलाक़ात किस क़दर निराशाजनक थी! वहाँ लगभग तीस लोग थे, और हर कोई उस महान आदमी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने, अपनी हाज़िरजवाबी से उसको प्रभावित करने, उसकी चाटुकारिता कर उसका समर्थन या कुछ

और हासिल करने की कोशिश में लगा हुआ था। अगर वहाँ मौजूद किन्हीं लोगों को किसी बड़े रहस्य की कोई जानकारी थी, तो वे उस रहस्य को अपने तक सीमित रखने का अत्यन्त महान काम कर रह थे। इसमें नेतनयाहू की शायद ही कोई ग़लती थी, या यूँ कहें कि दरअसल किसी की भी ग़लती नहीं थी। ग़लती थी सत्ता के गुरुत्वाकर्षण बल की।

अगर आप सत्य जानना चाहते हैं, तो आपको सत्ता के ब्लैक होल से दूर जाने, और बाहरी सतहों पर यहाँ-वहाँ भटकते हुए ख़ुद को ढेर सारा समय बर्बाद करने की गुंजाइश देने की ज़रूरत है। क्रान्तिकारी ज्ञान के केन्द्र तक पहुँच पाना दुर्लभ ही होता है, क्योंकि केन्द्र स्थापित ज्ञान पर खड़ा होता है। सत्ता के केन्द्र तक किसकी पहुँच हो, इसका निर्धारण सामान्य तौर पर पुरानी व्यवस्था के रखवाले करते हैं, और वे बाधा पहुँचाने वाले अपारम्परिक विचारों के वाहकों को निकाल बाहर करने की कोशिश करते हैं। निश्चय ही वे अपरिमित तादाद में कचरे को भी हटा देते हैं। दावोस वर्ल्ड इकॉनॉमिक फ़ोरम में आमन्त्रित न किया जाना प्रज्ञा की गारंटी शायद ही हो। इसीलिए आपको बाहरी सतहों पर इतना अधिक समय बर्बाद करना ज़रूरी होता है। उनमें कुछ विलक्षण क्रान्तिकारी अन्तर्दृष्टियाँ मौजूद हो सकती हैं, लेकिन वे ज़्यादातर अज्ञानपूर्ण अनुमानों, अपनी क़लई खो चुके मॉडलों, अन्धविश्वासपूर्ण मतों और षड्यन्त्र की हास्यास्पद अटकलों से भरी होती हैं।

नेतागण इस तरह एक दोहरे बन्धन में जकड़े होते हैं। अगर वे सत्ता के केन्द्र में बने रहते हैं, तो उनको दुनिया की एक अत्यन्त विकृत तसवीर देखने को मिलेगी। अगर वे हाशियों पर भटकते रहते हैं, तो वे अपना बहुत सारा क़ीमती वक़्त बर्बाद करेंगे। और समस्या और भी बदतर होती जाएगी। आने वाले दशकों में यह दुनिया आज की तुलना में और भी ज़्यादा पेचीदा हो जाने वाली है। इसके नतीजे में अलग-अलग मनुष्य - वे चाहे प्यादे हो या राजा - उन प्रौद्योगिकीय यन्त्रें के बारे में, आर्थिक प्रवृत्तियों के बारे में, और राजनीतिक गतियों के बारे में और भी कम जानते होंगे। जैसा कि 2,000 साल से भी ज़्यादा पहले सुकरात ने अवलोकन किया था, इस तरह की परिस्थितियों में सबसे अच्छा यही है कि हम अपनी व्यक्तिगत अज्ञानता को स्वीकार करें।

लेकिन तब नैतिकता और न्याय का क्या होगा? अगर हम दुनिया को समझ ही नहीं सकते, तो फिर हम सही और ग़लत के बीच, न्याय और अन्याय के बीच भेद करने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं?

16

न्याय

हमारा न्याय-बोध शायद पुराना हो गया है

हमारे तमाम दूसरे बोधों की तरह ही हमारे न्याय-बोध की भी प्राचीन विकासवादी जड़ें हैं। मनुष्य की नैतिकता ने विकास की उस लाखों वर्ष लम्बी प्रक्रिया के दौरान आकार लिया था, जो उन सामाजिक और नैतिक धर्मसंकटों से निपटने के अनुरूप ढली थी, जो शिकारी-संग्रहकर्ताओं के छोटे-छोटे क़बीलों में अप्रत्याशित रूप से प्रकट होते रहते थे। अगर मैं आपके साथ शिकार करने जाता और मैंने एक हिरण को मारा होता था, जबकि आपके हाथ कुछ भी नहीं लगा होता था, तो क्या मुझे अपने लूट के माल को आपके साथ साझा करना चाहिए था? अगर आप मशरूम इकट्ठा करने गए होते और टोकरी भर मशरूम लेकर आए होते, तो क्या यह तथ्य कि मैं आपसे ज़्यादा मज़बूत हूँ, मुझे इस बात की गुंजाइश देता है कि मैं वे सारे मशरूम आपसे छीनकर अपने पास रख लूँ? और अगर मुझे पता होता कि आप मेरी हत्या करने का षड्यन्त्र रच रहे हैं, तो क्या यह ठीक होता कि मैं पहले ही कार्रवाई करते हुए आधी रात को आपका गला काट देता?

ऊपरी तौर पर, जब से हम अफ़्रीका के घास के मैदानों को छोड़कर नगरीय जंगल में आ बसे हैं, तब से बहुत ज़्यादा बदलाव नहीं आया है। हमें लग सकता है कि जिन सवालों का सामना आज हम कर रहे हैं - सीरियाई गृह युद्ध, वैश्विक ग़ैरबराबरी, ग्लोबल वर्मिंग - वे काफ़ी हद तक वही पुराने सवाल हैं, लेकिन यह एक भ्रम है। आकार मायने रखता है, और बहुत-से दूसरे दृष्टिकोणों की ही तरह, न्याय के दृष्टिकोण से हम अभी भी उस दुनिया के अनुरूप ठीक से नहीं ढल सके हैं, जिसमें हम रहते हैं।

समस्या मूल्यों की नहीं है। इक्कीसवीं सदी के नागरिक चाहे मज़हबी हों या धर्मनिरपेक्ष हों, उनके पास बड़ी तादाद में मूल्य हैं। समस्या इस जटिल भूमण्डलीय जगत

में उन मूल्यों को क्रियान्वित करने की है। सारी ग़लती संख्याओं की है। भोजन-खोजियों का न्याय-बोध एक-दूसरे के निकट रह रहे सैकड़ों लोगों की ज़िन्दगियों से ताल्लुक़ रखने वाली दुविधाओं के साथ तालमेल बैठाने के हिसाब से गढ़ा हुआ था। जब हम तमाम महाद्वीपों में फैले लाखों लोगों के बीच के रिश्तों को समझने की कोशिश करते हैं, तो हमारा नैतिक बोध पराजित हो जाता है।

न्याय महज़ अमूर्त मूल्यों के एक समुच्चय भर की माँग नहीं करता, वह ठोस कारण-कार्य सम्बन्धों की समझ की माँग भी करता है। अगर आपने अपने बच्चों का पेट भरने के लिए मशरूम इकट्ठे किए होते थे और मैं बलपूर्वक आपसे मशरूम की वह टोकरी छीन लेता, तो इसका मतलब था कि आपका सारा किया-धरा पानी में मिल जाता और आपके बच्चों को भूखा सो जाना पड़ता, जो कि अन्यायपूर्ण होता। इस बात को समझना आसान है, क्योंकि यहाँ कारण-कार्य सम्बन्ध को देख पाना आसान है। बदक़िस्मती से, आधुनिक भूमण्डलीय दुनिया का एक अन्तर्निहित लक्षण यह है कि इसके कारण-कार्य सम्बन्ध बहुत-सी शाखाओं में फैले और जटिल हैं। मैं किसी की तरफ़ अंगुली उठाए बिना शान्तिपूर्वक अपने घर में रह रहा हो सकता हूँ, और तब भी वामपन्थी कार्यकर्ताओं के मुताबिक़ मैं इज़रायली सैनिकों और वेस्ट बैंक के उपनिवेशवादियों द्वारा किए गए अत्याचारों में पूरी तरह से भागीदार हो सकता हूँ। समाजवादियों के मुताबिक़ मेरा सुख-चैन से भरा जीवन तीसरी दुनिया के दारुण कारख़ानों में काम कर रहे बाल-श्रमिकों पर टिका हुआ है। पशु-कल्याण के पैरोकार मुझे याद दिलाते हैं कि मेरा जीवन इतिहास के सबसे भयावह अपराधों से गुँथा हुआ है - खाने के लिए तैयार किए जाने वाले अरबों जानवरों का शोषण की क्रूरतापूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत अधीनीकरण।

क्या मुझे वाक़ई इस सबके लिए दोषी ठहराया जाना चाहिए? इसका जवाब आसान नहीं है। चूँकि मैं अपने अस्तित्व के लिए आर्थिक और राजनीतिक रिश्तों के एक चकरा देने वाले तन्त्र पर निर्भर हूँ, और चूँकि भूमण्डलीय कारण-कार्य रिश्ते आपस में बेहद उलझे हैं, इसलिए मुझे इस तरह के सरलतम सवालों का जवाब देने तक में मुश्किल पेश आती है कि मेरा दोपहर का भोजन कहाँ से आता है, जो जूते मैं पहनता हूँ, उनको किसने बनाया है, मेरी पेंशन निधि मेरे पैसे के साथ क्या कर रही है।

नदियों को चोरी

एक आदिमकालीन शिकारी-संग्रहकर्ता अच्छी तरह से जानती थी कि उसका दोपहर का भोजन कहाँ से आता था (वह उसने ख़ुद ही जुटाया होता था), वह जानती थी कि उसकी जूतियाँ किसने बनाई थीं (उनको बनाने वाला उससे बीस मीटर की दूरी पर सो रहा होता

था), और वह जानती थी कि उसकी पेंशन निधि क्या कर रही होती थी (वह कीचड़ में खेल रही होती थी। तब लोगों की एक ही पेंशन-निधि हुआ करती थी - 'बच्चे' नाम की पेंशन-निधि)। मैं उस शिकारी-संग्रहकर्ता की तुलना में बहुत ज़्यादा अज्ञानी हूँ। वर्षों का शोध इस तथ्य को सामने ला सकता है कि जिस सरकार को मैंने वोट दिया था, वह दुनिया के दूसरे छोर पर बैठे किसी सन्दिग्ध तानाशाह को गुपचुप तरीक़े से हथियार बेच रही है, लेकिन जब तक मुझे इस बात की जानकारी होती है, उस दौरान मैं इनसे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण खोजों से वंचित रह गया हो सकता हूँ, जैसे कि उन चूज़ों की नियति से, जिनके अण्डे मैंने डिनर में खाए थे।

व्यवस्था कुछ इस तरह गढ़ी हुई है कि जो लोग जानने का कोई उद्यम नहीं करते, वे परम अज्ञानता की स्थिति में बने रह सकते हैं, और जो लोग इसके लिए उद्यम करते हैं, उनके लिए सच्चाई को जानना बहुत मुश्किल साबित हो सकता है। जब वैश्विक आर्थिक तन्त्र अनवरत रूप से मेरी ओर से और मेरी जानकारी के बिना चुराने के काम में लगा हो, तब चोरी करने से बचना कैसे मुमकिन है? इससे अन्तर नहीं पड़ता कि आप कर्मों को उनके फलों के आधार पर परखते हैं (जैसे कि आप सोचते हैं कि चोरी करना इसलिए ग़लत है, क्योंकि इससे चोरी का शिकार व्यक्ति दुःखी होता है), या आप उन निरपेक्ष कर्तव्यों में विश्वास करते हैं, जिनका पालन उनके फलों की परवाह किए बिना किया जाना चाहिए (जैसे कि चोरी करना इसलिए ग़लत है क्योंकि ईश्वर ने ऐसा कहा है)। समस्या यह है कि हम वास्तव में जो कुछ कर रहे होते हैं, वह इतना उलझ चुका है कि उसको समझ पाना मुश्किल है।

चोरी न करने का ईश्वरीय आदेश उस समय गढ़ा गया था, जब चोरी करने का मतलब भौतिक रूप से ख़ुद अपने हाथों से कोई ऐसी चीज़ उठा लेना होता था, जो आपकी नहीं होती थी, लेकिन आज चोरी से सम्बन्धित वास्तविक महत्त्वपूर्ण तर्क नितान्त भिन्न परिदृश्यों से ताल्लुक़ रखता है। मान लीजिए कि मैं एक बड़े पैट्रोकैमिकल कॉर्पोरेशन के शेयर में 10,000 डॉलर का निवेश करता हूँ, जो मुझे मेरे इस निवेश पर सालाना 5 % रिटर्न उपलब्ध कराता है। यह कॉर्पोरेशन बहुत लाभदायक है, क्योंकि उसको एक्सटर्नल्टिज़ के लिए दण्डित नहीं होना पड़ता। वह क्षेत्रीय जल-आपूर्ति, जनता के स्वास्थ्य, या स्थानीय वन्य-जीवन के लिए पहुँचने वाले नुक़सानों की परवाह किए बिना ज़हरीले कचरे को पास की नदी में फेंक देता है। वह अपनी दौलत का इस्तेमाल कर ऐसे वकीलों की फ़ौज खड़ी करता है, जो हर्जाने की किसी भी तरह की माँग के ख़िलाफ़ उसका बचाव करती है। वह ऐसे लॉबिस्ट्स को भी अपने पास बनाए रखता है, जो पर्यावरण सम्बन्धी किन्हीं सख़्त क़ानूनों के निर्माण की किसी भी कोशिश में अड़ंगा डालते हैं।

क्या हम इस कॉर्पोरेशन पर 'नदी को चुराने' का आरोप लगा सकते हैं? और व्यक्तिगत रूप से मेरे बारे में क्या कहा जाएगा? मैंने कभी किसी के घर का ताला नहीं तोड़ा या कभी किसी के बटुए से एक रुपया भी नहीं चुराया। मुझे इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि यह कॉर्पोरेशन अपना मुनाफ़ा किस तरह कमाता है। मुझे तो यह तक ठीक से याद नहीं है कि मेरे पोर्टफ़ोलियो का एक हिस्सा इसमें निवेशित है। तब क्या मैं चोरी का अपराधी हूँ? जब हमारे पास तमाम प्रासंगिक तथ्यों को जानने का कोई उपाय ही नहीं है, तब हम नैतिक आचरण कैसे कर सकते हैं?

आप 'इरादों की नैतिकता' अपनाकर इस समस्या से बचने की कोशिश कर सकते हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि मेरा इरादा क्या था, न कि यह कि वास्तव में मैं क्या करता हूँ और जो कुछ करता हूँ, उसका फल क्या होता है, लेकिन एक ऐसी दुनिया में जिसमें हर चीज़ आपस में जुड़ी हुई है, जानने की अनिवार्यता सबसे बड़ी नैतिक अनिवार्यता बन जाती है। आधुनिक इतिहास के सबसे भीषणतम अपराध महज़ घृणा और लालच के नतीजे नहीं हैं, बल्कि उनसे ज़्यादा वे अज्ञानता और उदासीनता के नतीजे हैं। जिन आकर्षक अँग्रेज़ महिलाओं ने अफ़्रीका या कैरेबिया में कभी क़दम भी नहीं रखे थे, वे लन्दन के शेयर बाज़ार में शेयर और बॉण्ड ख़रीदकर अटलांटिक ग़ुलाम व्यापार को वित्तीय साधन उपलब्ध कराती थीं। इसके बाद वे नारकीय बाग़ानों (जिनके बारे में वे कुछ नहीं जानती थीं) में पैदा की गई झक्क सफ़ेद शकर की क्यूब्स से शाम की अपनी चाय को मीठा करती थीं।

जर्मनी में 1930 के दशक के आख़िरी वर्षों में स्थानीय पोस्ट-ऑफ़िस मैनेजर अपने कर्मचारियों के कल्याण की चिन्ता करने वाला, और ग़ायब हो चुके पार्सलों को खोजने में परेशान लोगों की व्यक्तिगत रूप से मदद करने वाला ईमानदार नागरिक हो सकता था। वह अपने काम पर सबसे पहले पहुँचने वाला और वहाँ से सबसे अन्त में जाने वाला व्यक्ति होता था, और बर्फ़ की आँधियों के दिनों में भी सुनिश्चित करता था कि लोगों की डाक समय पर पहुँचे। आह! उसका कार्यकुशल और आतिथ्यपूर्ण पोस्ट-ऑफ़िस नाज़ी सरकार के स्नायु-तन्त्र की एक मर्मस्पर्षी कोशिका जैसा था। वह नस्लवादी प्रचार, वेहरमाख़्ट के भर्ती आदेशों, और स्थानीय एसएस ब्रांच के सख़्त आदेशों के समानान्तर चला करता था। उन लोगों के इरादों में कोई खोट होता है, जो जानने की कोई ईमानदार कोशिश नहीं करते।

लेकिन 'जानने की ईमानदार कोशिश' क्या है? क्या हर देश के पोस्टमास्टरों को उनके द्वारा पहुँचाई जाने वाली हर डाक को खोलकर देखना चाहिए, और अगर उनको उनमें कोई सरकारी प्रचार दिखाई देता है, तो क्या उनको त्याग-पत्र दे देना चाहिए या विद्रोह कर देना चाहिए? 1930 के दशक के नाज़ी जर्मनी को पूर्ण नैतिक निश्चयात्मकता के भाव से मुड़कर देखना आसान है, क्योंकि हम जानते हैं कि कारण-कार्य की शृंखला कहाँ ले गई थी, लेकिन पष्चात दृष्टि के लाभ के बिना नैतिक निश्चयात्मकता हमारी पहुँच से परे हो

सकती है। कड़वी सच्चाई यह है कि हमारे शिकारी-संग्रहकर्ता दिमाग़ों के लिहाज़ से दुनिया कुछ ज़्यादा ही जटिल बन चुकी है।

समकालीन दुनिया के ज़्यादातर अन्याय व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों की बजाय बड़े पैमाने के ढाँचागत पक्षपातों का परिणाम होते हैं, और हमारे शिकारी-संग्रहकर्ता दिमाग़ ढाँचागत पक्षपातों का पता लगा लेने के लिए विकसित नहीं हुए हैं। इस तरह के कम-से-कम कुछ पक्षपातों में हम सबकी भागीदारी है, और उन सबका पता लगाने का न तो हमारे पास वक़्त है, न ऊर्जा है। इस पुस्तक को लिखते हुए मुझे व्यक्तिगत रूप से सीख मिली है। वैश्विक मुद्दों की चर्चा करते हुए मैं हमेशा विभिन्न वंचित समूहों के दृष्टिकोणों पर वैश्विक कुलीन वर्ग के दृष्टिकोणों को वरीयता देने का ख़तरा उठा रहा होता हूँ। यह वैश्विक कुलीन वर्ग संवाद को नियन्त्रित करता है, इसलिए इसके दृष्टिकोणों से चूकना असम्भव है। इसके विपरीत वंचित समूहों का मुँह नियमित रूप से बन्द किया जाता रहा है, इसलिए उनके बारे में भूल जाना आसान है - किसी जानी-बूझी दुर्भावना की वज़ह से नहीं, बल्कि निरी अज्ञानता की वज़ह से।

उदाहरण के लिए, मैं तस्मानियाई मूल निवासियों के विशिष्ट दृष्टिकोणों और समस्याओं के बारे में क़तई कुछ भी नहीं जानता। वाक़ई, मैं इतना कम जानता हूँ कि मैंने अपनी एक पिछली पुस्तक में यहाँ तक मान लिया था कि तस्मानियाई मूल निवासियों का अब अस्तित्व तक नहीं है, क्योंकि उनको यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने पूरी तरह ख़त्म कर दिया था। दरअसल, आज हज़ारों ऐसे लोग जीवित हैं, जो अपनी वंशावली को तस्मानिया की मूल निवासियों की आबादी से जोड़कर देखते हैं, और वे बहुत-सी विशिष्ट समस्याओं से जूझ रहे हैं। इनमें से एक यह है कि उनके अस्तित्व से प्रायः इंकार किया जाता है, ख़ासतौर से पढ़े-लिखे अध्येताओं द्वारा।

यहाँ तक कि अगर आप व्यक्तिगत रूप से वंचितों के किसी समूह से सम्बन्ध रखते हैं, और आपको उसके दृष्टिकोण की गहरी सीधी जानकारी है, तब भी इसका मतलब यह नहीं है कि आप ऐसे दूसरे समूहों के दृष्टिकोणों को भी समझते हैं, क्योंकि हर समूह और उपसमूह अलग-अलग तरह की बाधाओं, दोहरे मापदण्डों, कूटबद्ध अपमानों और पक्षपातों का सामना कर रहा है। तीस साल के एक अफ़्रीकी अमेरिकी पुरुष का इस बात को लेकर तीस साल पुराना अनुभव है कि अफ़्रीकी अमेरिकी पुरुष होने का क्या मतलब होता है, लेकिन एक अफ़्रीकी अमेरिकी स्त्री होने, बुल्गारियाई रोमा होने, एक नेत्रहीन रूसी होने या एक चीनी समलैंगिक स्त्री होने का क्या अर्थ है, इस बारे में उसका कोई अनुभव नहीं है।

बड़े होने के साथ-साथ इस अफ़्रीकी अमेरिकी पुरुष को पुलिस द्वारा बिना किसी ज़ाहिर वज़ह के बार-बार रोका गया था और उसकी तलाशी ली गई थी, जो एक ऐसा अनुभव था, जिससे उस चीनी समलैंगिक स्त्री को कभी नहीं गुज़रना पड़ा। इसके विपरीत,

एक अफ़्रीकी अमेरिकी मोहल्ले में एक अफ़्रीकी अमेरिकी परिवार में जन्मे होने का मतलब था कि वह अपने ही जैसे उन लोगों से घिरा रहा, जिन्होंने उसको वह सब सिखाया, जो एक अफ़्रीकी अमेरिकी के रूप में जीवित बने रहने और फलने-फूलने के लिए उसको सीखना ज़रूरी था। वह चीनी समलैंगिक स्त्री किसी समलैंगिक पड़ोस में किसी समलैंगिक परिवार में नहीं जन्मी थी, और मुमकिन है कि उसको महत्त्वपूर्ण सीखें देने के लिए दुनिया में कोई न रहा हो। इसलिए बाल्टीमोर में अश्वेत के रूप में बड़ा होना हांग्ज़ो में एक समलैंगिक स्त्री के रूप में बड़े होने के संघर्ष को समझना आसान नहीं बना देता।

पिछले युगों में यह बात बहुत कम मायने रखती थी, क्योंकि आप दुनिया के दूसरे छोर पर रह रहे लोगों की दुर्दशा के लिए शायद ही ज़िम्मेदार होते थे। अगर आप अपने कम सौभाग्यशाली पड़ोसियों के साथ सहानुभूति स्थापित करने की कोशिश करते थे, तो इतना भर आमतौर से काफ़ी होता था, लेकिन आज जलवायु परिवर्तन और आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस जैसी चीज़ों के बारे में जारी बड़ी वैश्विक बहसों का प्रभाव हर किसी पर पड़ता है - चाहे वे लोग तस्मानिया के हों, हांग्ज़ो के हों या बाल्टीमोर के हों - इसलिए हमें सारे दृष्टिकोणों को ध्यान में रखना ज़रूरी है, लेकिन कोई भी व्यक्ति यह कैसे कर सकता है? कोई भी व्यक्ति सारी दुनिया में एक-दूसरे को विभाजित करते हज़ारों समूहों के बीच के रिश्तों के जाल को कैसे समझ सकता है?

छोटा करें या इंकार करें?

हम अगर सचमुच ऐसा चाहते भी हों, तब भी हममें से ज़्यादातर लोग अब दुनिया की बड़ी नैतिक समस्याओं को समझने में सक्षम नहीं रह गए हैं। लोग दो भोजन-खोजियों के बीच के, बीस भोजन-खोजियों के बीच के, या दो पड़ोसी कुटम्बां के बीच के रिश्तों को समझ सकते हैं, लेकिन वे कई लाख सीरियाइयों के बीच के रिश्तों को, 50 करोड़ यूरोपियों के बीच के रिश्तों को, या भूग्रह के एक-दूसरे से विभाजित सारे समूहों और उपसमूहों के बीच के रिश्तों को समझने की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं।

इस पैमाने की नैतिक दुविधाओं को समझने और परखने की कोशिश में लोग अक्सर चार पद्धतियों में से किसी एक पद्धति का सहारा लेते हैं। पहली है, मुद्दे को छोटा करके देखना : सीरियाई गृहयुद्ध को इस तरह समझना, जैसे वह दो भोजन-खोजियों के बीच घटित हो रहा हो, असद की शासन-प्रणाली की एक व्यक्ति के रूप में और विद्रोहियों की एक दूसरे व्यक्ति के रूप में कल्पना करना, जिनमें एक व्यक्ति अच्छा है और दूसरा बुरा। इससे टकराव की ऐतिहासिक जटिलता की जगह एक सीधा-सादा, स्पष्ट कथानक ले लेता है।

दूसरी पद्धति है किसी मार्मिक मानवीय क़िस्से पर ध्यान केन्द्रित करना, जो प्रकट रूप से समूचे टकराव का प्रतिनिधित्व करता है। जब आप सांख्यिकी और सटीक आँकड़ों के माध्यम से टकराव की सच्ची जटिलता के बारे में लोगों को समझाने की कोशिश करते हैं, तो आप उनको गँवा देते हैं, लेकिन किसी एक बच्चे की नियति के बारे में कोई निजी क़िस्सा आँसुओं की झड़ी लगा देता है, ख़ून खौला देता है, और छद्म नैतिक अवश्यम्भाविता को पैदा कर देता है। यह वह चीज़ है, जिसको लम्बे समय तक बहुत-सी कल्याणकारी संस्थाएँ समझती रही हैं। एक उल्लेखनीय उदाहरण के तहत, माली की राकिया नामक सात साल की एक ग़रीब बच्ची की मदद के लिए लोगों से पैसों का दान देने को कहा गया था। उस बच्ची का क़िस्सा सुनकर बहुत-से लोग विचलित हो उठे और उन्होंने अपने दिल और बटुए खोल दिए, लेकिन जब अध्येताओं ने रोकिया के निजी क़िस्से के साथ-साथ अफ़्रीका में ग़रीबी की व्यापक समस्या से सम्बन्धित आँकड़े लोगों के सामने पेश किए, तो लोग अचानक मदद करने को लेकर कम तत्पर हो उठे। एक अन्य अध्ययन के तहत, अध्येताओं ने या तो किसी एक बीमार बच्चे की या आठ बीमार बच्चों की सहायता के लिए दान की याचना की। लोगों ने आठ के समूह की बजाय अकेले बच्चे के लिए ज़्यादा पैसा दिया।

बड़े पैमाने की नैतिक दुविधाओं से निपटने की तीसरी पद्धति षड्यन्त्र के क़िस्से गढ़ने की है। वैश्विक अर्थव्यवस्था किस तरह काम करती है, और वह अच्छी है या बुरी है? इसकी जटिलता को समझ पाना बहुत मुश्किल काम है। इस तरह की कल्पना करना ज़्यादा आसान है कि ख़ुद को समृद्ध बनाने के लिए बीस बहुखरबपति मिलकर पर्दे के पीछे से डोरियाँ खींच रहे हैं, मीडिया को नियन्त्रित कर रहे हैं और युद्धों को भड़का रहे हैं। यह लगभग हमेशा ही एक निराधार कल्पना होती है। समकालीन दुनिया बहुत ज़्यादा जटिल है, सिर्फ़ हमारे न्याय-बोध के लिहाज़ से ही नहीं, बल्कि हमारी प्रबन्धकीय क़ाबिलियतों के लिहाज़ से भी। कोई भी - बहुखरबपति, सीआईए, फ़्रीमैसन्स और एल्डर्स ऑफ़ ज़िऑन समेत कोई भी नहीं जानता कि दुनिया में क्या चल रहा है। इसलिए कोई भी प्रभावशाली ढंग से डोरियाँ खींचने में सक्षम नहीं है। ये तीनों पद्धतियाँ दुनिया की वास्तविक जटिलता से इंकार करने की कोशिश करती हैं। चौथी और अन्तिम पद्धति है किसी पन्थ की रचना करना, किसी तथाकथित सर्वज्ञ सिद्धान्त, संस्था या मुखिया को अपनी आस्था सौंप देना, और वे जहाँ कहीं भी ले जाएँ, वहाँ उनका अनुसरण करना। मज़हबी और विचारधारात्मक पन्थ हमारे इस वैज्ञानिक युग में अभी भी बेहद आकर्षक बने हुए हैं, क्योंकि वे हमें यथार्थ की हताश कर देने वाली जटिलता से दूर एक सुरक्षित स्वर्ग का ख़्वाब दिखाते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन भी इस ख़तरे के अपवाद नहीं रहे हैं। अगर आप वैज्ञानिक सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा के साथ तमाम मज़हबी पन्थों के तिरस्कार के साथ भी शुरुआत करते हैं, तब भी आगे-पीछे यथार्थ की

जटिलता इतनी खीझ से भर देने वाली बन सकती है कि आप कोई ऐसा पन्थ गढ़ने की ओर प्रेरित हो जाते हैं, जिस पर सवाल न उठाया जा सके। जहाँ इस तरह के पन्थ लोगों को बौद्धिक राहत और नैतिक निश्चयात्मकता उपलब्ध कराते हैं, वहीं यह बात बहस योग्य बनी रहती है कि क्या वे न्याय भी उपलब्ध कराते हैं।

तब फिर क्या किया जाए? क्या हम उदारवादी मत को अपना लें और स्वतन्त्र मतदाताओं और ग्राहकों के समूह में विश्वास करने लग जाएँ? या हम इस व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को ख़ारिज़ कर दें, और इतिहास की पिछली बहुत-सी संस्कृतियों की भाँति एक *संगठित* दुनिया की अर्थवत्ता की ख़ातिर समुदायों को शक्तिशाली बनाएँ? लेकिन इस तरह का समाधान हमें सिर्फ़ वैयक्तिक अज्ञानता के गरम तवे से हटाकर पक्षपातपूर्ण समूहचिन्तन की आग के हवाले ही कर देता है। शिकारी-संग्रहकर्ता क़बीले, ग्राम्य समुदाय और नगरीय परिवेश तक उन साझा समस्याओं के बारे में विचार कर सकते थे, जिनका उनको सामना करना पड़ता था, लेकिन हम अब किसी वैश्विक समुदाय से वंचित होकर वैश्विक समस्याओं से घिरे हुए हैं। न फ़ेसबुक, न राष्ट्रवाद और न ही मज़हब ऐसा कोई समुदाय रचने के क़रीब है। सारी मौजूदा मानवीय जातियाँ अब वैश्विक सच्चाई को समझने की बजाय अपने विशिष्ट हितों को पूरा करने में व्यस्त हैं। अमेरिकियों, चीनियों, मुसलमानों या हिन्दुओं में से कोई भी 'वैश्विक समुदाय' नहीं है, इसलिए इनमें से किसी की भी यथार्थ की व्याख्या विश्वसनीय नहीं है।

तब क्या हम बहस बन्द कर दें, और ऐलान कर दें कि सत्य को समझने और न्याय प्राप्त करने की मानवीय तलाश नाकामयाब हो चुकी है? क्या हम अधिकृत तौर पर सत्य के बाद (पोस्ट-ट्रुथ) के युग में प्रवेश कर चुके हैं?

17

सत्य के बाद का युग

कुछ झूठी ख़बरें हमेशा के लिए बनी रहती हैं

आजकल हमसे बार-बार कहा जाता है कि हम 'सत्य के बाद' के एक नए और डरावने युग में रह रहे हैं, और झूठों तथा काल्पनिक क़िस्सों का हमारे चारों ओर बोलबाला है। उदाहरणों का मिलना मुश्किल नहीं है। जैसे कि फ़रवरी 2014 में रूस की विशेष टुकड़ियों ने, जिन्होंने फ़ौजी तमगे नहीं पहने हुए थे, उक्रेन पर हमला कर दिया था और क्रीमिया के महत्त्वपूर्ण सैन्य अड्डों पर क़ब्ज़ा कर लिया था। रूसी सरकार और व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति पुतिन ने इस बात का खण्डन किया कि वे रूसी सेनाएँ थीं, और उन्होंने उन्हें ऐसे स्वतःस्फूर्त 'आत्मरक्षात्मक समूहों' के रूप में चित्रित किया, जिन्होंने शायद स्थानीय दुकानों से रूसी जैसे दिखने वाले उपकरण जुटा लिए थे। जिस वक़्त वे यह हास्यास्पद दावा कर रहे थे, पुतिन और उनके सहयोगी अच्छी तरह से जानते थे कि वे झूठ बोल रहे थे।

रूसी राष्ट्रवादी इस झूठ से यह तर्क देकर छुटकारा पा सकते हैं कि यह झूठ एक बड़े सत्य के पक्ष में जाता है। रूस एक न्यायपूर्ण युद्ध में संलग्न था, और अगर एक न्यायपूर्ण ध्येय की ख़ातिर हत्या की जा सकती है, तो झूठ भी क्यों नहीं बोला जा सकता? उक्रेन पर हमले को तथाकथित रूप से न्यायसंगत ठहराने वाला महान ध्येय पवित्र रूसी राष्ट्र का संरक्षण था। रूस के राष्ट्रवादी मिथक के मुताबिक़, रूस एक पवित्र सत्ता है, जो दुष्ट शत्रुओं द्वारा इस पर हमला करने और इसको विखण्डित करने की निरन्तर कोशिशों के बावजूद एक हज़ार साल तक क़ायम रही है। मुग़लों, पोलैंडवासियों, स्वीडियों, नेपोलियन की ग्रेंड आर्मी और हिटलर वेहरमाख़्ट के बाद 1990 के दशक में यह नाटो, संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय यूनियन थे, जिन्होंने इसकी काया के हिस्सों को अलग कर और उक्रेन जैसे

‘छद्म राष्ट्रों’ का निर्माण कर रूस को नष्ट करने की कोशिश की। बहुत-से रूसी राष्ट्रवादियों के लिए यह विचार कि उक्रेन रूस से अलग एक राष्ट्र है, उससे कहीं बड़ा झूठ है, जो रूसी राष्ट्र को पुनर्गठित करने के पवित्र अभियान के दौरान राष्ट्रपति पुतिन ने बोला था।

हो सकता है कि उक्रेनियाई नागरिक, बाहरी पर्यवेक्षक और व्यावसायिक इतिहासकार इस स्पष्टीकरण से ख़फ़ा हुए हों, और उन्होंने इसको रूस की धूर्तता के शस्त्रागार के एक तरह के ‘एटम-बम झूठ’ की तरह देखा हो। यह दावा करना कि एक राष्ट्र और एक स्वतन्त्र देश के रूप में उक्रेन का अस्तित्व ही नहीं है, ऐतिहासिक तथ्यों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त को ख़ारिज़ करता है - उदाहरण के लिए, यह कि रूस की कथित एकता के एक हज़ार सालों के दौरान, कीव और मॉस्को मात्र लगभग 300 वर्षों तक एक ही मुल्क के हिस्से थे। यह अनेक अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों और सन्धियों का उल्लंघन भी करता है, जिनको रूस ने पहले स्वीकार किया हुआ था और जिन्होंने स्वतन्त्र उक्रेन की सम्प्रभुता और सरहदों की रक्षा की थी। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि यह उस चीज़ की उपेक्षा करता है, जो लाखों उक्रेनियाई अपने बारे में सोचते हैं। वे जो कुछ भी हैं, क्या उसके बारे में उनकी बात नहीं सुनी जानी चाहिए?

उक्रेनियाई राष्ट्रवादी रूसी राष्ट्रवादियों से निश्चय ही इस बात पर सहमत होंगे कि उनके आस-पास कुछ छद्म देश हैं, लेकिन उक्रेन उनमें से एक नहीं है। इसकी बजाय, ये छद्म मुल्क हैं ‘लुहान्स्क पीपल्स रिपब्लिक’ और ‘दोनेत्स्क पीपल्स रिपब्लिक’ जिनको रूस ने उक्रेन पर अपने अकारण हमले के लिए मुखौटों की तरह इस्तेमाल करने के लिए खड़ा किया था।

आप जिस किसी भी पक्ष का समर्थन करें, ऐसा प्रतीत होता है कि हम सत्य के बाद के एक भयावह युग में रह रहे हैं, जब न सिर्फ़ विशिष्ट सैन्य घटनाएँ, बल्कि समूचे इतिहास और राष्ट्र भी छद्म हो सकते हैं, लेकिन अगर यह सत्य के बाद का युग है, तो सत्य का प्रशान्त युग ठीक-ठीक कब हुआ करता था? 1980 के दशक में? 1950 के दशक में? और वह क्या चीज़ है, जिसने सत्य के बाद के युग में हमारे संक्रमण को उत्प्रेरित किया - इंटरनेट ने? सोशल मीडिया ने? पुतिन और ट्रम्प के उद्भव ने?

इतिहास पर एक सरसरी निगाह डालने से यह बात ज़ाहिर हो जाती है कि सुनियोजित कुप्रचार और ग़लत सूचना में नया कुछ भी नहीं है, और पूरे-के-पूरे राष्ट्रों के अस्तित्व से इंकार करने तथा छद्म देश गढ़ने की आदत तक की एक लम्बी वंशावली रही है। 1931 में जापानी सेना ने चीन पर अपने हमले को उचित ठहराने के लिए स्वयं पर एक नक़ली हमला किया था, और इसके बाद अपनी विजयों को वैधीकृत करने के लिए मंचूकुओ नामक एक छद्म देश की रचना की थी। स्वयं चीन लम्बे समय तक इस बात से इंकार करता रहा है कि तिब्बत का एक स्वतन्त्र देश के रूप में कभी अस्तित्व रहा है। ऑस्ट्रेलिया में ब्रितानी उपनिवेश को वैधानिक मत *टैर्रा न्यूल्यूस* (‘किसी का मुल्क नहीं’) से उचित

ठहराया गया था, जिसने कारगर ढंग से मूल निवासियों के 50,000 साल लम्बे इतिहास को मिटा दिया था।

बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में एक अत्यन्त प्रिय यहूदीवादी नारा 'एक देश-विहीन जाति (यहूदियों) के एक जाति-विहीन देश (फ़िलिस्तीन) में वापसी की बात करता था। स्थानीय अरब आबादी के अस्तित्व की आसानी के साथ उपेक्षा कर दी गई। 1969 में इज़रायली प्रधानमन्त्री गोल्डा मीर का यह प्रसिद्ध कथन सामने आया कि फ़िलिस्तीनी समाज जैसी कोई चीज़ न तो है और न कभी थी। इस तरह के नज़रिये आज भी इज़रायल में बहुत आम हैं, उस चीज़ के ख़िलाफ़ दशकों से जारी सशस्त्र टकरावों के बावजूद, जिसका अस्तित्व नहीं है। उदाहरण के लिए, फ़रवरी 2016 में सांसद अनत बर्को ने इज़रायल की संसद में एक भाषण दिया था, जिसमें उन्होंने फ़िलिस्तीनी समाज के इतिहास की वास्तविकता पर सन्देह किया था। उनका प्रमाण? जब अरबी भाषा में 'p ' का अस्तित्व तक नहीं है, तब Palestinian समाज हो ही कैसे सकता है? (अरबी में 'p ' के लिए 'r ' है, और Palestine का अरबी नाम Falastine है)।

सत्य के बाद वाली प्रजातियाँ

दरअसल, मनुष्य हमेशा से सत्य के बाद के युग में रहते आए हैं। *होमो सेपियन्स* सत्य के बाद वाली एक प्रजाति है, जिसकी शक्ति गल्पों (फ़िक़्शन्स) की रचना करने और उन पर विश्वास करने पर निर्भर करती है। पाषाण युग से ही स्वतःस्फूर्त मिथकों ने मानवीय समूहों को एकजुट करने की भूमिका निभाई है। सचमुच, *होमो सेपियन्स* ने मुख्यतः गल्पों को गढ़ने और प्रचारित करने की अपनी अनूठी योग्यता के बल पर ही इस भूग्रह पर विजय हासिल की है। हम एकमात्र ऐसे स्तनधारी हैं, जो असंख्य अजनबियों के साथ सहयोग कर सकते हैं, क्योंकि हम काल्पनिक क़िस्से ईजाद कर सकते हैं, उनको चारों ओर फैला सकते हैं, और लाखों दूसरे लोगों को उन पर विश्वास करने के लिए राज़ी कर सकते हैं। जब तक हर कोई एक ही तरह के गल्पों में विश्वास करता रहता है, तब तक हम सब एक ही तरह के क़ानूनों का पालन करते हैं, और इस तरह प्रभावशाली ढंग से आपस में सहयोग कर सकते हैं।

इसलिए अगर आप सत्य के बाद के एक नए और डरावने युग के साथ हमारा परिचय स्थापित करने के लिए फ़ेसबुक, ट्रम्प या पुतिन को दोषी ठहराते हैं, तो याद रखिये कि सदियों पहले ईसाइयों ने स्वयं को एक स्वतःस्फूर्त मिथकीय बुलबुले के भीतर बन्द कर लिया था, जिसके बाद से उन्होंने बाइबल की तथ्यात्मक सच्चाई पर कभी भी सवाल उठाने की हिम्मत नहीं की, वहीं लाखों मुसलमानों ने कुरान के प्रति अपनी निस्संशय आस्था

स्थापित की थी। सहस्राब्दियों तक जो चीज़ें मानवीय सामाजिक तन्त्रें के भीतर 'ख़बरों' और 'तथ्यों' के रूप में स्वीकृत रहीं, उनमें से ज़्यादातर चमत्कारों, देवदूतों, दैत्यों और चुड़ैलों के बारे में गढ़े गए क़िस्से थे, जिनके बारे में साहसिक रिपोर्टर अधोलोक के सबसे गहरे खन्दकों से सीधा प्रसारण किया करते थे। हमारे पास इसका शून्य वैज्ञानिक प्रमाण है कि ईव को सर्प ने ललचाया था, विधर्मियों की आत्माएँ उनकी मृत्यु के बाद नर्क में जलती हैं, या जब कोई ब्राह्मण किसी शूद्र से विवाह करता है, तो सृष्टि के कर्ता को यह बात पसन्द नहीं आती, तब भी अरबों लोग हज़ारों सालों से इन क़िस्सों में विश्वास करते आए हैं। कुछ झूठी ख़बरें हमेशा-हमेशा बनी रहती हैं।

मैं इस बात के प्रति जागरूक हूँ कि बहुत-से लोग मेरे द्वारा मज़हब की तुलना झूठी ख़बरों से किए जाने से परेशान होंगे, लेकिन मुद्दा ठीक यही तो है। जब एक हज़ार लोग किसी गढ़े गए क़िस्से पर एक महीने तक विश्वास करते रहते हैं, तो वह झूठी ख़बर कहलाती है। जब एक अरब लोग उसी क़िस्से पर एक हज़ार साल तक विश्वास करते रहते हैं, तो वह मज़हब कहलाने लगता है, और हमें उसको 'झूठी ख़बर' न कहने की चेतावनी दी जाती है, ताकि हमारे ऐसा कहने से आस्थावानों की भावनाओं को चोट न पहुँचे (या हमें उनका कोप न झेलना पड़े), लेकिन, ध्यान दें कि मैं मज़हब की सार्थकता या उसमें निहित परमार्थ की भावना से इंकार नहीं कर रहा हूँ। बात इसके ठीक विपरीत है। आप इसे ठीक मानें या ग़लत, लेकिन गल्प मनुष्यता के औज़ारों के बक्से के सबसे कारगर औज़ारों में से एक है। मज़हबी पन्थ लोगों को एकजुट करके बड़े पैमाने के मानवीय सहकार को सम्भव बनाते हैं। वे लोगों को सेनाओं और क़ैदख़ानों के साथ-साथ अस्पतालों, स्कूलों और पुलों का निर्माण करने को प्रेरित करते हैं। आदम और ईव का अस्तित्व कभी नहीं था, लेकिन चार्ट्रेस कैथेड्रल तब भी ख़ूबसूरत है। बाइबल का ज़्यादातर हिस्सा काल्पनिक हो सकता है, लेकिन वह तब भी अरबों लोगों को आनन्द से भर सकती है और वह अभी भी मनुष्यों को करुणामय, साहसी और रचनात्मक होने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है- ठीक उसी तरह जैसे *डॉन क़्विक्ज़ोट, वॉर एंड पीस और हैरी पॉटर* जैसी महान गल्पात्मक कृतियाँ करती हैं।

एक बार फिर, कुछ लोग मेरे द्वारा बाइबल की तुलना *हैरी पॉटर* से किए जाने से आहत हो सकते हैं। अगर आप वैज्ञानिक दिमाग़ रखने वाले ईसाई हैं, तो आप बाइबल की सारी चूकों और मिथकों को स्पष्टीकरण के सहारे ख़ारिज़ कर सकते हैं, यह तर्क देते हुए कि यह पवित्र ग्रन्थ कभी भी तथ्यात्मक विवरण के तौर पढ़े जाने के लिए नहीं, बल्कि गहरी प्रज्ञा से ओत-प्रोत एक रूपक-कथा के रूप में पढ़े जाने के लिए लिखा गया थ, लेकिन क्या यही बात हैरी पॉटर के बारे में भी सही नहीं है?

अगर आप एक कट्टरपन्थी ईसाई हैं, तो पूरी सम्भावना है कि आप इस बात पर ज़ोर दें कि बाइबल का एक-एक शब्द शब्दश: सही है। चलिए, हम थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं

कि आप सही हैं, और बाइबल वाक़ई एक सच्चे ईश्वर की अचूक वाणी है। तब फिर आप कुरान, तलमूद, बुक ऑफ़ मोर्मान, वेदों, अवेस्ता और इजिप्षियन बुक ऑफ़ डैड की व्याख्या किस तरह करेंगे? क्या आपके मन में यह कहने का प्रलोभन नहीं जागेगा कि ये पोथियाँ हाड़मांस के इंसानों द्वारा (या शायद शैतान द्वारा) रचे गए लम्बे-चौड़े गल्प हैं? और आप ऑगस्टस और क्लाउडियस जैसे रोमन सम्राटों की दिव्यता को किस रूप में देखेंगे? रोमन सीनेट लोगों को देवताओं में रूपान्तरित कर देने की शक्ति रखने का दावा करती थी, और फिर साम्राज्य की प्रजा से इन देवताओं की उपासना करने की अपेक्षा करती थी। क्या वह एक गल्प नहीं था? सचमुच, हमारे पास इतिहास में कम-से-कम एक ऐसे छद्म देवता का उदाहरण है, जिसने गल्प को ख़ुद अपने मुँह से मान्यता दी थी। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि 1930 के दशक और 1940 के दशक के आरम्भिक वर्षों में जापान का सैन्यवाद सम्राट हिरोहितो की अलौकिकता में उग्र आस्था पर आधारित हुआ करता था। जापान की पराजय के बाद हिरोहितो ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी कि यह सही नहीं था, और वह अन्ततः कोई देवता नहीं था।

इसलिए अगर हम इस पर सहमत भी हो जाएँ कि बाइबल ईश्वर की सच्ची वाणी है, तब भी हमारे पास अरबों हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, मिस्रवासी, रोमन और जापानी बचे रह जाते हैं, जो हज़ारों साल से गल्पों में अपनी आस्था रखते आए हैं। अत्यन्त मज़हबी समाज तक इस बात पर सहमत होंगे कि एक को छोड़कर बाक़ी सारे मज़हब गल्प हैं। एक बार फिर, इसका यह मतलब नहीं है कि ये गल्प अनिवार्यतः व्यर्थ या नुक़सानदायक हैं। वे इसके बावजूद सुन्दर और उत्प्रेरक हो सकते हैं।

निश्चय ही, सारे मज़हबी मिथक समान रूप से परोपकारी नहीं रहे हैं। 29 अगस्त 1255 को हग नामक एक नौ साल के बच्चे का शव लिंकन नगर के एक कुएँ में पाया गया था। फ़ेसबुक और ट्विटर की ग़ैरमौजूदगी के बावजूद यह अफ़वाह बहुत तेज़ी के साथ फैल गई कि हग की हत्या स्थानीय यहूदियों द्वारा की गई थी। लगातार दोहराए जाने से यह क़िस्सा और भी विस्तार लेता गया और उस ज़माने के एक सबसे प्रसिद्ध अँग्रेज़ वृत्तान्तकार मैथ्यू पेरिस ने इस बात का एक विस्तृत और रक्तरंजित ब्योरा उपलब्ध कराया कि किस तरह समूचे इंग्लैंड के प्रमुख यहूदी उस अपहृत बच्चे को मोटा करने, यातना देने और अन्ततः सूली पर लटकाने के लिए लिंकन में एकत्र हुए थे। इस कथित हत्या के लिए उन्नीस यहूदियों पर मुक़दमा चलाया गया और उनको फ़ाँसी दी गई। इसी तरह के ख़ूनी अभियोग इंग्लैड के दूसरे नगरों में भी लोकप्रिय हुए। इनके नतीजे में एक-के-बाद एक तबाहियाँ हुईं, जिनके तहत पूरे-के-पूरे समुदायों का क़त्लेआम किया गया। अन्ततः, 1290 में इंग्लैंड की समूची यहूदी आबादी को देश से बाहर खदेड़ दिया गया।

क़िस्सा यहीं ख़त्म नहीं हुआ। यहूदियों के इंग्लैंड से निष्कासन के एक सदी बाद जेफ्री चौसर - अँग्रेज़ी साहित्य के जनक - ने लिंकन के हग के क़िस्से के आधार पर एक ख़ूनी

कलंक ('द प्रायोरेस'स टेल') का उल्लेख *केंटरबरी टेल्स* में किया। इस क़िस्से का समापन यहूदियों को फाँसी पर लटकाए जाने के साथ होता है। इसी तरह के ख़ूनी कलंक बाद में परवर्ती मध्ययुगीन स्पेन से लेकर आधुनिक रूस तक के हरेक यहूदी-विरोधी आन्दोलन का मुख्य हिस्सा बन गए। इसकी एक सुदूर प्रतिध्वनि 2016 की इस 'झूठी ख़बर' तक में सुनी जा सकती है कि हिलेरी क्लिंटन बच्चों की ख़रीद-फ़रोख़्त करने वाले एक तन्त्र की मुखिया थीं, जो बच्चों को एक लोकप्रिय पिज़्ज़ेरिया के तहख़ाने में यौनपरक ग़ुलामों के रूप में बन्धक बनाकर रखता था। पर्याप्त अमेरिकियों ने इस क़िस्से पर विश्वास कर क्लिंटन के चुनाव अभियान को नुक़सान पहुँचाया, और एक व्यक्ति तो बन्दूक़ लेकर उस पिज़्ज़ारिया तक जा पहुँचा और उसने उसके तहख़ाने को देखने की माँग की (पता चला कि उस पिज़्ज़ारिया में कोई तहख़ाना था ही नहीं)।

जहाँ तक स्वयं लिंकन के हग का सवाल है, कोई नहीं जानता था कि उसकी मृत्यु किस तरह हुई थी, लेकिन उसको लिंकन कैथेड्रल में दफ़नाया गया और उसकी एक सन्त के रूप में पूजा की जाने लगी। उसके बारे में ख्याति थी कि वह तरह-तरह के चमत्कार करता है, और इंग्लैंड से तमाम यहूदियों के निष्कासन के सदियों बाद तक उसकी क़ब्र पर तीर्थयात्रियों का आना जारी रहा। 1955 में जाकर ही - यानी होलोकास्ट के दस साल बाद - लिंकन कैथेड्रल को हत्या के कलंक से मुक्ति मिली, और हग की क़ब्र के क़रीब एक फलक स्थापित किया गया, जिस पर लिखा हुआ है :

> यहूदी समुदायों द्वारा ईसाई बच्चों की 'आनुष्ठानिक हत्याओं' के गढ़े गए क़िस्से मध्य युग के दौरान और उसके बहुत बाद तक भी समूचे यूरोप में आम हुआ करते थे। इन गप्पों की क़ीमत बहुत-से निर्दोष यहूदियों को अपनी जान से चुकानी पड़ी। लिंकन की अपनी किंवदंती है और हत्या के इस कथित शिकार को इस कैथेड्रल में 1255 में दफ़नाया गया था। इस तरह के क़िस्से ईसाइयत की साख को बढ़ाने वाले नहीं हैं।

बहरहाल, कुछ झूठी ख़बरें मात्र 700 साल तक बनी रहती हैं।

एक बार का झूठ, हमेशा के लिए सच्चाई

प्राचीन मज़हब अकेले नहीं थे, जिन्होंने आपसी सहकार को मज़बूत बनाने के लिए गल्प का इस्तेमाल किया था। और भी हाल के युगों में हर राष्ट्र ने अपने स्वयं के राष्ट्रीय मिथकों की रचना की थी, वहीं साम्यवाद, नाज़ीवाद और उदारवाद ने विस्तृत स्वतःस्फूर्त मतों को तराशा था। नाज़ियों के सरकारी प्रचार के उस्ताद और सम्भवतः आधुनिक युग के सबसे

ज़्यादा पारंगत मीडिया-जादूगर जोसेफ़ गोएबल्स के बारे में कहा जाता है कि उसने अपनी पद्धति का सार-संक्षेप यह कहते हुए पेश किया था कि "एक बार बोला गया झूठ, झूठ ही बना रहता है, लेकिन जब किसी झूठ को हज़ार बार बोला जाता है, तो वह सच बन जाता है।" *मैन कम्फ़* में हिटलर ने लिखा था कि "प्रचार की सबसे विलक्षण तकनीक भी तब तक कामयाब नहीं होगी, जब तक कि एक बुनियादी सिद्धान्त को लगातार दिमाग़ में नहीं रखा जाता - इसे ख़ुद को कुछ बातों तक सीमित रखा जाना चाहिए और उन बातों को बार-बार दोहराया जाना चाहिए।" क्या आज के ज़माने का कोई झूठी ख़बर फैलाने वाला इस बात में बढ़त हासिल कर सकता है?

सोवियत सरकारी प्रचार-तन्त्र भी सच्चाई को लेकर उतना ही चुस्त था, जिसने पूरे के पूरे युद्धों से लेकर व्यक्तिगत छायाचित्रों तक हर चीज़ के इतिहास का पुनर्लेखन किया था। 29 जून 1936 को सरकारी समाचार-पत्र *प्रावदा* (जिसका मतलब होता है 'सत्य') के मुखपृष्ठ पर एक तसवीर छपी, जिसमें मुस्कारता जोसेफ़ स्तालिन एक सात-वर्षीय लड़की गेल्या मार्कीज़ोवा को गले लगा रहा था। यह छवि स्तालिनवादी प्रतीक बन गई थी, जो स्तालिन को राष्ट्रपिता के रूप में प्रतिष्ठापित करती थी और 'सुखी सोवियत बचपन' का आदर्शीकरण करती थी। सारे देश के मुद्रणालयों और कारख़ानों ने इस दृश्य को मथकर लाखों पोस्टर, मूर्तिशिल्प और पच्चीकारियाँ तैयार करनी शुरू कर दीं, जिनका प्रदर्शन सोवियत यूनियन के एक सिरे से लेकर दूसरे सिर तक सारी सार्वजनिक संस्थाओं में किया गया। जिस तरह वर्जिन मेरी की मूर्ति के बिना कोई भी रूसी परम्परावादी चर्च अधूरा हुआ करता था, उसी तरह छोटी-सी गेल्या को गोद में उठाए पापा स्तालिन के बिना किसी भी सोवियत स्कूल का काम नहीं चलता था।

आह, स्तालिन के साम्राज्य में प्रसिद्ध प्रायः तबाही के लिए न्योता हुआ करती थी। सालभर के भीतर गेल्या के पिता को इन झूठे आरोपों के आधार पर गिरफ़्तार कर लिया गया कि वह एक जापानी जासूस और त्रेत्स्कीवादी आतंकी था। 1938 में उसको फाँसी की सज़ा दी गई। वह स्तालिनवादी आतंक के लाखों शिकारों में से एक था। गेल्या और उसकी माँ को कज़ाख़्स्तान में निर्वासित कर दिया गया, जहाँ माँ जल्दी ही रहस्यमय परिस्थितियों में मृत पाई गई। अब उन अन्तहीन प्रतीकों का क्या किया जाता, जिनमें 'जन-शत्रु' के रूप में दोषी पाए गए आदमी की बेटी को राष्ट्रपिता के साथ चित्रित किया गया था? कोई समस्या नहीं। उस पल के बाद से, गेल्या मार्कीज़ोवा नदारद हो गई, और उस सर्वव्यापी तसवीर में 'सुखी सोवियत बच्ची' को ममालकत नखान्गोवा के रूप में पहचाना जाने लगा - तेरह वर्षीय ताज़िक लड़की के रूप में, जिसने खेतों से कर्मठतापूर्वक ढेर सारा कपास चुनकर ऑर्डर ऑफ़ लेनिन हासिल किया था (अगर कोई सोचता कि तसवीर की वह लड़की तेरह साल की नहीं लगती थी, तो उनमें इतनी अक़्ल हुआ करती थी कि इस तरह की प्रति-क्रान्तिवादी विधर्मिता को स्वर नहीं देना चाहिए)।

सरकारी सोवियत प्रचार-तन्त्र इतना दक्ष था कि वह मुल्क के अन्दर के राक्षसी अत्याचारों को छिपाने और मुल्क के बाहर स्वर्ग के सपनों को प्रक्षेपित करने में कामयाब होता था। आज उक्रेनियाई शिकायत करते हैं कि पुतिन ने क्रीमिया और डोन्बस में रूसी कार्रवाइयों के बारे में पश्चिमी मीडिया के बहुत-से केन्द्रों के साथ सफलतापूर्वक छल किया है, लेकिन छल की कला में वे स्तालिन के सामने शायद ही टिक सकते हों। 1930 के दशक के शुरुआती दौर में वामपन्थी घड़े के पश्चिमी पत्रकार और बुद्धिजीवी यूएसएसआर की एक आदर्श समाज के रूप में एक ऐसे वक़्त में सराहना किया करते थे, जब उक्रेनियाई और दूसरे सोवियत नागरिक लाखों की संख्या में उस मनुष्यकृत अकाल से मर रहे थे, जिसकी योजना स्तालिन ने रची थी। जहाँ फ़ेसबुक और ट्विटर के इस युग में कभी-कभी यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि घटनाओं के किस प्रारूप पर विश्वास किया जाए, वहीं आज किसी शासन व्यवस्था के लिए यह सम्भव नहीं रह गया है कि वह दुनिया की जानकारी में आए बिना लाखों लोगों की हत्या कर दे।

मज़हबों और विचारधाराओं के अलावा वाणिज्यिक फ़र्में भी गल्प और झूठी ख़बरों पर निर्भर करती हैं। ब्रांड तैयार करने में अक्सर एक ही काल्पनिक क़िस्से को तब तक बार-बार दोहराना ज़रूरी होता है, जब तक कि लोगों को उसकी सच्चाई पर यक़ीन नहीं हो जाता। जब आप कोका-कोला के बारे में सोचते हैं, तब आपके दिमाग़ में कौन-सी तसवीरें उभरती हैं? आप खेलों में लगे और मिलजुल कर मौज मनाते तन्दुरुस्त नौजवानों के बारे में सोचते हैं? या आप अस्पताल के बिस्तर पर पड़े डायबिटीज़ के भारी-भरकम मरीज़ों के बारे में सोचते हैं? ढेर सारा कोका-कोला पीने से आप नौजवान नहीं हो जाएँगे, तन्दुरुस्त नहीं हो जाएँगे, और न आप हृष्टपुष्ट खिलाड़ी बन जाएँगे - इसकी बजाय उससे आपका मोटापा बढ़ने और डायबिटीज़ होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाएँगी। तब भी दशकों से कोका-कोला ने स्वयं को नौजवानी, तन्दुरुस्ती और खेल से जोड़ने पर अरबों डॉलर ख़र्च किए हैं - और अरबों इंसान अनजाने ही इस रिश्ते में विश्वास करते हैं।

सच्चाई यह है कि सच्चाई *होमो सेपियन्स* की कार्यसूची में शीर्ष पर कभी रही ही नहीं है। बहुत-से लोग ऐसा मानकर चलते हैं कि अगर कोई मज़हब या विचारधारा वास्तविकता का ग़लत निरूपण करती होगी, तो उसके अनुयायियों को आगे-पीछे हर हाल में इसका पता चल जाएगा, क्योंकि वे अपने कुशाग्र-बुद्धि प्रतिद्वन्द्वियों का मुक़ाबला नहीं कर पाएँगे। ख़ैर, यह एक और राहत देने वाला मिथक है। व्यवहारतः, मानवीय सहकार की शक्ति सत्य और गल्प के बीच के नाज़ुक सन्तुलन पर निर्भर करती है।

अगर आप वास्तविकता को बहुत ज़्यादा विकृत कर देते हैं, तो वह सचमुच ही आपको अव्यावहारिक ढंग से काम करने के लिए मजबूर कर कमज़ोर बना देगी। उदाहरण के लिए, 1905 में किंजीकटाइल एन्जीवाले नामक एक पूर्वी अफ़्रीकी पैग़म्बर ने अपने पास होंगो नामक सर्प-आत्मा के होने का दावा किया था। इस नए पैग़म्बर के पास पूर्वी

अफ़्रीका के जर्मन उपनिवेश के लोगों के लिए एक क्रान्तिकारी सन्देश था : संगठित होकर जर्मनों को खदेड़ बाहर करो। इस सन्देश को और ज़्यादा आकर्षक बनाने के लिए एन्जीवाले ने अपने अनुयायियों को एक जादुई औषधि उपलब्ध कराई, जो कथित रूप से जर्मनों की बन्दूक़ की गोलियों को पानी (स्वाहिली भाषा में *माजी*) में बदल देती थी। इस तरह 'माजी माजी' विद्रोह की शुरुआत हुई। यह विद्रोह नाकामयाब रहा, क्योंकि युद्ध के मैदान में जर्मन गोलियाँ पानी में नहीं बदलीं। इसकी बजाय, वे निर्ममतापूर्वक निहत्थे विद्रोहियों के शरीरों में धँस गईं। दो हज़ार साल पहले, रोमनों के ख़िलाफ़ महान यहूदी विद्रोह भी इस प्रचण्ड आस्था से प्रेरित हुआ था कि ईश्वर यहूदियों के पक्ष से लड़ेगा और अपराजेय प्रतीत होते रोमन साम्राज्य को पराजित करने में उनकी मदद करेगा। वह भी नाकामयाब रहा, और यरुशलम की तबाही तथा यहूदियों के निष्कासन का कारण बना।

दूसरी ओर, आप किन्हीं मिथकों पर भरोसा किए बिना जनसमूहों को प्रभावशाली ढंग से एकजुट नहीं कर सकते। अगर आप ख़ालिस वास्तविकता से चिपके रहते हैं, तो बहुत थोड़े-से लोग ही आपका अनुसरण करेंगे। बिना मिथकों के न सिर्फ़ नाकामयाब माजी माजी और यहूदी विद्रोहों को संगठित करना असम्भव हुआ होता, बल्कि महदी और मक्काबीस के सफल विद्रोहों को संगठित करना भी असम्भव हुआ होता।

वस्तुतः, जब लोगों को संगठित करने का सवाल उठता है, तो झूठे क़िस्से सहज ढंग से सत्य पर भारी पड़ते हैं। अगर आप सामूहिक निष्ठा की थाह लेना चाहते हैं, तो इसको जाँचने का बेहतर ढंग लोगों से किसी सच्चाई में विश्वास की माँग करने की बजाय उनसे किसी हास्यास्पद बात में विश्वास की माँग करना है। अगर कोई बड़ा मुखिया कहता है कि 'सूरज पूरब से उगता है और पश्चिम में डूबता है', तो उसकी इस बात पर तालियाँ बजाने के लिए उसके प्रति वफ़ादारी आवश्यक नहीं है, लेकिन अगर वह मुखिया कहता है कि 'सूरज पश्चिम से उगता है और पूरब में डूबता है', तो उसके सच्चे वफ़ादार ही उसकी इस बात पर तालियाँ बजाएँगे। इसी तरह, अगर आपके सारे पड़ोसी इसी चौंका देने वाले क़िस्से में विश्वास करते हैं, तो आप उम्मीद कर सकते हैं कि संकट आने पर वे एकजुट होकर उसका मुक़ाबला करेंगे। अगर वे सिर्फ़ प्रमाणित क़िस्सों में ही विश्वास करने के इच्छुक हैं, तो इससे क्या साबित होता है?

आप तर्क दे सकते हैं कि कम-से-कम कुछ मामलों में तो लोगों को गल्पों और मिथकों की बजाय सहमतिपरक समझौतों के आधार पर कारगर ढंग से संगठित किया ही जा सकता है। जैसे आर्थिक क्षेत्र में, देवता या पवित्र ग्रन्थ की बजाय पैसा और व्यावसायिक प्रतिष्ठान लोगों को ज़्यादा कारगर ढंग से परस्पर बाँधे रखते हैं, बावजूद इसके कि हर कोई जानता है कि वे महज़ एक मानवीय क़रार हैं। किसी पवित्र ग्रन्थ के मामले में एक सच्चा आस्थावान कहेगा कि 'मैं विश्वास करता हूँ कि यह ग्रन्थ पवित्र है' जबकि डॉलर के मामले में एक सच्चा आस्थावान कहेगा कि 'मेरा विश्वास है कि *दूसरे लोगों* का ऐसा विश्वास है कि

डॉलर मूल्यवान है'। यह ज़ाहिर-सी बात है कि डॉलर महज़ एक मानवीय रचना है, तब भी सारी दुनिया के लोग उसका सम्मान करते हैं। अगर ऐसा है, तो फिर मनुष्य सारे मिथकों और गल्पों को त्याग कर डॉलर जैसे किन्हीं सहमतिपरक क़रारों के आधार पर स्वयं को संगठित क्यों नहीं कर लेते?

लेकिन इस तरह के क़रार गल्प से स्पष्ट तौर पर भिन्न नहीं हैं। उदाहरण के लिए पैसे और पवित्र ग्रन्थ के बीच का अन्तर उससे बहुत कम है, जितना वह पहली निगाह में दिखाई देता है। जब ज़्यादातर लोग कोई डॉलर नोट देखते हैं, तो वे भूल जाते हैं कि वह महज़ एक मानवीय क़रार है। जैसे ही वे मृत गोरे इंसान की तसवीर से युक्त काग़ज़ के उस हरे टुकड़े को देखते हैं, वैसे ही उसको अपने आप में मूल्यवान वस्तु के रूप में देखते हैं। वे शायद ही ख़ुद को यह याद दिलाते हैं कि 'दरअसल, यह एक निरर्थक काग़ज़ का टुकड़ा है, लेकिन क्योंकि दूसरे लोग इसको मूल्यवान चीज़ के रूप में देखते हैं, इसलिए मैं इसका उपयोग कर सकता हूँ'। अगर आप एक एफ़एमआरआई स्कैनर में किसी मनुष्य के मस्तिष्क का पर्यवेक्षण करें, तो आप पाएँगे कि जैसे ही किसी व्यक्ति के सामने सौ डॉलर के नोटों से भरा सूटकेस पेश किया जाता है, तो मस्तिष्क के जो हिस्से उत्तेजना से भनभनाने लगते हैं, वे मस्तिष्क के शंकालु हिस्से नहीं होते, ('दूसरे लोग विश्वास करते हैं कि यह मूल्यवान है') बल्कि वे उसके लालची हिस्से होते हैं ('बाप रे! मुझे इसकी ज़रूरत है!')। इसके विपरीत, बहुत सारे मामलों में लोग बाइबल या वेदों या बुक ऑफ़ मोर्मान को तभी पवित्र मानना शुरू करते हैं, जब वे ऐसे लोगों के साथ लम्बे समय तक लगातार रहे होते हैं, जो उस ग्रन्थ को पवित्र मानते हैं। पवित्र ग्रन्थों का सम्मान करना हम ठीक उसी तरह सीखते हैं, जिस तरह हम मुद्रा सम्बन्धी नोटों का सम्मान करना सीखते हैं।

इसलिए व्यवहार के स्तर पर 'कोई वस्तु महज़ एक मानवीय क़रार है, यह जानने' और 'कोई चीज़ सहज रूप से मूल्यवान है, इस पर विश्वास करने' के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है। बहुत-से मामलों में लोग इस विभाजन को लेकर द्विअर्थक या भुलक्कड़ होते हैं। एक और उदाहरण लें। अगर आप बैठकर इसके बारे में एक गहरी दार्शनिक चर्चा करें, तो लगभग हर कोई इस पर सहमत होगा कि व्यावसायिक प्रतिष्ठान मनुष्यों द्वारा रचे गए काल्पनिक क़िस्से हैं। माइक्रोसॉफ़्ट न तो वह इमारत है, जिसका वह मालिक है, न वे लोग माइक्रोसॉफ़्ट हैं, जिनको वह नौकरी पर रखे है, और न ही वे शेयरधारक ही माइक्रोसॉफ़्ट हैं, जिनके लिए वह काम करता है। इसकी बजाय वह क़ानून-निर्माताओं और वकीलों द्वारा बुना गया एक पेचीदा क़ानूनी गल्प है, लेकिन 99 % समय तक हम गहरी दार्शनिक चर्चा में नहीं लगे होते हैं, और इन व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को हम इस तरह देखते हैं, मानो वे शेरों और इंसानों की तरह की दुनिया की वास्तविक सत्ताएँ हों।

गल्प और वास्तविकता के बीच की रेखा को कई उद्देश्यों से धुँधलाया जा सकता है, जिसकी शुरुआत 'आनन्द लेने' से लेकर 'जीवित बने रहने' तक हो सकती है। जब तक

आप कम-से-कम थोड़ी देर के लिए अविश्वास को एक तरफ़ नहीं रख देते, तब तक आप न तो खेल खेल सकते हैं, न उपन्यास पढ़ सकते हैं। फ़ुटबॉल का सच्चा आनन्द लेने के लिए आपको इस खेल के नियमों को स्वीकार करना, और कम-से-कम नब्बे मिनिट के लिए यह भुला देना ज़रूरी है कि ये नियम महज़ इंसानी ईजादें हैं। अगर आप ऐसा नहीं करते, तो आपको बीस लोगों का एक गेंद के पीछे दौड़ते रहना निहायत ही बेतुका लगेगा। फ़ुटबॉल की शुरुआत महज़ आनन्द लेने के साथ हो सकती है, लेकिन इसके बाद वह कहीं ज़्यादा गम्भीर मसला बन सकता है, जिसकी पुष्टि कोई भी अँग्रेज़ उपद्रवी या अर्जेन्टीनियाई राष्ट्रवादी कर सकता है। फ़ुटबॉल निजी पहचानों को रूपायित करने में मदद कर सकती है, वह बड़े पैमाने के समुदायों को मज़बूती प्रदान कर सकती है, और वह हिंसा के लिए तर्क तक उपलब्ध करा सकती है। राष्ट्र और मज़हब स्टेरॉइड पर टिके फ़ुटबॉल क्लब हैं।

मनुष्यों में एक ही समय में जानने और न जानने की उल्लेखनीय क़ाबिलियत होती है। या और भी सटीक ढंग से कहें तो, जब वे किसी चीज़ के बारे में वास्तव में सोचते हैं, तो उस चीज़ को जान सकते हैं, लेकिन ज़्यादातर वक़्त वे उसके बारे में सोचते नहीं हैं, इसलिए वे उसे नहीं जानते। अगर आप वास्तव में ध्यान केन्द्रित करें, तो आप समझ जाएँगे कि पैसा गल्प है, लेकिन आमतौर से आप ध्यान केन्द्रित नहीं करते। अगर आपसे इस बारे में पूछा जाता है, तो आप जानते हैं कि फ़ुटबॉल एक इंसानी ईजाद है, लेकिन मैच की उत्तेजना में आपसे कोई भी इस बारे में नहीं पूछता। अगर आप समय और ऊर्जा ख़र्च करें, तो आपको पता चल सकता है कि राष्ट्र विस्तृत क़िस्से हैं, लेकिन युद्ध के दौरान आपके पास न तो समय होता है न ऊर्जा। अगर आप चरम सत्य की माँग करते हैं, तो आपको पता चलता है कि आदम और ईव की कहानी एक मिथक है, लेकिन चरम सत्य की माँग आप करते कितनी बार हैं?

सत्य और सत्ता इतनी दूर तक ही एक साथ यात्रा कर सकते हैं। आगे-पीछे वे अपने अलग-अलग रास्तों पर चलने लगते हैं। अगर आप सत्ता चाहते हैं, तो किसी न किसी बिन्दु पर आपको गल्पों का प्रचार करना होगा। अगर आप दुनिया के बारे में सत्य जानना चाहते हैं, तो किसी न किसी मक़ाम पर आपको सत्ता को अस्वीकार करना होगा। आपको चीज़ों को - उदाहरण के लिए आपकी अपनी सत्ता के स्रोत के बारे में - स्वीकार करना होगा, जिससे आपके सहयोगी नाराज़ होंगे, अनुयायियों के दिल टूटेंगे या सामाजिक सामंजस्य कमज़ोर होगा। समूचे इतिहास के दौरान अध्येताओं ने इस दुविधा का सामना किया था : वे सत्ता की सेवा करते हैं या सत्य की? क्या उनको यह सुनिश्चित करते हुए लोगों को संगठित करना चाहिए कि हर कोई एक ही क़िस्से में विश्वास करे, या उनको लोगों को बिखराव की क़ीमत पर भी सत्य को जानने की गुंजाइश देनी चाहिए? सबसे ज़्यादा शक्तिशाली विद्वत्तापूर्ण व्यवस्थाओं ने संगठन को सत्य के ऊपर रखा था, वे चाहे ईसाई पादरी रहे हों,

कन्फ़्यूशियाई हाकिम रहे हों या कम्युनिस्ट विचारधारापरस्त रहे हों। यही वज़ह है कि वे इतने शक्तिशाली थे।

एक प्रजाति के रूप में मनुष्य सत्य की क़ीमत पर सत्ता को प्राथमिकता देते हैं। हम दुनिया को समझने की कोशिश करने से ज़्यादा समय और उद्यम दुनिया को नियन्त्रित करने में ख़र्च करते हैं और अगर हम उसको समझने की कोशिश करते भी हैं, तो ऐसा हम इस उम्मीद से करते हैं कि दुनिया को समझ लेने से उसको नियन्त्रित करना आसान हो जाएगा। इसलिए अगर आप किसी ऐसे समाज का सपना देखते हैं, जिसमें सत्य का बोलबाला हो और मिथकों की उपेक्षा हो, तो आपको *होमो सेपियन्स* से बहुत ज़्यादा उम्मीद नहीं करनी चाहिए। बेहतर होगा कि आप चिम्पांज़ियों के साथ अपना भाग्य आज़माएँ।

ब्रेनबॉशिंग मशीन से बाहर निकलना

इस सबका यह मतलब नहीं है कि झूठी ख़बरें कोई गम्भीर समस्या नहीं हैं, या राजनेताओं और पुरोहितों को खुलेआम झूठ बोलने की इजाज़त है। यह निष्कर्ष निकालना भी पूरी तरह से ग़लत होगा कि हर चीज़ महज़ एक झूठी ख़बर है, सत्य का पता लगाने की कोई भी कोशिश विफल होने के लिए अभिशप्त है, और यह कि गम्भीर पत्रकारिता और झूठे प्रचार के बीच कोई अन्तर नहीं है। हर झूठी ख़बर के तले वास्तविक तथ्य और वास्तविक दुःख मौजूद होता है। उदाहरण के लिए, उक्रेन में रूसी सैनिक वास्तव में लड़ रहे हैं, हज़ारों लोग वास्तव में मरे हैं, और सैकड़ों हज़ारों लोग अपने घर गँवा चुके हैं। गल्प में विश्वास अक्सर मानवीय त्रास की वज़ह होता है, लेकिन त्रास तब भी वास्तविक होता है।

इसलिए झूठी ख़बर को एक मानक की तरह स्वीकार करने की बजाय, हमें इसे उससे कहीं ज़्यादा मुश्किल समस्या की तरह पहचानना चाहिए, जितना हम उसको मानने की ओर प्रवृत्त होते हैं, और हमें वास्तविकता को गल्प से अलग करने की और भी कठोर कोशिश करनी चाहिए। परिपूर्णता की उम्मीद न करें। सारे गल्पों में सबसे बड़ा गल्प दुनिया की जटिलता से इंकार करना, और आदिम पवित्रता बनाम शैतानी अपवित्रता की पदावली में सोचना है। कोई भी राजनेता पूरी सच्चाई और सिर्फ़ सच्चाई का बयान नहीं करता, लेकिन तब भी कुछ राजनेता दूसरों से बेहतर होते हैं। अगर मुझे विकल्प उपलब्ध कराया जाए, तो मैं चर्चिल पर स्तालिन से ज़्यादा भरोसा कराना चाहूँगा, भले ही यह ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ज़रूरत पड़ने पर सच्चाई को तोड़ने-मरोड़ने से बाज़ नहीं आता था। इसी तरह, कोई भी समाचार-पत्र पक्षपातों और ग़लतियों से मुक्त नहीं होता, लेकिन कुछ समाचार-पत्र सच्चाई को जानने की ईमानदार कोशिश करते हैं, जबकि कुछ दूसरे पत्र ब्रेनवॉशिंग मशीन

की भूमिका निभाते हैं। अगर मैं 1930 के दशक में रहता होता, तो मुझे उम्मीद है कि मुझमें इतनी अक़्ल होती कि मैं *प्रावदा* और *डे स्टॉर्मर* से ज़्यादा *न्यू यॉर्क टाइम्स* पर भरोसा करता।

यह हम सबकी ज़िम्मेदारी है कि हम अपने पूर्वाग्रहों को उजागर करने और अपने सूचना के स्रोतों की सच्चाई परखने में समय और उद्यम लगाएँ। जैसा कि शुरुआती अध्यायों में कहा गया है कि हम स्वयं हर चीज़ की पड़ताल नहीं कर सकते, लेकिन ठीक इसी वज़ह से, हमें सूचना के अपने प्रिय स्रोतों की सावधानी के साथ पड़ताल करने की ज़रूरत है - वे स्रोत चाहे समाचार-पत्र हों, कोई वेबसाइट हो, कोई टीवी नेटवर्क हो या कोई व्यक्ति हो। 20 वें अध्याय में हम और भी ज़्यादा गहराई में जाकर इस बात की छानबीन करेंगे कि ब्रेनवाशिंग से कैसे बचा जाए और वास्तविकता को गल्प से कैसे अलग किया जाए। यहाँ मैं दो मार्गदर्शी सिद्धान्त पेश करना चाहूँगा।

पहला, अगर आप विश्वसनीय सूचना चाहते हैं - उसके लिए ठीक-से पैसे का भुगतान करिए। वर्तमान में, ख़बरों के बाज़ार का प्रभावशाली मॉडल है उत्तेजक ख़बर, जिसके लिए आपको कुछ भी ख़र्च करने की ज़रूरत नहीं है - बदले में सिर्फ़ आपको ध्यान देने भर की ज़रूरत है। आप ख़बर के लिए कुछ भुगतान नहीं करते, और घटिया दर्ज़े का उत्पाद प्राप्त करते हैं। आपका ध्यान पहले सनसनीख़ेज़ सुर्ख़ियों द्वारा दबोच लिया जाता है, और उसको विज्ञापनदाताओं और राजनेताओं को बेच दिया जाता है।

ख़बरों के बाज़ार के लिए इससे कहीं बेहतर मॉडल होगा 'उत्तम कोटि की ख़बरों के लिए आपको पैसा ख़र्च करना होगा, लेकिन वे आपके ध्यान का दुरुपयोग नहीं करेंगी'। आज की दुनिया में सूचना और ध्यान सबसे निर्णायक महत्त्व की परिसम्पत्तियाँ हैं। अपना ध्यान मुफ़्त में सौंप देना, और बदले में घटिया दर्ज़े की सूचना प्राप्त करना पागलपन है। अगर आप उत्तम कोटि के भोजन, वस्त्रों और कारों पर पैसा ख़र्च करने को तैयार हैं, तो आप उत्तम कोटि की सूचना के लिए पैसा ख़र्च करने को तैयार क्यों नहीं हैं?

मान लीजिए कि कोई सन्दिग्ध अरबपति आपके सामने यह पेशकश रखता है : "मैं आपको हर महीने 30 डॉलर दूँगा, और बदले में आपको मुझे इजाज़त देनी होगी कि मैं हर दिन एक घण्टे आपकी ब्रेनवॉशिंग करते हुए अपने मनचाहे राजनीतिक और वाणिज्यिक पूर्वाग्रह आपके दिमाग़ में भरूँ।" क्या आप सौदे को मंज़ूर करेंगे? शायद ही कोई स्वस्थ दिमाग़ का आदमी इसे मंज़ूर करे। इसलिए वह सन्दिग्ध अरबपति थोड़े-से भिन्न सौदे की पेशकश करता है : "आप मुझे हर दिन एक घण्टे आपकी ब्रेनवॉशिंग की इजाज़त दें, और इस सेवा के बदले में मैं आपसे कोई भुगतान नहीं लूँगा।" अब यह सौदा अचानक लाखों लोगों के लिए ललचाने लगता है। ऐसे लोगों के उदाहरण का अनुसरण करने से बचें।

दूसरा मार्गदर्शी सिद्धान्त है कि अगर कोई मुद्दा आपको असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, तो उससे सम्बन्धित वैज्ञानिक साहित्य पढ़ने की कोशिश कीजिए। और

वैज्ञानिक साहित्य से मेरा अभिप्राय है विशेषज्ञों द्वारा समीक्षित लेख, जाने-माने अकादमिक प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुस्तकें, और प्रतिष्ठित संस्थानों से जुड़े प्रोफ़ेसरों का लेखन। विज्ञान की ज़ाहिर है अपनी सीमाएँ होती हैं, और इसने अतीत में बहुत-सी ग़लतियाँ की हैं। तब भी, वैज्ञानिक समुदाय सदियों से ज्ञान का हमारा सबसे ज़्यादा भरोसेमन्द स्रोत रहा है। अगर आपको लगता है कि वैज्ञानिक समुदाय किसी चीज़ के बारे में ग़लती पर है, तो यह निश्चय ही मुमकिन है, लेकिन कम-से-कम जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को आप नकार रहे हैं, उनको जानिए, और अपने दावे के पक्ष में कोई अनुभवजन्य प्रमाण पेश कीजिए।

दूसरी तरफ़, वैज्ञानिकों को ताज़ा सार्वजनिक बहसों से और ज़्यादा उलझने की ज़रूरत है। जब बहस उनकी विशेषज्ञता के क्षेत्र में भटक रही हो, चाहे फिर वह क्षेत्र चिकित्सा का हो या इतिहास का, तो उनको अपनी आवाज़ दूसरों तक पहुँचाने से डरना नहीं चाहिए। ख़ामोशी तटस्थता नहीं है, यह यथास्थिति का समर्थन है। निश्चय ही, अपनी अकादमिक शोध को जारी रखना और उनके नतीजों को उन वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित करते रहना, जिनको बहुत थोड़े-से विशेषज्ञ ही पढ़ते हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उतना ही महत्त्वपूर्ण है ताज़ातरीन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को लोकप्रिय वैज्ञानिक पुस्तकों की मार्फ़त, यहाँ तक कि कला तथा गल्प के दक्षतापूर्ण इस्तेमाल की मार्फ़त आम जनता तक पहुँचाना।

क्या इसका यह मतलब है कि वैज्ञानिकों को विज्ञान-कथाएँ लिखने लगना चाहिए? यह दरअसल बुरा ख़याल नहीं है। कला लोगों की विश्वदृष्टि को गढ़ने में मुख्य भूमिका निभाती है, और इक्कीसवीं सदी में विज्ञान-कथाएँ तर्कसंगत रूप से सबसे महत्त्वपूर्ण विधा है, क्योंकि यह आर्टिफ़िशयल इंटेलिजेंस, जैवइंजीनियरी और जलवायु-परिवर्तन जैसी चीज़ों के बारे में लोगों के समझने के ढंग को गढ़ती है। हमें निश्चय ही अच्छे विज्ञान की ज़रूरत है, लेकिन राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में, विज्ञान-कथा पर आधारित एक अच्छी फ़िल्म *साइंस* या *नेचर* पत्रिका में प्रकाशित किसी लेख से कई गुना ज़्यादा मूल्यवान है।

18

विज्ञान-कथा

भविष्य वह नहीं है, जो आप फ़िल्मों में देखते हैं

मनुष्य दुनिया को नियन्त्रित करते हैं, क्योंकि वे किसी भी अन्य प्राणी के मुक़ाबले बेहतर ढंग से आपसी सहयोग कर सकते हैं, और वे इतने अच्छे ढंग से इसलिए सहयोग कर पाते हैं, क्योंकि वे गल्प में विश्वास करते हैं। कवि, चित्रकार और नाटककार इसलिए कम-से-कम उतने महत्त्वपूर्ण तो होते ही हैं, जितने सैनिक और इंजीनियर होते हैं। लोग युद्ध लड़ते हैं और कैथेड्रलों का निर्माण करते हैं, क्योंकि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं, और वे ईश्वर में विश्वास करते हैं, क्योंकि उन्होंने ईश्वर की तसवीरें देखी होती हैं, और क्योंकि वे ईश्वर के बारे में नाटकीय प्रदर्शनों से मन्त्रमुग्घ होते हैं। इसी तरह, पूँजीवाद के आधुनिक मिथकों में हमारा विश्वास हॉलीवुड और पॉप इंडस्ट्री की कलात्मक रचनाओं पर टिका होता है। हम विश्वास करते हैं कि ज़्यादा-से-ज़्यादा असबाब ख़रीदने से हम सुखी होंगे, क्योंकि हमने ख़ुद अपनी आँखों से पूँजीवादी स्वर्ग को टेलीविज़न पर देखा है।

इक्कीसवीं सदी के इस आरम्भिक दौर में सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण कलात्मक विधा विज्ञान-कथा ही है। बहुत थोड़े-से लोग हैं, जो मशीन लर्निंग या जनेटिक इंजीनियरी से सम्बन्धित ताज़ा लेख पढ़ते होंगे। इसकी बजाय, *द मैट्रिक्स,* और *हर* जैसी फ़िल्में और *वेस्टवर्ल्ड* तथा *ब्लैक मिरर* जैसे टीवी धारावाहिक हमारे समय के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रौद्योगिकीय, सामाजिक और आर्थिक घटनाक्रमों को समझने के लोगों के ढंग को गढ़ते हैं। इसका यह भी मतलब है कि विज्ञान-कथा जिस ढंग से वैज्ञानिक वास्तविकता को चित्रित करती है, उस ढंग को लेकर उसको बहुत ज़्यादा ज़िम्मेदार होने की ज़रूरत है, अन्यथा वह लोगों के दिमाग़ को ग़लत धारणाओं से भर सकती है या उनका ध्यान ग़लत समस्याओं पर केन्द्रित कर सकती है।

जैसा कि पिछले एक अध्याय में उल्लेख किया गया है, सम्भवतः आज के समय की विज्ञान-कथा का सबसे भयानक पाप यह है कि वह बुद्धि को चेतना से भ्रमित करने की कोशिश करती है। इसके परिणामस्वरूप, वह रोबोटों और मनुष्यों के बीच युद्ध की सम्भावना को लेकर ज़्यादा ही परेशान होती है, जबकि हमें ऐल्गरिदमों की शक्ति से सम्पन्न छोटे-से अतिमानवीय कुलीन वर्ग और निचले तबके के विशाल अशक्त *होमो सेपियन्स* के बीच की तक़रार को लेकर डरने की ज़रूरत है। आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस के भविष्य के बारे में सोचते समय कार्ल मार्क्स अभी भी स्टीवन स्पिलबर्ग से बेहतर मार्गदर्शक हैं।

सचमुच, आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस के बारे में बहुत-सी फ़िल्में वैज्ञानिक सच्चाई से इस क़दर कटी हुई हैं कि सन्देह होता है कि वे नितान्त भिन्न चिन्ताओं को लेकर रची गई रूपक-कथाएँ हैं। जैसे 2015 की फ़िल्म *एक्स मशीना* एक ऐसे एआई विशेषज्ञ के बारे में प्रतीत होती है, जिसे एक मादा रोबोट से इश्क़ हो जाता है, जिसके बाद वह उस रोबोट द्वारा ठगा जाता है और परिचालित होने लगता है, लेकिन असलियत में, यह फ़िल्म बुद्धिमान रोबोटों के प्रति इंसानी ख़ौफ़ के बारे में नहीं है। यह फ़िल्म एक बुद्धिमान स्त्री के प्रति पुरुष के भय के बारे में है, और विशेष रूप से इस भय के बारे में कि स्त्री की मुक्ति स्त्री के वर्चस्व का कारण बन सकती है। जब कभी आप किसी एआई के बारे में कोई ऐसी फ़िल्म देखते हैं, जिसमें एआई मादा होती है और वैज्ञानिक नर होता है, तो वह फ़िल्म सम्भवतः साइबरनैटिक्स की बजाय नारीवाद के बारे में होती है, क्योंकि असल सवाल यह है कि किसी एआई की कोई यौनपरक या लिंगपरक पहचान होगी ही क्यों। कामतत्व जैविक बहुकोशीय जीवों की विशेषता है। इसका एक अजैविक साइबरनैटिक सत्ता के लिए क्या अर्थ हो सकता है?

एक डिब्बे में रहना

जिस एक विषय का विज्ञान-कथा ने बहुत अन्तर्दृष्टि के साथ प्रयोग किया है, उसका सम्बन्ध मुनष्यों को परिचालित और नियन्त्रित करने के लिए किए जा रहे प्रौद्योगिकी के उपयोग के ख़तरों से है। *द मैट्रिक्स* एक ऐसी दुनिया का चित्रण करती है, जिसमें लगभग सारे इंसान साइबरस्पेस में क़ैद हैं, और जो कुछ भी वे अनुभव करते हैं, वह एक उस्ताद ऐल्गरिदम द्वारा गढ़ा गया है। *द ट्रुमेन शो* एक ऐसे अकेले व्यक्ति पर केन्द्रित है, जो एक रियलिटी टीवी शो का बेख़बर स्टार है। उसकी जानकारी के बिना, उसके सारे दोस्त और परिचित - जिनमें उसकी माँ, उसकी पत्नी और उसका एक सबसे अच्छा दोस्त शामिल है - सबके सब अभिनेता हैं। उसके साथ जो कुछ भी घटित होता है, वह एक सुघड़ पटकथा के मुताबिक़ घटित होता है, और वह जो कुछ भी कहता और करता है, उसे एक छिपे हुए

कैमरे द्वारा रिकॉर्ड किया जाता है और उसको उसके लाखों चहेतों द्वारा सुना और देखा जाता है।

लेकिन, दोनों ही फ़िल्में - अपनी विलक्षणता के बावजूद - अन्त में अपने परिदृश्यों के सम्पूर्ण निहितार्थों से पीछे हट जाती हैं। वे मानकर चलती हैं कि मैट्रिक्स के भीतर फँसे हुए इंसानों का एक प्रामाणिक स्वत्व है, जो सारे प्रौद्योगिकीय छलप्रयोगों से अछूता बना रहता है, और यह कि उस मैट्रिक्स के परे एक प्रामाणिक वास्तविकता प्रतीक्षा कर रही है, जिस तक पहुँचने के लिए अगर हीरो पर्याप्त मेहनत करें तो वे वहाँ पहुँच सकते हैं। मैट्रिक्स महज़ एक कृत्रिम बाधा है, जो आपके आन्तरिक प्रामाणिक स्वत्व को बाह्य प्रामाणिक दुनिया से अलग करती है। अनेक आज़माइशों और पीड़ाओं के बाद दोनों हीरो - *द मैट्रिक्स* का निओ और *द ट्रुमेन शो* का ट्रुमेन - चालबाज़ियों के उस जाल से बाहर निकलने और भाग जाने में कामयाब हो जाते हैं, अपने प्रामाणिक स्वत्वों को खोज लेते हैं, और उस प्रामाणिक दुनिया में पहुँच जाते हैं, जिसका उनको आश्वासन मिला हुआ था।

आश्चर्यजनक रूप से, यह प्रामाणिक आश्वस्त दुनिया तमाम महत्त्वपूर्ण दृष्टियों से गढ़े गए मैट्रिक्स से मिलती-जुलती है। जब ट्रुमेन टीवी स्टुडियो से निकल भागता है, तो वह हाई-स्कूल के ज़माने की अपनी प्रेयसी से फिर जा मिलना चाहता है, जिसको टीवी शो के निर्देशक ने निकाल बाहर कर दिया है, लेकिन अगर ट्रुमेन उस रोमानी फ़न्तासी को चरितार्थ कर ले, तो उसका जीवन ठीक हॉलीवुड के उस ख़्वाब जैसा दिखने लगेगा, जिसे *द ट्रुमेन शो* ने सारी दुनिया में लाखों दर्शकों को बेचा है - साथ ही वह फ़िजी में छुट्टियाँ बिता सकेगा। यह फ़िल्म हमें इस बात का मामूली-सा संकेत तक नहीं देती कि ट्रुमेन उस वास्तविक दुनिया में किस तरह का वैकल्पिक जीवन हासिल कर सकता है।

इसी तरह, जब निओ वह प्रसिद्ध लाल गोली निगलने के बाद उस मैट्रिक्स को तोड़कर उससे बाहर निकल भागता है, तो उसको पता चलता है कि बाहर की वह दुनिया उस मैट्रिक्स के अन्दर की दुनिया से किसी तरह भिन्न नहीं है। अन्दर और बाहर, दोनों ही दुनियाओं में हिंसक तक़रारें हैं और लोग भय, वासना, प्रेम और ईर्ष्या से परिचालित हैं। फ़िल्म का अन्त निओ से यह कहे जाने के साथ होना चाहिए था कि जिस वास्तविकता को उसने हासिल कर लिया है, वह महज़ एक और भी बड़ा मैट्रिक्स है, और यह कि अगर वह 'सच्ची यथार्थ दुनिया' में भागना चाहता है, तो उसको एक बार फिर नीली गोली और लाल गोली के बीच चुनाव करना चाहिए।

मौजूदा प्रौद्योगिकीय और वैज्ञानिक क्रान्ति का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रामाणिक व्यक्तियों और प्रामाणिक वास्तविकताओं के साथ ऐल्गरिदमों और टीवी कैमरों द्वारा छलप्रयोग किए जा सकते हैं, बल्कि उसका अभिप्राय यह है कि प्रामाणिकता अपने आप में एक मिथक है। लोग किसी डिब्बे के भीतर फँस जाने को लेकर भयभीत हैं, लेकिन उनको इस बात का अहसास नहीं है कि वे पहले से ही एक डिब्बे - यानी अपने मस्तिष्क -

के भीतर फँसे हैं, जो उससे भी बड़े एक डिब्बे के भीतर बन्द है - और वह डिब्बा है अपने असंख्य गल्पों से युक्त मानव-समाज। जब आप मैट्रिक्स से निकल भागते हैं, तो आपको एक उससे भी बड़े मैट्रिक्स का पता चलता है। जब 1917 में किसानों और कामगारों ने ज़ार के ख़िलाफ़ विद्रोह किया था, तो उनका अन्त स्तालिन की अधीनता में हुआ था, और जब आप उन अनेक विधियों की छानबीन करने चलते हैं, जिनके सहारे दुनिया आपके साथ छल-योजना करती है, तो अन्त में आपको पता चलता है कि आपकी मूलभूत पहचान स्नायुविक तन्त्र द्वारा रचा गया एक पेचीदा भ्रम है।

लोग डरते हैं कि किसी डिब्बे के भीतर बन्द हो जाने से वे दुनिया के सारे विस्मयों से वंचित रह जाएँगे। जब तक निओ मैट्रिक्स के अन्दर फ़ँसा रहेगा, और ट्रुमेन टीवी स्टुडियो के अन्दर फँसा रहेगा, तब तक वे कभी फिजी, या पेरिस, या माचू पिचू नहीं जा पाएँगे, लेकिन वास्तविकता यह है कि आप अपने जीवन में कभी जो कुछ भी अनुभव करेंगे, वह आपके शरीर और आपके दिमाग़ के भीतर है। मैट्रिक्स को तोड़कर बाहर निकलने या फिजी की यात्रा करने से कोई फ़र्क़ पड़ने वाला नहीं है। ऐसा नहीं है कि आपके दिमाग़ में कहीं कोई एक लोहे का सन्दूक़ है जिस पर लाल रंग से बड़े-बड़े अक्षरों में यह चेतावनी अंकित है कि 'सिर्फ़ फिजी में ही खोलें!' और जब आप अन्ततः दक्षिण प्रशान्त की यात्रा कर उस सन्दूक़ को खोलें, तो आपके मन में वे तमाम भावनाएँ और अहसास जाग उठें, जो फिजी में ही जाग सकते हों। और अगर आप अपने जीवन में कभी फिजी न जाएँ, तो आप इन ख़ास अनुभूतियों से हमेशा के लिए वंचित रह जाएँ। नहीं। जो कुछ भी आप फिजी में अनुभव कर सकते हैं, वह आप दुनिया में कहीं भी अनुभव कर सकते हैं, यहाँ तक कि मैट्रिक्स के भीतर भी।

हम सब शायद एक विराट कम्प्यूटर मिथ्याभास, *मैट्रिक्स-स्टाइल* के भीतर रह रहे हैं। यह चीज़ हमारे तमाम राष्ट्रीय, मज़हबी और विचारधारात्मक क़िस्सों का खण्डन कर देगी, लेकिन हमारे मानसिक अनुभव तब भी वास्तविक होंगे। अगर पता चले कि मानव-इतिहास ज़िरकॉन ग्रह पर रहने वाले चूहा वैज्ञानिकों द्वारा एक सुपर-कम्प्यूटर पर संचालित एक विशाल मिथ्याभास है, तो यह बात कार्ल मार्क्स और इस्लामिक स्टेट के लिए किंचित शर्मिन्दा करने वाली होगी, लेकिन तब भी इन चूहा वैज्ञानिकों को अर्मेनियाई जनसंहार के लिए और आष्वित्ज़ के लिए जवाबदेह होना होगा। आख़िर उन्होंने इसे ज़िरकॉन यूनिवर्सिटी की नीति-सम्बन्धी समिति की बाधा से किस तरह उबार लिया? अगर गैस चैम्बर महज़ सिलिकॉन चिप्स के विद्युत-संकेत मात्र भी थे, तो पीड़ा, आतंक और हताशा के अनुभव उससे ज़रा भी कम यातनादायी नहीं हो जाते।

पीड़ा पीड़ा है, भय भय है, प्रेम प्रेम है - मैट्रिक्स के भीतर भी। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि जो भय आप महसूस करते हैं, वह बाहरी दुनिया के एटमों के किसी समूह से उत्प्रेरित है या किसी कम्प्यूटर द्वारा छलयोजित विद्युत-संकेतों से उत्प्रेरित है। भय तब भी

वास्तविक है। इसलिए अगर आप अपने दिमाग़ की वास्तविकता का पता लगाना चाहते हैं, तो यह काम आप मैट्रिक्स के भीतर भी कर सकते हैं और उसके बाहर भी कर सकते हैं।

ज़्यादातर विज्ञान-कथा-फ़िल्में दरअसल एक बहुत पुराना क़िस्सा कहती हैं : पदार्थ पर दिमाग़ की जीत का क़िस्सा। तीस हज़ार साल पहले, यह क़िस्सा इस तरह कहा जाता था : 'दिमाग़ एक पत्थर के चाकू की कल्पना करता है - हाथ चाकू को गढ़ता है - मनुष्य मैमथ को मार डालते हैं।' लेकिन सच्चाई यह है कि मनुष्यों ने चाकुओं का आविष्कार करके और मैमथों को मारकर दुनिया पर उतना क़ाबू नहीं पाया, जितना इंसानी दिमाग़ के साथ छलयोजना करके पाया है। दिमाग़ वह कर्ता (सब्जेक्ट) नहीं है, जो उन्मुक्त ढंग से ऐतिहासिक कृत्यों और जैविक वास्तविकताओं को आकार देता हो - दिमाग़ वह वस्तु (ऑब्जेक्ट) है, जिसे इतिहास और जैविकी द्वारा आकार दिया जा रहा होता है। हमारे सबसे प्रिय आदर्श - स्वतन्त्रता, प्रेम, सृजनात्मकता - तक पत्थर के उस चाकू की तरह हैं, जिनको किसी और व्यक्ति ने किसी मैमथ को मारने के लिए गढ़ा है। श्रेष्ठतम वैज्ञानिक सिद्धान्तों और सबसे ज़्यादा ताज़ातरीन प्रौद्योगिकीय औज़ारों के अनुसार दिमाग़ कभी भी छलयोजना से आज़ाद नहीं होता। ऐसा कोई प्रामाणिक स्वत्व नहीं है, जो इस छलयोजक खोल से आज़ाद होने का इन्तज़ार कर रहा हो।

क्या आपको कोई अन्दाज़ा है कि वर्षों के दौरान आपने कितनी फ़िल्मों, उपन्यासों और कविताओं का उपभोग किया है, और किस तरह इन कलाकृतियों ने प्रेम की आपकी धारणा को तराशा और पैना किया है? रोमांटिक कॉमेडियाँ प्रेम के सन्दर्भ में वही भूमिका निभाती हैं, जो पोर्नोग्राफ़ी काम-वासना के लिए और युद्ध के लिए रैम्बो निभाते हैं। और अगर आप सोचते हैं कि आप डिलीट का कोई बटन दबाकर अपने अवचेतन और लिम्बिक सिस्टॅम से हॉलीवुड के सारे निशानों को मिटा सकते हैं, तो आप ख़ुद को धोखा दे रहे हैं।

हमें यह ख़याल अच्छा लगता है कि हमने पत्थर के चाकू गढ़े, लेकिन यह ख़याल हमें नहीं भाता कि हम ख़ुद पत्थर के चाकू हैं। इसलिए पुराने मैमथ क़िस्से का मैट्रिक्स प्रारूप कुछ इस तरह का है : 'दिमाग़ एक रोबोट की कल्पना करता है - हाथ रोबोट को रचता है - रोबोट आतंकवादियों को मार गिराता है, लेकिन वह दिमाग़ को नियन्त्रित करने की कोशिश भी करता है - दिमाग़ रोबोट को मार देता है।' लेकिन यह एक झूठा क़िस्सा है। समस्या यह नहीं है कि दिमाग़ रोबोट को मारने में सक्षम नहीं होगा। समस्या यह है कि सबसे पहले जिस दिमाग़ ने रोबोट की कल्पना की थी, वह और भी पहले की छलयोजनाओं का नतीजा था। इसलिए रोबोट को मार देने से हमें मुक्ति मिल जाने वाली नहीं है।

स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति में विश्वास खोता डिंज़नी

2015 में पिक्सार स्टुडियोज़ और वॉल्ट डिज़नी पिक्चर्स ने मानव परिस्थिति के बारे में एक कहीं ज़्यादा यथार्थवादी और तकलीफ़देह एनीमेशन आख्यान रिलीज़ किया था, जो बहुत तेज़ी के साथ बच्चों और वयस्कों, दोनों के बीच समान रूप से अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। *इनसाइड आउट* नामक यह फ़िल्म ग्यारह-वर्षीय एक लड़की, रिली एंडरसन की कहानी कहती है, जो अपने माँ-बाप के साथ मिनेसोटा से सैन फ्रांसिस्को रहने आ जाती है। उसे अपने दोस्तों, अपने शहर की याद सताती है, जिसकी वज़ह से उसको अपने इस नए जीवन के साथ तालमेल बैठाने में मुश्किल पेश आती है, और वह वापस मिनेसोटा भागने की कोशिश करती है, लेकिन इससे भी बड़ा एक ड्रामा चल रहा होता है, जिससे रिली अनभिज्ञ होती है। रिली किसी रियलिटी शो की अनभिज्ञ स्टार नहीं है, और किसी मैट्रिक्स में फँसी हुई नहीं है। इसकी बजाय, रिली स्वयं मैट्रिक्स है, और कोई चीज़ है, जो उसके अन्दर फँसी हुई है।

डिज़नी ने एक-के-बाद-एक मिथकों का पुनराख्यान करते हुए अपना साम्राज्य खड़ा किया है। डिज़नी की असंख्य फ़िल्मों में उनके नायक मुश्किलों और ख़तरों का सामना करते हैं, लेकिन अन्ततः वे अपना प्रामाणिक स्वत्व हासिल करके और अपने स्वतन्त्र विकल्पों का अनुसरण करते हुए उन मुश्किलों और ख़तरों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। *इनसाइड आउट* इस मिथक को क्रूरतापूर्वक तोड़ देती है। यह मनुष्यों के बारे में ताज़ातरीन स्नायुजैविकीय दृष्टिकोण अपनाती है, और दर्शकों को रिली के मस्तिष्क की यात्रा पर ले जाती है, जहाँ जाकर पता चलता है कि उसका कोई प्रामाणिक स्वत्व नहीं है और वह कभी किन्हीं स्वतन्त्र विकल्पों का चुनाव नहीं करती। रिली दरअसल परस्पर टकराती जैवरासायनिक प्रक्रियाओं के एक समूह द्वारा संचालित एक विशाल रोबोट है। फ़िल्म इन प्रक्रियाओं को अत्यन्त ख़ूबसूरत कार्टून चरित्रों में रूपायित करती है : पीला और ख़ुशनुमा जॉय, नीला और विषादमय सैडनेस, लाल और तुनकमिजाज़ ऐंगर, आदि। हैडक्वाटर्स में तरह-तरह के बटनों का प्रयोग करते हुए, और उस दौरान टीवी के विशाल पर्दे पर रिली की एक-एक हरक़त को देखते हुए ये चरित्र रिली की सारी मनःस्थितियों, निर्णयों और कृत्यों को नियन्त्रित करते हैं।

सैन फ्रांसिस्को में नए जीवन के साथ तालमेल बैठा पाने में रिली की विफलता उस हैडक्वार्टर्स की गम्भीर समस्या का परिणाम है, जो रिली के मस्तिष्क को पूरी तरह से असन्तुलित कर देने का ख़तरा पैदा कर रहा है। स्थितियों को ठीक करने के लिए जॉय और सैडनेस रिली के मस्तिष्क की मार्फ़त, विचारों पर सवार होकर एक लम्बी यात्रा पर जाते हैं, अवचेतन क़ैदख़ाने की छानबीन करते हैं, और उस आन्तरिक स्टुडियो में पहुँचते हैं, जहाँ कलाकार स्नायुओं का एक दल सपनों की रचना करने में व्यस्त है। जब हम इन व्यक्तिपरक जैवरासायनिक प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हुए रिली के मस्तिष्क की गहराइयों में जाते हैं, तो वहाँ हमारी मुलाक़ात कभी किसी आत्मा से, किसी प्रामाणिक

स्वत्व से, या किसी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से नहीं होती। दरअसल, उद्घाटन का वह क्षण, जिस पर समूचा कथानक अटका हुआ है, उस समय घटित नहीं होता, जब रिली को अपने एकल प्रामाणिक स्वत्व का पता चलता है, बल्कि वह तब घटित होता है, जब यह बात साफ़ ज़ाहिर हो जाती है कि रिली को किसी भी एकल मर्म से नहीं पहचाना जा सकता, और यह कि उसकी ख़ुशहाली बहुत-सी अलग-अलग प्रक्रियाओं की अन्तर्क्रिया पर निर्भर करती है।

शुरू में, दर्शकों को रिली को प्रमुख चरित्र - पीला ख़ुशनुमा जॉय - के रूप में पहचानने की ओर प्रवृत्त किया जाता है, लेकिन अन्ततः पता चलता है कि यह वह गम्भीर भूल थी, जिसने रिली के जीवन को बर्बाद करने का ख़तरा पैदा कर दिया था। यह सोचकर कि वही एकमात्र रिली का प्रामाणिक सत्त्व है, जॉय बाक़ी तमाम दूसरे चरित्रों को धमकाती है, और इस तरह वह रिली के मस्तिष्क के नाज़ुक सन्तुलन को भंग कर देती है। इस स्थिति में सुधार तब आता है, जब जॉय अपनी ग़लती को समझ लेती है, और उसे - दर्शकों के साथ-साथ - इस बात का अहसास होता है कि रिली जॉय, या सैडनेस, या कोई भी दूसरा चरित्र नहीं है। रिली सारे जैवरासायनिक चरित्रों के आपसी टकराव और आपसी सहयोग से उत्पन्न एक पेचीदा कहानी है।

सच्चे अर्थों में विस्मित करने वाली बात महज़ यह नहीं है कि डिज़नी ने इस तरह के एक क्रान्तिकारी सन्देश से युक्त फ़िल्म को बाज़ार में उतारा, बल्कि विस्मित करने वाली बात यह है कि यह फ़िल्म विश्वव्यापी स्तर पर हिट हुई। शायद यह इस क़दर सफल इसलिए हुई कि *इनसाइड आउट* सुखद अन्त से युक्त एक कॉमेडी है, और दर्शक शायद इसके स्नायुपरक अर्थ और इसके भयावह अभिप्रायों, दोनों को समझने में चूक गए।

यह बात बीसवीं सदी की सर्वाधिक भविष्यवादी विज्ञान-कथा पुस्तक के बारे में नहीं कही जा सकती। आप उसकी भयावह प्रकृति को देखने से चूक नहीं सकते। यह पुस्तक लगभग एक सदी पहले लिखी गई थी, लेकिन यह हर गुज़रते वर्ष के साथ और भी ज़्यादा प्रासंगिक होती जाती है। एल्डस हक्सले ने ब्रेव *न्यू वर्ल्ड* का लेखन 1931 में किया था, जब साम्यवाद और फ़ासीवाद रूस और इटली में मज़बूत स्थिति बना चुके थे, नाज़ीवाद जर्मनी में उभार पर था, सैन्यपरस्त जापान चीन की विजय के अपने युद्ध-अभियान की शुरुआत कर रहा था, और सारी दुनिया ग्रेट डिप्रेशन (विश्वव्यापी गम्भीर आर्थिक मन्दी) की चपेट में थी, लेकिन हक्सले इन तमाम गहरे काले बादलों के पार देखने में सफल हुए, और उन्होंने युद्धों, अकालों, और महामारियों से रहित, अनवरत शान्ति, समृद्धि और स्वास्थ्य का आनन्द लेते एक भावी समाज की कल्पना की। यह एक उपभोक्तावादी दुनिया है, जो यौन-कर्म, नशीली दवाओं के सेवन और रॉक' एन' रोल की स्वच्छन्दता प्रदान करती है, और जिसका परम मूल्य है सुख। पुस्तक की अन्तर्निहित मान्यता यह है कि मनुष्य जैवरासायनिक ऐल्गरिदम हैं, विज्ञान इंसानी ऐल्गरिदम में घुसपैठ कर सकता है,

और इसके बाद इस ऐल्गरिदम के साथ छलयोजना करने के लिए प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किया जा सकता है।

इस साहसिक नई दुनिया में विश्व सरकार इस बात को सुनिश्चित करने के लिए कि हर कोई हमेशा सन्तुष्ट रहे, और किसी के पास विद्रोह करने की कोई वज़ह न हो, उन्नत जैवप्रौद्योगिकी और सामाजिक इंजीनियरी का इस्तेमाल करती है। यह कुछ ऐसा है, मानो रिली के मस्तिष्क के जॉय, सैडनेस, और दूसरे सारे चरित्रों को वफ़ादार सरकारी सेवकों में बदल दिया गया हो। इसलिए वहाँ ख़ुफ़िया पुलिस, कॅन्सेंट्रेशन कैम्पों, या ऑरवेल के *नाइनटीन ऐटी-फ़ोर* जैसी किसी मिनिस्ट्री ऑफ़ लव की कोई ज़रूरत नहीं है। निश्चय ही हक्सले की प्रतिभा की विलक्षणता इस बात को दर्शाने में निहित है कि आप लोगों को भय और हिंसा की बजाय प्रेम और आनन्द के माध्यम से अधिक सुरक्षित ढंग से नियन्त्रित कर सकते हैं।

जब लोग *नाइनटीन ऐटी-फ़ोर* पढ़ते हैं, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऑरवेल एक डरावने दु:स्वप्न से भरी दुनिया का वर्णन कर रहे हैं, और एक ही प्रश्न बचा रह जाता है कि 'हम इस तरह की भयावह अवस्था में पहुँचने को कैसे टाल सकते हैं?' *ब्रेव न्यू वर्ल्ड* को पढ़ना कहीं ज़्यादा विचलित करने वाला और चुनौतीपूर्ण अनुभव है, क्योंकि आप पर उस चीज़ पर अपनी अंगुली रखने का ज़बरदस्त दबाव होता है कि वह क्या है, जो इसे ठीक-ठीक आतंक-राज्य की शक्ल प्रदान करती है। दुनिया में पूरी तरह से अमन और समृद्धि है, और हर व्यक्ति पूरे समय सन्तुष्ट है। तब फिर इसमें ग़लत क्या हो सकता है?

हक्सले इस सवाल का सामना सीधे-सीधे उपन्यास के पराकाष्ठा के क्षण में करते हैं : पश्चिमी यूरोप के विश्व-नियन्त्रक (वर्ल्ड कंट्रोलर) मुस्तफ़ा मांड और उस जॉन द सैवेज के बीच के संवाद के क्षण में, जिसने अपना सारा जीवन न्यू मैक्सिको के एक स्थानीय रिज़र्वेशन में बिताया है, और जो लन्दन में वह एकमात्र अन्य व्यक्ति है, जिसे अभी भी शेक्सपियर या ईश्वर की जानकारी है।

जब जॉन द सैवेज लन्दन के लोगों को उस व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह के लिए भड़काने की कोशिश करता है, तो लोग उसके इस आह्वान की प्रतिक्रिया में उसके प्रति नितान्त उदासीनता प्रकट करते हैं, लेकिन पुलिस उसको गिरफ़्तार कर लेती है और मुस्तफ़ा मांड के समक्ष पेश कर देती है। इस विश्व-नियन्त्रक का जॉन के साथ सुखद वार्तालाप होता है, जिस दौरान वह समझाता है कि अगर असामाजिक होने पर उसका इतना ज़ोर है, तो उसे किसी एकान्त स्थल पर जाकर संन्यासी का जीवन बिताना चाहिए। इस पर जॉन उन दृष्टिकोणों पर सवाल उठाता है, जो उस विश्व-व्यवस्था में निहित हैं, और विश्व सरकार पर आरोप लगाता है कि सुख की अपनी खोज में उसने न सिर्फ़ सत्य और सौन्दर्य को मिटा दिया है, बल्कि उस सबको भी नेस्तनाबूद कर दिया है, जो जीवन में उत्तम और साहसिक है :

“मेरे प्यारे नौजवान दोस्त,” मुस्तफ़ा मांड ने कहा, “सभ्यता के लिए उत्तमता और साहस की क़तई कोई ज़रूरत नहीं है। ये चीज़ें राजनीतिक अक्षमता के लक्षण हैं। हमारे जैसे एक सुव्यवस्थित समाज में, किसी भी व्यक्ति के लिए उत्तम या साहसिक होने का कोई अवसर नहीं है। इस तरह का अवसर पैदा होने से पहले स्थितियों का पूरी तरह अस्थिर हो जाना ज़रूरी है। जहाँ युद्ध हैं, जहाँ विभाजित निष्ठाएँ हैं, जहाँ प्रतिरोध झेलने के प्रलोभन हैं, जहाँ प्रेम ऐसे आलम्बन हैं, जिनके लिए लड़ा जाना या जिनका बचाव करना ज़रूरी है, वहाँ ज़ाहिर है उत्तमता और साहस का कोई अर्थ है, लेकिन इन दिनों कोई युद्ध नहीं होते। इस बात का सबसे ज़्यादा ध्यान रखा जाता है कि आपको किसी व्यक्ति को ज़रूरत से ज़्यादा प्रेम करने से रोका जाए। विभाजित निष्ठा जैसी कोई चीज़ नहीं है, आप इस क़दर अनुकूलित हैं कि आप वह किए बिना नहीं रह सकते, जो आपको करना चाहिए। और जो आपको करना चाहिए, वह कुल मिलाकर इतना सुखद है, स्वच्छन्द विचरण के लिए इतने ज़्यादा नैसर्गिक संवेग हैं कि प्रतिरोध करने का कोई प्रलोभन ही नहीं जागता। और अगर कभी, किसी दुर्योगवश, कोई अप्रिय घटना किसी तरह घटित भी होती है, तो *सोम* (ड्रग) हमेशा उपलब्ध है, जो आपको तथ्यों से छुटकारा दिलाता है। और आपके ग़ुस्से को शान्त करने, अपने शत्रुओं के साथ मेल-मिलाप क़ायम करने, आपको धीरज बँधाने और कष्ट सहने योग्य बनाने के लिए तो *सोम* है ही। अतीत में यह सब हासिल करने के लिए आपको बहुत उद्यमों और वर्षों लम्बे कठोर नैतिक प्रशिक्षण की ज़रूरत पड़ती थी। अब आप आधे ग्राम की दो या तीन गोलियाँ निगलते हैं, और सब कुछ ठीक हो जाता है। अब कोई भी व्यक्ति सदाचारी हो सकता है। आप कम-से-कम अपनी आधी नैतिकता लगभग एक बोतल में रखकर ले जा सकते हैं। आँसुओं से रहित ईसाइयत - *सोम* यही है।”

“लेकिन आँसू ज़रूरी हैं। आपको याद नहीं कि अॅथेलो ने क्या कहा था?” “अगर हर तूफ़ान के बाद ऐसी शान्ति छा जाती है, तो इससे बेहतर है हवाएँ तब तक चलती रहें, जब तक कि वे मौत को न जगा दें।” एक क़िस्सा जो हमें एक बूढ़ा हिन्दुस्तानी सुनाया करता था, मात्सकी की लड़की के बारे में। जो नौजवान उस लड़की से शादी करना चाहता था, उसके लिए ज़रूरी था कि वह उसके बग़ीचे में सुबह की गुड़ाई का काम करता। ये काम आसान लगता था, लेकिन वहाँ मक्खियाँ और मच्छर थे, जो जादुई थे। ज़्यादातर नौजवान तो उनके द्वारा काटे और डंक चुभाए जाने को बर्दाश्त नहीं कर सके, लेकिन जो एक नौजवान यह सब सह सका, उसको वह लड़की मिल गई।”

“बहुत सुन्दर! लेकिन सभ्य मुल्कों में,” कंट्रोलर ने कहा, “आप लड़कियों के लिए गुड़ाई का काम किए बिना उनको हासिल कर सकते हैं; और न ही यहाँ कोई मक्खियाँ या मच्छर ही हैं जो आपको काटें। हम उन सबसे सदियों पहले छुटकारा पा चुके हैं।”

सैवेज ने भौं सिकोड़ते हुए सिर हिलाया। “आपने उनसे छुटकारा पा लिया है। हाँ, यह आप ही कर सकते हैं। किसी भी अप्रिय चीज़ को सहने की बजाय उससे छुटकारा पा लेना। कोई भी साहसपूर्ण काम हो, वह चाहे क्रूर भाग्य की गुलेलों और तीरों की मार सहना हो, या मुश्किलों के ख़िलाफ़ हथियार उठाना और उनसे लड़ते हुए उनको ख़त्म कर देना हो ... आप दोनों में से कुछ भी नहीं करते। न दुःख झेलते हैं और न विरोध करते हैं। आप सिर्फ़ गुलेलों और तीरों को ही ख़त्म कर देते हैं। यह बहुत आसान है ... आपके लिए ज़रूरी है,” सैवेज ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, “कोई ऐसी चीज़ जो आँसुओं से युक्त हो, ताकि कुछ अलग-सा लग सके... क्या ख़तरनाक ढंग से जीवन जीने में कुछ नहीं है?”

“उसमें बहुत कुछ है,” कंट्रोलर ने जवाब दिया। “मर्दों और औरतों को समय-समय पर अपने अड्रीनलों को उत्तेजित करना चाहिए ... यह सही तन्दुरुस्ती की एक शर्त है। यही वज़ह है कि हमने वी.पी.एस. चिकित्सा को अनिवार्य बना दिया है।”

‘वी.पी.एस.?’

“वायलंट पैशन सरोगेट। नियमित रूप से महीने में एक बार। हम समूची प्रणाली को अड्रीनलिन से भर देते हैं। यह भय और क्रोध का सम्पूर्ण समतुल्य है। बिना किन्हीं असुविधाओं के डेस्डेमोना की हत्या के और अॉथेलो द्वारा मारे जाने के सारे शक्तिवर्धक प्रभाव।”

“लेकिन मुझे तो असुविधाएँ पसन्द हैं।”

“हमें नहीं हैं,” कंट्रोलर ने कहा। “हमें सब कुछ सुविधाजनक ढंग से करना पसन्द है।”

“लेकिन मैं सुविधा नहीं चाहता। मैं ईश्वर चाहता हूँ, मैं कविता चाहता हूँ, मैं वास्तविक ख़तरे चाहता हूँ, मैं आज़ादी चाहता हूँ, मैं भलाई चाहता हूँ। मैं पाप चाहता हूँ।”

“दरअसल,” मुस्तफ़ा मांड ने कहा, “आप दुःखी होने के अधिकार का दावा कर रहे हैं।”

“तब यही सही,” सैवेज ने उद्धत भाव के साथ कहा, “मैं दुःखी होने के अधिकार का दावा कर रहा हूँ।

"साथ ही बूढ़ा होने और बदसूरत होने और नपुंसक हो जाने के अधिकार, सिफ़लिस और कैंसर का शिकार हो जाने के अधिकार, खाने के लिए बहुत कम होने के अधिकार, बहुत बुरा हो जाने के अधिकार, इस निरन्तर आशंका के साथ जीने के अधिकार कि पता नहीं कल क्या हो, मोतीझरा का शिकार होने के अधिकार, हर तरह की अकथनीय यातनाओं को भोगने के अधिकार का मैं दावा कर रहा हूँ।"

देर तक ख़ामोशी छाई रही।

"मैं उन सबका दावा करता हूँ," सैवेज ने अन्ततः कहा।

मुस्तफ़ा मांड ने अपने कन्धे झटक दिए। "आपका स्वागत है," उसने कहा।

जॉन द सैवेज एक निर्जन जंगल में निर्वासित हो जाता है, और एक संन्यासी का जीवन जीने लगता है। एक इंडियन आरक्षित स्थल पर वर्षों रहने और शेक्सपियर तथा धर्म के द्वारा दिमाग़ी तौर पर पूरी तरह बदल दिए जाने ने उसको इस तरह ढाल दिया है कि वह आधुनिकता के सारे वरदानों का तिरस्कार कर देता है, लेकिन इस तरह के असामान्य और रोमांचक शख़्स की मौजूदगी की ख़बर बहुत जल्दी चारों ओर फैल जाती है। उससे मिलने और उसके सारे कृत्यों को दर्ज़ करने के लिए लोगों का ताँता लग जाता है, और बहुत जल्दी ही वह एक प्रख्यात व्यक्ति बन जाता है। इस सारे अनपेक्षित ध्यान का केन्द्र बन जाने से बुरी तरह तंग आकर सैवेज इस सभ्य साँचे (मैट्रिक्स) से पलायन कर जाता है, कोई लाल गोली निगलकर नहीं, बल्कि ख़ुद को फाँसी पर लटकाकर।

द मैट्रिक्स और *ट्रुमेन शो* के रचयिताओं से भिन्न, हक्सले ने पलायन की सम्भावना पर सन्देह किया था, क्योंकि उन्होंने सवाल उठाया था कि क्या ऐसा कोई है, जो पलायन कर सकता है। चूँकि आपका मस्तिष्क और 'स्वत्व' उस साँचे का हिस्सा हैं, इसलिए उस साँचे से पलायन करने के लिए आपको अपने स्वत्व से ही पलायन करना अनिवार्य है, लेकिन यह एक विचारणीय सम्भावना है। स्वत्व की संकुचित परिभाषा से छुटकारा पाना शायद इक्कीसवीं सदी में जीवित बचे रहने का एक अनिवार्य कौशल हो सकता है।

V

लचीलापन

भौंचक्केपन के उस युग में आप कैसे रहते हैं, जब पुराने क़िस्से ध्वस्त हो चुके हैं, और उनकी जगह लेने के लिए कोई नया क़िस्सा सामने नहीं आया है?

19

शिक्षा

परिवर्तन एकमात्र स्थायी चीज़ है

मानव-जाति अपूर्व क्रान्तियों का सामना कर रही है, हमारे सारे पुराने क़िस्से चूरचूर हो रहे हैं, और उनकी जगह लेने के लिए कोई नया क़िस्सा अभी तक सामने नहीं आया है। इस तरह के अपूर्व रूपान्तरणों और मूलगामी अनिश्चितताओं से भरी दुनिया के प्रति हम स्वयं को और अपने बच्चों को किस तरह तैयार कर सकते हैं? आज का जन्मा शिशु 2050 में तीस के आस-पास का होगा। अगर सब कुछ ठीक-ठाक से चलता रहा, तो वह बच्चा 2100 में भी जीवित बना रहेगा, और हो सकता है कि तब वह बाइसवीं सदी का सक्रिय नागरिक हो। हमें अपने इस बच्चे को ऐसा क्या पढ़ाना चाहिए, जो 2050 या बाइसवीं सदी की दुनिया में उसके जीवित बने रहने और फलने-फूलने में मदद कर सके? उसको रोज़गार हासिल करने के लिए, अपने आस-पास के घटनाक्रमों को समझने के लिए, और जीवन की भूलभुलैया के बीच अपना रास्ता बनाने के लिए किस तरह की दक्षताओं की ज़रूरत है?

दुर्भाग्य से, चूँकि कोई नहीं जानता कि 2050 में दुनिया की क्या शक्ल होगी, तो हम इन सवालों के जवाब भी नहीं जानते, ऐसे में 2100 की बात तो छोड़ ही दें। निश्चय ही, मनुष्य भविष्य का पूर्वानुमान कभी भी ठीक-ठीक ढंग से नहीं कर सकते, लेकिन आज यह पहले से कहीं ज़्यादा मुश्किल हो गया है, क्योंकि जैसे ही प्रौद्योगिकी हमें शरीरों, मस्तिष्कों और दिमाग़ों को नए सिरे से गढ़ने में सक्षम बना देती है, वैसे ही हम किन्हीं भी चीज़ों के बारे में पक्के तौर पर कुछ भी कह पाने की स्थिति में नहीं रह जाएँगे। इनमें वे चीज़ें भी शामिल होंगी, जो पहले निश्चित और शाश्वत प्रतीत होती थीं।

एक हज़ार साल पहले, 1018 में, भविष्य के बारे में ऐसी बहुत-सी चीज़ें थीं, जिनके बारे में लोग जानते नहीं थे, लेकिन तब भी उनको इस बात का यक़ीन हुआ करता था कि मानव-समाज के बुनियादी लक्षणों में कोई बदलाव आने वाला नहीं है। अगर आप 1018 में चीन में रहते थे, तो आप जानते थे कि 1050 तक सांग साम्राज्य ध्वस्त हो सकता है, उत्तर दिशा से ख़ितान आक्रमण कर सकते हैं, और महामारी लाखों लोगों की जान ले सकती है, लेकिन यह बात आपके सामने स्पष्ट थी कि 1050 में भी ज़्यादातर लोग किसानों या बुनकरों के रूप में काम कर रहे होंगे। हुक्मरान तब भी अपनी फ़ौजों और नौकरशाहियों में भर्ती करने के लिए इंसानों पर निर्भर होंगे, पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व बना रहेगा, आयु-सीमा तब भी चालीस के आस-पास होगी, और मनुष्य की काया ठीक ऐसी-की-ऐसी होगी। इसलिए, 1018 में ग़रीब चीनी अभिभावक अपने बच्चों को चावल रोपने और सिल्क बुनने की विधियाँ सिखाते थे, और ज़्यादा सम्पन्न अभिभावक अपने लड़कों को कन्फ़्यूशियाई क्लासिक्स पढ़ने, चित्र-लिपि लिखने, या घोड़े पर सवार होकर युद्ध करने की विधियाँ सिखाते थे। वे अपनी लड़कियों को विनम्र तथा आज्ञाकारी गृहणियाँ बनने की शिक्षा देते थे। यह बात ज़ाहिर-सी थी कि इन दक्षताओं की ज़रूरत 1050 में भी पड़ने वाली थी।

इसके विपरीत, आज हमें इस बात का कोई अनुमान नहीं है कि 2050 में चीन या बाक़ी दुनिया किस तरह की दिखेगी। हम नहीं जानते कि लोग आजीविका के लिए क्या करेंगे, हम नहीं जानते कि सेनाएँ या नौकरशाहियाँ किस तरह काम करेंगी, और हम नहीं जानते कि लैंगिक रिश्ते किस तरह के होंगे। कुछ लोग शायद आज की तुलना में ज़्यादा लम्बा जीवन जिएँगे, और जैवइंजीनियरी और सीधे मस्तिष्क-कम्प्यूटर इंटरफ़ेसों की वज़ह से स्वयं इंसानी काया में अपूर्व क्रान्ति होगी। इसलिए आज बच्चे जो कुछ भी सीखते हैं, 2050 तक उसमें से ज़्यादातर के अप्रासंगिक हो जाने की सम्भावना है।

वर्तमान में, बहुत सारे स्कूल सूचना को ठूँसने पर ध्यान देते हैं। अतीत में यह चीज़ मायने रखती थी, क्योंकि सूचना दुर्लभ थी, और मौजूदा सूचना के धीमे रिसाव तक को बार-बार सेंसरशिप के सहारे अवरुद्ध कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए, अगर आप 1800 में मैक्सिको के किसी छोटे-से देहाती नगर में रहते थे, तो उससे व्यापक दुनिया के बारे में ज़्यादा कुछ जान पाना आपके लिए मुश्किल था। वहाँ कोई रेडियो, टेलीविज़न, दैनिक अख़बार या सार्वजनिक पुस्तकालय नहीं था। अगर आप साक्षर भी होते और किसी निजी पुस्तकालय तक आपकी पहुँच होती, तब भी सिवाय उपन्यासों और मज़हबी पोथियों के वहाँ पढ़ने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं था। स्पेनी साम्राज्य स्थानीय स्तर पर मुद्रित तमाम मज़मूनों को बुरी तरह सेंसर कर दिया करता था, और सिर्फ़ अच्छी तरह से जाँचे-परखे गए थोड़े-से प्रकाशनों को बाहर से आयातित करने की छूट देता था। ज़्यादातर यही बात तब भी सही होती, अगर आप रूस, हिन्दुस्तान, तुर्की या चीन के किसी देहाती नगर में

रह रहे होते। जब आधुनिक स्कूल आए, जिन्होंने हर बच्चे को पढ़ने और लिखने तथा भूगोल, इतिहास और जीवविज्ञान के बुनिदायी तथ्यों की शिक्षा देने की शुरुआत की, तो उन्होंने अपरिमित सुधार का प्रतिनिधित्व किया।

इसके विपरीत, इक्कीसवीं सदी में हम सूचना की विपुल मात्रा से घिरे हुए हैं, और अब सेंसर भी उसको अवरुद्ध करने की कोशिश नहीं करते। इसकी बजाय, वे ग़लत सूचनाएँ फैलाने और अप्रासंगिकताओं के सहारे हमारा ध्यान भटकाने में व्यस्त हैं। अगर आप मैक्सिको के किसी देहाती नगर में रहते हैं और आपके पास स्मार्टफ़ोन है, तो आप अपने जीवन का बहुत सारा वक़्त विकीपीडिया पढ़ते हुए, टेड टॉक्स देखते हुए, और फ़्री ऑनलाइन कोर्स लेते हुए बिता सकते हैं। कोई भी सरकार उस सूचना को छिपाने की उम्मीद नहीं कर सकती, जो वह नहीं चाहती। दूसरी ओर, यह ख़तरनाक रूप से आसान है कि वे जनता को परस्पर विरोधी रिपोर्टों और ध्यान भटकाने वाली सूचनाओं से पाट दें। सारी दुनिया के लोग अलेप्पो की गोलीबारी या आर्कटिक के पिघलते हिमशिखरों के बारे में ताज़ातरीन जानकारी से मात्र एक बटन दबाने भर की दूरी पर हैं, लेकिन इन सबके बारे में इतनी परस्पर विरोधी जानकारियाँ हैं कि यह समझ पाना मुश्किल है कि किस पर भरोसा किया जाए। इसके अलावा, असंख्य दूसरी चीज़ें भी एक बटन दबाने भर की दूरी पर हैं, जो आपकी एकाग्रता को मुश्किल बना देती हैं, और जब राजनीति या विज्ञान बहुत पेचीदा लगने लगते हैं, तो वहाँ से ध्यान हटकर किन्हीं मज़ेदार कैट वीडियो, सेलिब्रिटी गॉसिप, या पोर्नोग्राफ़ी देखने का लोभ जागने लगता है।

इस तरह की दुनिया में, किसी अध्यापक को अपने छात्रों को और अधिक जानकारी देने की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती। यह जानकारी उनके पास पहले से ही भरपूर मात्रा में होती है। इसकी बजाय, लोगों को सूचना की सार्थक व्याख्या करने, महत्त्वपूर्ण और ग़ैर-महत्त्वपूर्ण के बीच फ़र्क़ करने, और इस सबसे ऊपर सूचना के ढेरों अंशों को आपस में मिलाकर दुनिया की व्यापक तसवीर गढ़ने की ज़रूरत है।

वास्तव में, ये सदियों से पश्चिम की उदारवादी शिक्षा का आदर्श रहा है, लेकिन अब तक अधिकांश पश्चिमी स्कूल इस आदर्श को प्राप्त करने में सुस्त रहे हैं। अध्यापकों ने ख़ुद को छूट दी कि वे आँकड़े ठूँसते रहें और वहीं वे छात्रों को 'ख़ुद ही सोचने' के लिए प्रोत्साहित करते रहे। तानाशाही के भय के चलते, उदारवादी स्कूलों में महाख्यानों को लेकर विशेष रूप से दहशत रही। वे मानकर चलते रहे कि जब तक वे छात्रों को ढेरों आँकड़े और किंचित आज़ादी उपलब्ध कराते रहेंगे, तब तक छात्र दुनिया की अपनी तरह की तसवीर रचते रहेंगे, और अगर यह पीढ़ी उन सारे आँकड़ों का संश्लेषण कर दुनिया का एक सुसंगत और अर्थपूर्ण क़िस्सा गढ़ने में नाकामयाब भी रहती है, तो भविष्य में एक अच्छा संश्लेषण रचने के लिए भरपूर वक़्त होगा। अब हमारे पास वह वक़्त नहीं बचा है। आने वाले कुछ दशकों में जो फ़ैसले हम लेंगे, वे स्वयं जीवन के भविष्य को आकार देंगे,

और ये फ़ैसले हम अपनी मौजूदा विश्वदृष्टि के आधार पर ही ले सकते हैं। अगर इस पीढ़ी में ब्रह्माण्ड की किसी बोधगम्य दृष्टि का अभाव हुआ, तो जीवन का भविष्य बेतरतीब ढंग से तय होगा।

दबाव ज़बरदस्त है

सूचना के अलावा, ज़्यादातर स्कूल बच्चों को पूर्वनिर्धारित दक्षताएँ - जैसे कि विभेदक समीकरणों का हल निकालना, C ++ में कम्प्यूटर कोड लिखना, परखनली में रसायनों की पहचान करना, या चीनी में बतियाना - उपलब्ध कराने पर बहुत ज़्यादा ध्यान देते हैं, लेकिन चूँकि हमें इस बात का कोई अनुमान नहीं है कि 2050 में रोज़गार की दुनिया कैसी होगी, इसलिए हमें वास्तव में इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि वे कौन-सी ख़ास दक्षताएँ होंगी, जिनकी लोगों को ज़रूरत पड़ेगी। हम बच्चों को यह सिखाने में भरपूर उद्यम लगा सकते हैं कि C ++ में कैसे लिखा जाए या चीनी भाषा कैसे बोली जाए, लेकिन मुमकिन है कि हमें पता चले कि 2050 तक आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस सॉफ़्टवेयर की कोडिंग इंसानों से बेहतर ढंग से कर सकता है, और नया गूगल ट्रांसलेट ऐप आपको मैंडरिन, कैंटोनीज़ या हक्का में लगभग त्रुटिहीन वार्तालाप करने में सक्षम बना सकता है, भले ही आपको सिर्फ़ *नी हाव* (हेलो, कैसे हैं) बोलना भर आता हो।

तब हमें क्या पढ़ाना चाहिए? अनेक अध्यापन-विशेषज्ञों का तर्क है कि स्कूलों को अब 'चार Cs ' पढ़ाने पर ध्यान देना चाहिए - क्रिटिकल थिंकिंग (विवेचनात्मक चिन्तन), कम्युनिकेशन (सम्प्रेषण), कोलेबोरेशन (सहकार) और क्रिएटिविटी (सृजनात्मकता)। और भी व्यापक तौर पर, स्कूलों को तकनीकी दक्षताओं को कम महत्त्व देना चाहिए और सामान्य उद्देश्यपरक जीवन सम्बन्धी दक्षताओं पर ज़्यादा ज़ोर देना चाहिए। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण होंगी परिवर्तन से निपटने, नई चीज़ें सीखने, और अज्ञात परिस्थितियों में अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखने की क़ाबिलियतें। 2050 की दुनिया के साथ क़दम मिलाकर चलने के लिए आपको सिर्फ़ नए विचार और उत्पाद ईजाद करना भर ज़रूरी नहीं होगा। इन सबसे ऊपर आपको स्वयं को बार-बार नए सिरे से गढ़ना भी ज़रूरी होगा।

क्योंकि जैसे-जैसे परिवर्तन की गति बढ़ती जाएगी, वैसे-वैसे न सिर्फ़ अर्थव्यवस्था में, बल्कि 'मनुष्य होने' के अर्थ-मात्र में बदलाव आने की सम्भावना है। 1848 में ही *कम्युनिस्ट मेनीफ़ेस्टो* ने घोषणा कर दी थी कि 'जो कुछ भी ठोस है, वह घुलकर हवा बन जाता है', लेकिन मार्क्स और ऐंजिल्स मुख्यतः सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं के बारे में सोच रहे थे। 2048 तक शारीरिक और संज्ञानात्मक संरचनाएँ भी घुलकर हवा में, या डेटा बिट्स के बादल में बदल जाएँगी।

1848 में लाखों लोग गाँवों के खेतों के अपने रोज़गार खो रहे थे, और कारख़ानों में काम करने बड़े शहरों की ओर जा रहे थे, लेकिन बड़े शहरों में पहुँचने पर इसकी कोई सम्भावना नहीं थी कि उनको अपना लिंग बदलने या कोई छठी इन्द्रिय जोड़ने की ज़रूरत पड़ती। और अगर उनको किसी कपड़ा कारख़ाने में काम मिल जाता, तो वे अपने शेष कामकाजी जीवन में उसी व्यवसाय में बने रहने की उम्मीद कर सकते थे।

2048 तक लोगों को अस्थिर लैंगिक पहचानों के साथ, और कम्प्यूटर आरोपणों द्वारा उत्पन्न नवीन ऐन्द्रिय अनुभवों के साथ साइबरस्पेस में स्थानान्तरित हो जाने की स्थिति से तालमेल बैठाना पड़ सकता है। अगर वे एक त्रिआयामी आभासी वास्तविक खेल के लिए ताज़ातरीन फ़ैशनों के आकल्पन में कार्य और अर्थ, दोनों चीज़ें खोज लेते हैं, तो दस साल के भीतर न सिर्फ़ यह ख़ास व्यवसाय, बल्कि इस स्तर की कलात्मक सृजनात्मकता की माँग करने वाले सारे काम एआई द्वारा हथिया लिए जाएँगे। इसलिए पच्चीस साल की उम्र में आप एक डेटिंग साइट पर अपना परिचय 'लन्दन में रहने वाली और एक फ़ैशन की दुकान पर काम करने वाली पच्चीस वर्षीय विषमलैंगिक स्त्री' के रूप में देती हैं। पैंतीस की उम्र में आप कहती हैं कि आप 'उम्र के सामंजस्य की प्रक्रिया से गुज़र रहे किसी लिंग-विशेष से ताल्लुक़ न रखने वाली एक ऐसी स्त्री हैं, जिसकी नव्य-कॉर्टिकल गतिविधियों का क्षेत्र अब मुख्यतः न्यू कॉस्मॉस आभासी दुनिया है, और जिसके जीवन की मुहिम वहाँ जाने की है, जहाँ इसके पहले कोई भी फ़ैशन डिज़ाइनर नहीं गई है'। पैंतालीस की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते डेटिंग और आत्मपरिभाषाएँ, दोनों बहुत पुरानी पड़ जाती हैं। आप सिर्फ़ एक ऐसे ऐल्गरिदम की प्रतीक्षा करती हैं, जो आपके लिए एकदम सटीक रिश्ता खोज दे (या रच दे)। जहाँ तक फ़ैशन डिज़ाइन की कला से अर्थ हासिल करने का सवाल है, आप ऐल्गरिदमों द्वारा इस क़दर अटल रूप से पीछे छोड़ दी गई होंगी, कि पिछले दशक की अपनी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों की ओर मुड़कर देखना आपको गर्व की बजाय शर्मिन्दगी से भर देगा। और पैंतालीस की उम्र में भी आपके आगे आमूल-चूल बदलाव लाने वाले कई दशक पड़े होंगे।

कृपया भविष्य की परिकल्पना को इस तरह न लें कि यह शब्दश: इसी रूप में घटित होगी। जो बदलाव हमें देखने को मिलेंगे, उनका पूर्वानुमान वास्तव में कोई नहीं कर सकता। भविष्य की किसी भी परिकल्पना के सच्चाई से बहुत दूर होने की सम्भावना है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मध्य इक्कीसवीं सदी की दुनिया का वर्णन करता है और वह वर्णन किसी विज्ञान-कथा जैसा प्रतीत होता है, तो वह सम्भवतः झूठा है, लेकिन फिर अगर कोई व्यक्ति आपके सामने मध्य इक्कीसवीं सदी की दुनिया का वर्णन करता है और वह वर्णन विज्ञान-कथा जैसा प्रतीत *नहीं होता* - तो वह निश्चय ही झूठा है। हम निश्चयात्मकताओं के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते, लेकिन बदलाव अपने आप में एकमात्र निश्चयात्मकता है।

यह गम्भीर बदलाव शायद जीवन के बुनियादी ढाँचे को ही बदल दे, और विच्छिन्नता को इसका सबसे प्रमुख लक्षण बना दे। जीवन चिरकाल से ही दो अनुपूरक हिस्सों में बँटा रहा था : सीखने का दौर और उसके बाद काम करने का दौर। जीवन के पहले हिस्से में आप जानकारी एकत्र करते थे, दक्षताएँ विकसित करते थे, एक जीवन-दृष्टि रचते थे, और एक स्थिर पहचान गढ़ते थे। अगर आप पन्द्रह साल की उम्र में भी अपना दिन (किसी औपचारिक स्कूल में बिताने की बजाय) परिवार के धान के खेत में काम करते हुए बिताते थे, तब भी जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम आप कर रहे होते थे, वह सीखने का काम होता था : चावल की खेती कैसे की जाए, किसी बड़े शहर से आए चावल के लालची सौदागर से मोल-भाव कैसे किया जाए, और ज़मीन तथा पानी को लेकर दूसरे ग्रामीणों के साथ होने वाली तक़रारों को कैसे सुलझाया जाए। जीवन के दूसरे हिस्से में आप दुनिया में अपना रास्ता ढूँढने के लिए, आजीविका कमाने के लिए, और समाज में योगदान करने के लिए अपनी एकत्र की गई दक्षताओं पर निर्भर करते थे। बेशक, पचास की उम्र में भी आप चावल के बारे में, सौदागरों के बारे में, तक़रारों के बारे में नई चीज़ें सीखना जारी रखते थे, लेकिन ये चीज़ें आपकी प्रखर दक्षताओं में छोटे-मोटे सुधार ही लाती थीं।

इक्कीसवीं सदी के मध्य तक तेज़ रफ़्तार बदलाव और उन्हीं के साथ-साथ लम्बे जीवन-काल की वज़ह से यह पारम्परिक ढाँचा पुराना पड़ जाएगा। जीवन की सीवनें उघड़ जाएँगी, और जीवन के विभिन्न कालखण्डों के बीच निरन्तरता कम से कमतर होती जाएगी। 'मैं कौन हूँ?' का प्रश्न इस क़दर निर्णायक और पेचीदा हो जाएगा, जितना वह कभी नहीं रहा।

इससे मानसिक सन्ताप और तनाव के स्तरों के बहुत अधिक बढ़ जाने की सम्भावना है, क्योंकि बदलाव हमेशा ही सन्ताप और तनाव से भरा होता है, और एक ख़ास उम्र के बाद ज़्यादातर लोग बदलाव चाहते ही नहीं हैं। जब आप पन्द्रह के होते हैं, आपका समूचा जीवन बदलाव होता है। आपकी काया बढ़ रही होती है, आपका दिमाग़ विकसित हो रहा होता है, आपके रिश्ते प्रगाढ़ हो रहे होते हैं। हर चीज़ लगातार बदल रही होती है, और हर चीज़ नई होती है। आप ख़ुद को आविष्कृत करने में व्यस्त होते हैं। बहुत-से किशोर इससे डरे होते हैं, लेकिन इसी के साथ-साथ यह रोमांचक भी होता है। आपके सामने नई सम्भावनाएँ खुल रही होती हैं, और जीतने के लिए सारी दुनिया आपके सामने मौजूद होती है।

पचास के होते-होते, आप बदलाव नहीं चाहते, और ज़्यादातर लोग दुनिया को जीतने की कोशिश छोड़ चुके होते हैं। सब कुछ इस क़दर देख-समझ लिया है कि अब ऊब होने लगी है। आपको स्थायित्व ज़्यादा ठीक लगता है। आप अपनी दक्षताओं, अपनी आजीविका, अपनी पहचान और अपनी विश्वदृष्टि में इतना अधिक निवेश कर चुके हैं कि आप एक बार फिर नए सिरे से सब कुछ शुरू नहीं करना चाहते। किसी चीज़ को तैयार

करने में आपने जितनी कड़ी मेहनत की होती है, उतना ही मुश्किल होता है उस चीज़ पर अपनी पकड़ को ढीला करना और किसी नई चीज़ के लिए गुंजाइश देना। आप नए अनुभवों और छोटे-मोटे तालमेल बैठाने में अभी भी आनन्द लेते हैं, लेकिन ज़्यादातर लोग पचास की उम्र में अपनी पहचान और व्यक्तित्व की गहरी संरचनाओं की आमूल-चूल मरम्मत के लिए तैयार नहीं होते।

इसके स्नायुविक कारण होते हैं। यद्यपि वयस्क दिमाग़ उससे ज़्यादा लचीला और परिवर्तनशील होता है, जितना कभी समझा जाता था, तब भी उसमें किशोर दिमाग़ जैसी नमनीयता नहीं होती। स्नायुओं और दो स्नायुविक कोशिकाओं के बीच के तारों को नए सिरे से जोड़ना भयानक मुश्किल काम है। लेकिन इक्कीसवीं सदी में स्थायित्व आपके लिए महँगा पड़ सकता है। अगर आप किसी स्थायी पहचान, काम या विश्वदृष्टि से चिपके रहना चाहते हैं, तो आप यह जोखिम उठाते हैं कि दुनिया आपको पीछे छोड़ती हुई आपके सिर पर से गुज़र जाती है। नतीजतन, इस तथ्य के मद्देनज़र कि आयु-सीमा के बढ़ते जाने की सम्भावना है, आपको एक अज्ञानी रूढ़िवादी के रूप में दशकों गुज़ारने पड़ सकते हैं। प्रासंगिक बने रहने के लिए - सिर्फ़ आर्थिक रूप से ही नहीं, बल्कि सबसे ज़्यादा सामाजिक रूप से प्रासंगिक बने रहने के लिए - आपको निरन्तर सीखते रहने और नए सिरे से गढ़ते रहने की ज़रूरत होगी, निश्चय ही पचास साल की युवावस्था में।

जैसे ही विचित्रता नई सामान्य अवस्था बन जाएगी, आपके अतीत के अनुभव, साथ ही समूची मनुष्यता के अतीत के अनुभव भी, उतने भरोसेमन्द मार्गदर्शक नहीं रह जाएँगे। व्यक्तियों के रूप में इंसान को और समग्र तौर पर मानव-जाति को उत्तरोत्तर ऐसी चीज़ों से निपटना पड़ेगा, जिनका सामना पहले कभी किसी ने नहीं किया था, जैसे कि अतिशय बुद्धिमान मशीनें, यान्त्रिक ढंग से गढ़ी गई कायाएँ, आपकी भावनाओं के साथ भयानक ढंग से छल-योजना कर सकने वाले ऐल्गरिदम, मनुष्य द्वारा तेज़ी के साथ पैदा की जा रही जलवायुपरक उथल-पुथल, और अपने व्यवसाय को हर दस साल बाद बदलने की ज़रूरत। जब आप एक पूरी तरह से अपूर्व परिस्थिति का सामना कर रहे होंगे, तब आप ऐसा क्या किया करेंगे, जो सही होगा? जब आप सूचना की विपुल मात्रा से भर दिए गए होंगे और जब इस सूचना को आत्मसात करने और उस सबका विश्लेषण करने का कोई उपाय न होगा, तो आपकी कार्रवाई का क्या रूप होगा? ऐसी दुनिया में किस तरह रहा जा सकेगा, जहाँ अथाह अनिश्चयात्मकता कोई खोट नहीं, बल्कि वह इस दुनिया का एक लक्षण होगी?

इस तरह की दुनिया में जीवित बने रहने और फलने-फूलने के लिए, आपको बहुत ज़्यादा मानसिक लचीलेपन और भावनात्मक सन्तुलन के विशाल संचय की ज़रूरत होगी। आपको बार-बार कुछ ऐसी चीज़ों को ख़ारिज़ करते रहना होगा, जिनसे आप सबसे अच्छी तरह परिचित हैं, अज्ञात चीज़ों के साथ आत्मीयता महसूस करनी होगी। दुर्भाग्य से, बच्चों

को अज्ञात का स्वागत करने और अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखने की शिक्षा देना, उनको भौतिकी के समीकरणों या पहले विश्वयुद्ध की वज़हों की शिक्षा देने से कहीं ज़्यादा मुश्किल काम है। आप कोई पुस्तक पढ़कर या कोई व्याख्यान सुनकर लचीलापन नहीं सीख सकते। शिक्षकों में ख़ुद ही आमतौर से उस मानसिक लचीलेपन का अभाव है, जिसकी माँग इक्कीसवीं सदी करती है, क्योंकि वे स्वयं पुरानी शिक्षा-पद्धति की पैदाइश हैं।

औद्योगिक क्रान्ति ने हमें शिक्षा का क्रमबद्ध उत्पादन (प्रॉडक्शन-लाइन) का सिद्धान्त वसीयत में सौंपा है। नगर के बीच एक बड़ी पक्की इमारत होती है, जिसमें एक-जैसे बहुत-से कमरे होते हैं, और हर कमरा मेज़ों और कुर्सियों की क़तार से सुसज्जित होता है। घण्टे की आवाज़ सुनते ही आप उन तीस और बच्चों के साथ इनमें से किसी एक कमरे में जाते हैं, जो सब उसी साल पैदा हुए थे, जिस साल आपका जन्म हुआ था। हर घण्टे कोई बड़ी उम्र का व्यक्ति अन्दर आता है और बोलना शुरू कर देता है। इस काम के लिए उनको सरकार से पैसे मिलते हैं। उनमें से एक आपको पृथ्वी की आकृति के बारे में बताता है, दूसरा आपको इंसान के अतीत के बारे में बताता है, तीसरा आपको मनुष्य के शरीर के बारे में बताता है। इस ढाँचे का मज़ाक़ उड़ाना आसान है, और लगभग हर कोई इस पर सहमत है कि इसकी अतीत की उपलब्धियाँ जो भी रही हों, लेकिन अब यह दिवालिया हो चुका है। इसके बावजूद अब तक हमने कोई अभीष्ट या कारगर विकल्प नहीं रचा है। निश्चय ही हमने ऐसा कोई विस्तारपरक विकल्प नहीं रचा है, जिसको कैलिफ़ोर्निया के किन्हीं सिर्फ़ सम्पन्न उपनगरों की बजाय मैक्सिको के ग्रामीण इलाक़ों में लागू किया जा सके।

मनुष्यों में सेंध

इसलिए मैक्सिको, हिन्दुस्तान या अल्बामा में कहीं किसी पुराने पड़ चुके स्कूल में अटके एक पन्द्रह-वर्षीय किशोर को जो सबसे अच्छी सलाह मैं दे सकता हूँ, वह यह है : वयस्कों पर बहुत ज़्यादा भरोसा मत करो। उनमें से ज़्यादातर के इरादे भले हैं, लेकिन वे दुनिया को नहीं समझते। अतीत में, वयस्कों का अनुसरण करना अपेक्षाकृत सुरक्षित दाँव हुआ करता था, क्योंकि वे दुनिया को बहुत अच्छी तरह से समझते थे, और दुनिया में बदलाव धीमी गति से आते थे, लेकिन इक्कीसवीं सदी बिल्कुल अलग तरह की होने जा रही है। परिवर्तन की बढ़ती हुई रफ़्तार की वज़ह से आप इस बारे में कभी निश्चित नहीं हो सकते कि वयस्क लोग आपसे जो कुछ कह रहे हैं, वह कालातीत प्रज्ञा की बात है या कोई घिसा-पिटा पूर्वाग्रह है।

तब फिर आप उनकी जगह किस चीज़ पर भरोसा कर सकते हैं? क्या शायद प्रौद्योगिकी पर? यह और भी ज़्यादा जोखिम-भरा दाँव है। प्रौद्योगिकी आपकी बहुत मदद कर सकती है, लेकिन अगर प्रौद्योगिकी आपके जीवन पर बहुत ज़्यादा हुकूमत हासिल कर लेती है, तो आप उसकी कार्यसूची के बन्धक बनकर रह सकते हैं। हज़ारों साल पहले मनुष्यों ने कृषि का आविष्कार किया था, लेकिन इस प्रौद्योगिकी ने एक बहुत छोटे-से कुलीन-वर्ग को समृद्ध किया, और बहुसंख्यक इंसानों को ग़ुलाम बनाया। ज़्यादातर लोगों ने पाया कि वे सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक काम में जुते रहते हुए खरपतवार उखाड़ते रहते हैं, पानी से भरी बाल्टियाँ ढोते रहते हैं और सुलगती धूप में मक्के की फ़सल काटते रहते हैं। ये आपके साथ भी हो सकता है।

प्रौद्योगिकी बुरी नहीं है। अगर आपको मालूम है कि आप अपने जीवन में क्या चाहते हैं, तो प्रौद्योगिकी उसको हासिल करने में आपकी मदद कर सकती है, लेकिन अगर आपको नहीं मालूम कि आप अपने जीवन में क्या हासिल करना चाहते हैं, तो प्रौद्योगिकी के लिए आपके लक्ष्यों को निर्धारित करना और आपके जीवन को नियन्त्रित करना बहुत आसान होगा। ख़ासतौर से प्रौद्योगिकी जैसे-जैसे मनुष्यों को समझने के मामले में बेहतर होती जाएगी, वैसे-वैसे, बजाय इसके कि वह आपकी सेवा करे, आप ख़ुद को उसकी सेवा में लगा हुआ पा सकते हैं। क्या आपने उन नीरस व्यक्तियों को देखा है, जो अपना चेहरा अपने स्मार्टफ़ोनों में गड़ाए सड़कों पर घूमते रहते हैं? आपको क्या लगता है, वे प्रौद्योगिकी को नियन्त्रित करते हैं, या प्रौद्योगिकी उनको नियन्त्रित करती है?

तब फिर क्या आपको ख़ुद पर भरोसा करना चाहिए? यह बात *सीस्मी स्ट्रीट* पर या पुराने चाल की किसी डिज़्नी फ़िल्म में बहुत बड़ी लगती है, लेकिन वास्तविक जीवन में यह उस तरह कारगर नहीं है। यहाँ तक कि यह बात अब डिज़्नी तक को समझ में आने लगी है। रिली एंडरसन की तरह, ज़्यादातर लोग शायद ही ख़ुद को जानते हैं, और जब वे 'अपनी आवाज़ सुनने' की कोशिश करते हैं, तो वे बहुत आसानी से बाहरी छलयोजनाओं के शिकार हो जाते हैं। हम अपने सिरों के भीतर से आती जिस आवाज़ को सुनते हैं, वह कभी विश्वास के क़ाबिल नहीं रही, क्योंकि वह जैवरासायनिक खोटों के साथ-साथ, हमेशा सरकारी प्रचार, विचारधारात्मक ब्रेनवाशिंग और वाणिज्यिक विज्ञापनों को प्रतिध्वनित करती है।

जैसे ही जैवप्रौद्योगिकी और मशीन लर्निंग उन्नत रूप ले लेंगे, वैसे ही लोगों की भावनाओं और आकांक्षाओं के साथ छलयोजना करना और भी आसान हो जाएगा, और तब अपने दिल की आवाज़ का अनुसरण करना पहले के किसी भी वक़्त के मुक़ाबले ज़्यादा ख़तरनाक हो जाएगा। जब कोका-कोला, अमेज़ॉन, बैदू या सरकार यह समझ लेगी कि आपके दिल की डोरों को कैसे खींचा जाए और आपके मस्तिष्क के बटनों को कैसे दबाया जाए, तक क्या आप अपने और उनके विपणन विशेषज्ञों के बीच फ़र्क़ कर पाएँगे?

इस तरह के चुनौतीपूर्ण उद्यम में कामयाब होने के वास्ते आपको अपने ऑपरेटिंग सिस्टम को बेहतर समझने के लिए बहुत कड़ी मेहनत करने की ज़रूरत होगी। यह जानने के लिए कि आप क्या हैं, और आप जीवन से क्या चाहते हैं। यह निश्चय ही पोथी में दी गई सबसे पुरानी सलाह है : ख़ुद को जानो। हज़ारों सालों तक दार्शनिकों और भविष्यदृष्टाओं ने लोगों से ख़ुद को जानने की विनती की है, लेकिन यह सलाह जिस तरह इक्कीसवीं सदी में तत्काल अमल करने योग्य बन चुकी है, उतनी कभी नहीं थी, क्योंकि लाओज़ी और सुकरात के ज़माने से भिन्न, आज आप गम्भीर प्रतिस्पर्धा का सामना कर रहे हैं। कोका-कोला, अमेज़ॉन, बैदू और सरकार सब-के-सब आपके भीतर सेंध लगाने (आपको हैक करने) की होड़ कर रहे हैं। आपका स्मार्टफ़ोन नहीं, आपका कम्प्यूटर नहीं, आपका बैंक खाता नहीं - वे आपके भीतर और आपके जैविक ऑपरेटिंग सिस्टम के भीतर सेंध लगाने की होड़ कर रहे हैं। शायद आपने सुना होगा कि हम कम्प्यूटरों की हैंकिंग के युग में रह रहे हैं, लेकिन यह बमुश्किल आधी सच्चाई ही है। दरअसल, हम मनुष्यों को हैक किए जाने के युग में रह रहे हैं।

ऐल्गरिदम ठीक इस वक़्त भी आप पर निगाह रखे हुए हैं। वे निगाह रखे हुए हैं कि आप कहाँ जाते हैं, क्या ख़रीदते हैं, किससे मिलते हैं। जल्दी ही वे आपके हर क़दम, आपकी सारी साँसों, आपके दिल की सारी धड़कनों पर निगाह रखने लगेंगे। आपको ज़्यादा-से-ज़्यादा बेहतर ढंग से समझने के लिए वे बिग डेटा और मशीन लर्निंग पर भरोसा कर रहे हैं। और जैसे ही ये ऐल्गरिदम आपको आपसे बेहतर ढंग से जानने लगेंगे, वे आपको नियन्त्रित कर सकेंगे, आपके साथ छल-योजना कर सकेंगे, और आप इसको लेकर कुछ ख़ास नहीं कर पाएँगे। आप मैट्रिक्स के भीतर, या *द ट्रुमेन शो* के भीतर रह रहे होंगे। अन्त में, यह एक साधारण-सा अनुभवपरक मसला होगा : अगर ऐल्गरिदम सचमुच ही इस बात को आपसे बेहतर समझते हैं कि आपके भीतर क्या चल रहा है, तो प्रभुत्त्व आपके हाथ से निकलकर उनके हाथ में चला जाएगा।

निश्चय ही, यह मुमकिन है कि सारा प्रभुत्त्व ऐल्गरिदमों के हाथ में सौंपकर और आपके तथा दुनिया के फ़ैसले उनके ज़िम्मे सौंपकर, आप पूरी तरह प्रसन्न हों। अगर ऐसा है, तो चैन की साँस लीजिए और सफ़र का आनन्द उठाइए। फिर आपको इस बारे में कुछ भी करने की ज़रूरत नहीं है। ऐल्गरिदम सब कुछ सँभाल लेंगे, लेकिन, अगर आप अपने अस्तित्व और अपने भावी जीवन पर कुछ नियन्त्रण अपने हाथों में बचाए रखना चाहते हैं, तो आपको ऐल्गरिदमों से, अमेज़ॉन और सरकार से ज़्यादा तेज़ रफ़्तार से दौड़ना होगा, और इसके पहले कि वे आपको जानें, आपको ख़ुद को जानना होगा। चूँकि आपको तेज़ दौड़ना है, इसलिए अपने साथ बहुत ज़्यादा सामान न ले जाएँ। अपने सारे भ्रम छोड़कर जाएँ। वे बहुत भारी हैं।

20

अर्थ

जीवन कोई कहानी नहीं है

मैं कौन हूँ? मुझे अपने जीवन में क्या करना चाहिए? जीवन का अर्थ क्या है? ये सवाल मनुष्य चिरकाल से पूछते आए हैं। हर पीढ़ी को नए जवाबों की ज़रूरत पड़ती है, क्योंकि हम जो जानते हैं और नहीं जानते, वह बदलता रहता है। हम विज्ञान के बारे में, ईश्वर के बारे में, राजनीति के बारे में और मज़हब के बारे में जो कुछ भी जानते हैं और जो कुछ नहीं जानते, उसको देखते हुए वह कौन-सा सबसे अच्छा जवाब है, जो हम आज दे सकते हैं?

लोग किस तरह के जवाब की अपेक्षा करते हैं? लगभग हर मामले में, जब लोग जीवन के अर्थ के बारे में पूछते हैं, वे कोई कहानी सुनाए जाने की उम्मीद करते हैं। *होमो सेपियन्स* एक क़िस्सागो प्राणी है, जो संख्याओं या रेखाचित्रों की पदावली में सोचने की बजाय क़िस्सों की पदावली में सोचता है, और विश्वास करता है कि यह सृष्टि स्वयं ही एक क़िस्से की तरह काम करती है, जो नायकों और खलनायकों से, टकरावों और समाधानों से, पराकाष्ठाओं और सुखद अन्तों से भरी हुई है। जब हम जीवन के अर्थ की तलाश में निकलते हैं, तो हम एक ऐसी कहानी चाहते हैं, जो यह स्पष्ट कर सके कि यथार्थ का ध्येय क्या है और इस ब्रह्माण्डीय नाटक में मेरी क्या भूमिका है। यह भूमिका मुझे मुझसे बड़ी किसी चीज़ का हिस्सा बनाती है, और मेरे सारे अनुभवों और चुने गए विकल्पों को अर्थ प्रदान करती है।

हज़ारों साल तक अरबों बेचैन इंसानों को सुनाया जाता रहा एक लोकप्रिय क़िस्सा बताता है कि हम सब एक ऐसे शाश्वत चक्र के अंग हैं, जो सारे प्राणियों को समेटता और आपस में जोड़ता है। इस चक्र में हर प्राणी की एक विशिष्ट भूमिका है। जीवन के अर्थ को

समझने का मतलब है अपनी इस विशिष्ट भूमिका को समझ लेना, और एक अच्छा जीवन जीने का मतलब है इस भूमिका को निभाना।

हिन्दू महाकाव्य भगवद्गीता बताती है कि किस तरह रक्तरंजित गृहयुद्ध के मध्य में महायोद्धा राजकुमार अर्जुन सन्देहों से भर उठता है। प्रतिद्वन्द्वी सेना में अपने सखाओं और सगे सम्बन्धियों को देखकर वह युद्ध करने और उनका वध करने से हिचकिचाता है। वह सोचने लगता है कि शुभ क्या है और अशुभ क्या है, इसका निर्णय करने वाला कौन है, और मानव-जीवन का ध्येय क्या है। तब भगवान कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि महान ब्रह्माण्डीय चक्र के भीतर हर प्राणी का एक विशिष्ट 'धर्म' है। वह मार्ग, जिस पर आपको चलना और वे कर्तव्य, जिनका आपको पालन करना अनिवार्य है। अगर आपको अपने धर्म का बोध है, तो उस पर चलने का रास्ता कितना ही कठिन क्यों न हो, आपको मन की शान्ति मिलती है और आपके सारे सन्देहों का निवारण हो जाता है। अगर आप धर्म पर चलने से इंकार करते हैं, और कोई दूसरा रास्ता अपनाने की कोशिश करते हैं या बिना किसी रास्ते के भटकते रहते हैं, तो आप ब्रह्माण्डीय सन्तुलन में व्यवधान पैदा करेंगे, और तब आपको न तो मन की शान्ति प्राप्त होगी और न आनन्द की। जब तक आप अपने रास्ते का अनुसरण करते रहते हैं, तब तक इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आपका वह ख़ास रास्ता क्या है। एक धोबिन, जो धोबिन के मार्ग पर चलती है, वह उस राजकुमार से कहीं बढ़कर है, जो राजकुमार के मार्ग से हटकर यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। जीवन का अर्थ समझ लेने के बाद अर्जुन यथोचित ढंग से योद्धा के अपने धर्म का पालन करने आगे बढ़ता है। वह अपने सखाओं और सम्बन्धियों का वध करता है, अपनी सेना को विजय दिलाता है, और हिन्दू जगत का सबसे ज़्यादा प्रतिष्ठित और प्रिय नायक बन जाता है।

1994 में डिज़नी की महागाथा *द लायन किंग* ने इस प्राचीन कथा को आधुनिक दर्शकों के लिए एक नए पैकेज में पेश किया था, जिसमें नौजवान शेर सिम्बा अर्जुन की जगह ले लेता है। जब सिम्बा अस्तित्व के अर्थ को जानने की जिज्ञासा करता है, तो उसका पिता - शेरों का राजा मुफ़ासा - उसको जीवन के महान चक्र के बारे में बताता है। मुफ़ासा समझाता है कि हिरण घास खाते हैं, शेर हिरणों को खाते हैं, और जब शेर मर जाते हैं, तो उनके शव सड़-गलकर घास का पेट भरते हैं। इसी तरह जीवन का चक्र पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है, बशर्ते कि हर जानवर इस नाटक में अपनी भूमिका निभाता रहे। हर चीज़ आपस में जुड़ी हुई है, हर कोई एक दूसरे पर निर्भर करता है, इसलिए अगर घास का एक तिनका भी अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता, तो जीवन का समूचा चक्र ही भंग हो जाता है। मुफ़ासा कहता है कि सिम्बा का कर्तव्य मुफ़ासा की मृत्यु के बाद शेरों के राज्य पर शासन करना, और दूसरे जानवरों को अनुशासन में रखना है।

लेकिन जब मुफ़ासा को उसके दुरात्मा भाई स्कार द्वारा असमय ही मार दिया जाता है, तो नौजवान सिम्बा इस विनाश के लिए ख़ुद को ही दोषी ठहराता है, और अपराध-बोध से

भरकर वह शेरों की सल्तनत छोड़कर चला जाता है, अपनी शाही नियति को नकार देता है, और जंगल में भटकने लगता है। वहाँ उसकी मुलाक़ात दो अन्य निर्वासितों से होती है, एक मीरकैट और दूसरा एक वार्टहॉग, और वे तीनों मिलकर एक अज्ञात इलाक़े में अपने जीवन के कुछ निश्चिन्त वर्ष बिताते हैं। उनके असामाजिक फ़लसफ़े का मतलब है कि वे हर समस्या का जवाब *हकूना मताता* - कोई चिन्ता नहीं - का राग अलापते हुए देते हैं।

लेकिन सिम्बा अपने धर्म से पलायन नहीं कर सकता। जैसे ही वह परिपक्व अवस्था में पहुँचता जाता है, वह उत्तरोत्तर विक्षोभ से भरता जाता है, क्योंकि वह नहीं जानता कि वह कौन है और उसको अपने जीवन में क्या करना चाहिए। फ़िल्म की पराकाष्ठा के क्षण में, सिम्बा को एक दीदार होता है, जिसमें मुफ़ासा की आत्मा उसके सामने प्रकट होती है, और वह सिम्बा को जीवन के चक्र और उसकी शाही पहचान की याद दिलाती है। सिम्बा को यह भी पता चलता है कि उसकी अनुपस्थिति में दुरात्मा स्कार ने सिंहासन हथिया लिया था और राज्य में अव्यवस्था फैला दी थी, जो अब कलह और अकाल से बुरी तरह ग्रस्त हो चुका है। सिम्बा को अन्ततः समझ में आ जाता है कि वह कौन है और उसको क्या करना चाहिए। वह शेरों के राज्य में लौटता है, अपने चाचा को मार डालता है, राजा बन जाता है, और राज्य में समरसता और समृद्धि बहाल करता है। फ़िल्म का अन्त गर्व से भरे सिम्बा द्वारा एकत्र जानवरों के समक्ष अपने नवजात को उत्तराधिकारी के तौर पर पेश करने के साथ होता है, जिसमें जीवन-चक्र की निरन्तरता को सुनिश्चित करने का सन्देश निहित है।

जीवन-चक्र ब्रह्माण्डीय नाटक को एक चक्राकार कथा के रूप में पेश करता है। सिम्बा और अर्जुन सिर्फ़ इतना जानते हैं कि शेर हिरणों को खाते रहे हैं और योद्धा युगों-युगों से युद्ध लड़ते आ रहे हैं और वे हमेशा यह करना जारी रखेंगे। यह शाश्वत आवर्तन कहानी को शक्ति देता है, जिसका अभिप्राय यह है कि यह सृष्टि की नैसर्गिक लय है, और यह कि अगर अर्जुन युद्ध से दूर हो जाता है या सिम्बा राजा बनने से इंकार कर देता है, तो वे प्रकृति के विधानों के ही ख़िलाफ़ विद्रोह कर रहे होंगे।

अगर मैं जीवन-चक्र की इस कहानी के किसी प्रारूप में विश्वास करता हूँ, तो इसका मतलब है कि मेरी एक ऐसी निश्चित और सच्ची पहचान है, जो जीवन के मेरे कर्तव्यों को निर्धारित करती है। मैं वर्षों अपनी इस पहचान को लेकर सन्देह से भरा रह सकता हूँ या इसके प्रति अनजान बना रह सकता हूँ, लेकिन एक दिन, पराकाष्ठा के किसी महान क्षण में, वह उजागर हो जाएगी, और इस ब्रह्माण्डीय नाटक में मैं अपनी भूमिका को समझ लूँगा, और हालाँकि इसके नतीजे में मुझे कई परीक्षाओं और क्लेशों का सामना करना पड़ सकता है, तब भी मैं सन्देहों और हताशा से मुक्त हो जाऊँगा।

दूसरे मज़हब और विचारधाराएँ एक ऐसे एकरैखिक ब्रह्माण्डीय नाटक में विश्वास करती हैं, जिसका एक निश्चित आरम्भ, एक अपेक्षाकृत संक्षिप्त मध्य, और एक अन्तिम रूप से समापन होता है। उदाहरण के लिए, मुस्लिम कहानी कहती है कि अल्लाह ने

शुरुआत में समूची सृष्टि की रचना की थी और उसके विधि-विधान निर्धारित किए थे। उसके बाद उसने कुरान में इन विधि-विधानों को इंसानों के लिए उजागर किया। बदक़िस्मती से, जाहिल और शातिर लोगों ने अल्लाह के ख़िलाफ़ बग़ावत की और इन विधानों को तोड़ने या छिपाने की कोशिश की, और यह नेक तथा वफ़ादार मुसलमानों की ज़िम्मेदारी है कि वे इन विधानों की सरपरस्ती करें और उनके ज्ञान का प्रचार करें। अन्ततः, क़यामत के दिन, अल्लाह हर व्यक्ति के चाल-चलन पर फ़ैसला देगा। वह मज़हबी मुसलमानों को जन्नत में चिरस्थायी आनन्द से नवाज़ेगा, और दुष्टों को जहन्नुम की आग में झोंक देगा।

इस महाख्यान का अभिप्राय यह है कि जीवन में मेरी छोटी-सी, लेकिन अहम भूमिका अल्लाह के आदेशों का पालन करना, उसके विधानों का प्रचार करना, और यह सुनिश्चित करना है कि उसकी मर्ज़ी के मुताबिक़ चला जाए। मैं पाँच वक़्त नमाज़ पढ़ने में, नई मस्जिद के निर्माण के लिए दान देने में, और धर्मभ्रष्ट तथा काफ़िरों के ख़िलाफ़ लड़ने में अर्थ हासिल करता हूँ। यहाँ तक कि निहायत ही साधारण-सी गतिविधियाँ - हाथ धोना, वाइन पीना, यौन-संसर्ग करना - भी ब्रह्माण्डीय अर्थ से रँगी हैं।

राष्ट्रवाद भी एक एकरैखिक क़िस्से को थामे हुए है। तदनुसार यहूदीवादी क़िस्सा यहूदी लोगों के बाइबलयुगीन साहसिक कारनामों और उपलब्धियों के साथ शुरुआत करता है, फिर वह निर्वासन और उत्पीड़न के 2,000 वर्षों का बयान करता है, यहूदियों के नरसंहार और इज़रायल राज्य की स्थापना के साथ चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है, और उस दिन का इन्तज़ार करता है, जब इज़रायल में शान्ति और समृद्धि होगी और वह सारी दुनिया के लिए नैतिकता और अध्यात्म का प्रकाश-स्तम्भ बन जाएगा। अगर मैं इस यहूदीवादी क़िस्से में विश्वास करता हूँ, तो मैं इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि मेरे जीवन की मुहिम हिब्रू भाषा की शुद्धता की रक्षा करते हुए, गँवाए जा चुके यहूदी राज्य-क्षेत्र को वापस प्राप्त करने के लिए लड़ते हुए, या सम्भवतः वफ़ादार इज़रायली बच्चों की एक नई पीढ़ी को तैयार करते हुए यहूदी राष्ट्र के हितों को आगे बढ़ाना है।

इस प्रकरण में भी, नीरस काम तक अर्थ से भरे हैं। स्वाधीनता-दिवस पर इज़रायली स्कूली बच्चे अक्सर मिलजुलकर एक लोकप्रिय हिब्रू गीत गाते हैं, जिसमें मातृभूमि की ख़ातिर किए गए कर्मों की प्रशंसा की गई होती है। एक बच्चा गाता है, "मैंने इज़रायल में एक मकान बनाया है," दूसरा बच्चा गाता है, "मैंने इज़रायल की ज़मीन पर एक पेड़ लगाया है," और एक तीसरा उनके सुर-में-सुर मिलाता है, "इस तरह इज़रायल की ज़मीन पर हमारे पास एक मकान, एक पेड़, और एक कविता (और जो कुछ भी आप इसमें जोड़ना चाहें,) है।"

साम्यवाद इसी से मिलती-जुलती कहानी कहता है, लेकिन वह नस्ल की बजाय वर्ग पर बल देता है। *कम्युनिस्ट मैनीफ़ेस्टो* की शुरुआत इस घोषणा के साथ होती है कि :

> अब तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। आज़ाद और ग़ुलाम, कुलीन और सामान्यजन, भूमिपति और खेतिहर मज़दूर, शिल्पी संघ के मालिक और कारिन्दे, संक्षेप में कहें तो, उत्पीड़क और उत्पीड़ित निरन्तर एक-दूसरे के विरोध में खड़े रहे, कभी गुप्त ढंग से, तो कभी खुलेआम एक अनवरत लड़ाई लड़ते रहे, एक ऐसी लड़ाई, जिसका अन्त हर बार या तो व्यापक तौर पर समाज के क्रान्तिकारी पुनर्गठन के रूप में हुआ, या आपस में लड़ते वर्गों की समान रूप से बर्बादी में हुआ।

यह घोषणा-पत्र आगे यह स्पष्ट करता है कि आधुनिक युग में, 'सम्पूर्ण समाज उत्तरोत्तर दो विशाल शत्रु खेमों में विभाजित होता जा रहा है, उन दो विशाल वर्गों में, जो सीधे एक-दूसरे के सामने हैं : बूर्ज़्वा वर्ग और सर्वहारा वर्ग।' इनका संघर्ष सर्वहारा की विजय के साथ समाप्त होगा, जो इतिहास के अन्त और पृथ्वी पर एक ऐसे साम्यवादी स्वर्ग की स्थापना का संकेत होगा, जिसमें किसी के भी पास किसी चीज़ का मालिकाना हक़ नहीं होगा, और हर कोई पूरी तरह आज़ाद और सुखी होगा।

अगर मैं इस साम्यवादी क़िस्से में विश्वास करता हूँ, तो मैं इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि मेरे जीवन की मुहिम जोशीले पर्चे लिखते हुए, हड़तालों और प्रदर्शनों का आयोजन करते हुए, या शायद लालची पूँजीपतियों की हत्या करते हुए और उनके प्यादों के ख़िलाफ़ लड़ते हुए वैश्विक क्रान्ति की गति को तेज़ करना है। यह क़िस्सा छोटी-से-छोटी भंगिमाओं तक को अर्थ प्रदान करता है, जैसे कि ऐसे किसी ब्रांड का बहिष्कार करना, जो बांग्लादेश के कपड़ा-मज़दूरों का शोषण करता है या क्रिसमस डिनर पर आए अपने पूँजीवादी उद्योगपति ससुर से बहस करना।

मेरी सच्ची पहचान को परिभाशित करने और मेरे कृत्यों को अर्थ देने की कोशिश करती तमाम कहानियों पर नज़र डालते समय यह अहसास चौंकाने वाला है कि इनमें पैमाना कोई ख़ास मायने नहीं रखता। सिम्बा के जीवन-चक्र जैसी कुछ कहानियाँ अनन्तकाल तक खिंचती प्रतीत होती हैं। केवल समस्त सृष्टि की पृष्ठभूमि में ही मैं यह जान सकता हूँ कि मैं कौन हूँ। दूसरी कहानियाँ, जैसे कि ज़्यादातर राष्ट्रवादी या क़बीलाई मिथक, तुलनात्मक रूप से बहुत क्षुद्र हैं। यहूदीवाद काल की विशाल अवधि के छोटे से हिस्से के दौरान लगभग 0.2 % मानव-जाति और 0.005 % पृथ्वी की सतह के साहसिक कारनामों को पवित्र मानता है। यहूदी क़िस्सा चीनी साम्राज्यों, न्यू गिनी के क़बीलों, और एंड्रोमेडा आकाशगंगा, इसी के साथ-साथ मूसा, अब्राहम और वानरों के विकास के पहले के असंख्य युगों को किसी तरह का अर्थ प्रदान नहीं कर पाता।

इस तरह की मतान्धता के गम्भीर दुष्परिणाम हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, इज़रायलियों और फ़िलिस्तीनियों के बीच शान्ति-सन्धि में एक सबसे बड़ी रुकावट यह है

कि इज़रायली यरुशलम नगर को विभाजित करने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि यह नगर 'यहूदी समाज की शाश्वत राजधानी है' - और निश्चय ही आप ऐसी किसी चीज़ के साथ समझौता नहीं कर सकते, जो शाश्वत है। शाश्वतता की तुलना में मुट्ठी-भर लोगों का मरना क्या मायने रखता है? निश्चय ही यह साफ़तौर पर बेवकूफ़ी है। शाश्वतता कम-से-कम 13.8 अरब वर्ष पुरानी है - सृष्टि की मौजूदा आयु। भूग्रह की रचना लगभग 4.5 अरब वर्ष पहले हुई थी, और मनुष्यों का अस्तित्व कम-से-कम 20 लाख वर्षों से है। इसके विपरीत यरुशलम नगर महज़ 5,000 साल पहले स्थापित हुआ था और यहूदी लोग बहुत-से-बहुत 3,000 साल पुराने हैं। यह सब शाश्वत कहलाने के योग्य शायद ही कहा जा सके।

जहाँ तक भविष्य का सवाल है, भौतिकी हमें बताती है कि अब से लगभग 7.5 अरब वर्षों बाद भूग्रह फैलते हुए सूरज द्वारा सोख लिया जाएगा, और हमारे ब्रह्माण्ड का अस्तित्व कम-से-कम 13 अरब वर्ष तक और जारी रहेगा। क्या वाक़ई कोई गम्भीरतापूर्वक इस बात में विश्वास करता है कि यहूदी समाज, इज़रायल राज्य, या यरुशलम नगर, अब से 13 अरब वर्ष तो छोड़ ही दें, 13,000 साल बाद तक भी क़ायम रहेगा? भविष्य को देखते हुए, यहूदीवाद के क्षितिज का विस्तार यद्यपि कुछ सदियों से ज़्यादा नहीं है, तब भी यह अवधि ज़्यादातर इज़रायलियों की कल्पना को चुका देने और किसी तरह 'शाश्वतता' कहलाने के लिहाज़ से पर्याप्त है। और लोग हैं कि वे 'शाश्वत नगर' की ख़ातिर क़ुर्बानियाँ देने को तैयार हैं, जैसी क़ुर्बानियाँ वे मकानों के कुछ समय तक टिकने वाले एक समूह की ख़ातिर देने से शायद इंकार कर देंगे।

इज़रायल में एक किशोर के रूप में मैं भी शुरू में अपने से बड़ी किसी चीज़ का हिस्सा बनने के राष्ट्रवादी आश्वासन से मोहित हुआ करता था। मैं विश्वास करना चाहता था कि अगर मैं राष्ट्र के लिए अपना जीवन दे देता हूँ, तो मैं हमेशा-हमेशा के लिए राष्ट्र का हो जाऊँगा, लेकिन मैं इस बात की थाह नहीं ले सका कि 'हमेशा-हमेशा के लिए राष्ट्र का हो जाने' का क्या मतलब है। यह बात तो बहुत गहरी प्रतीत होती थी, लेकिन वास्तव में इसका मतलब क्या था? मुझे एक विशेष स्मृति-दिवस समारोह की याद है, जब मैं तेरह या चौदह का था। जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में स्मृति-दिवस पर सेल लगती हैं, जिनमें लोग ख़रीदारी करते हैं, वहीं इज़रायल का स्मृति-दिवस एक अत्यन्त पवित्र और महत्त्वपूर्ण आयोजन होता है। इस दिन स्कूलों में उन सैनिकों को याद करने के अनुष्ठान होते हैं, जो इज़रायल के बहुत-से युद्धों में शहीद हुए थे। सफ़ेद कपड़े पहने बच्चे कविताओं का वाचन करते हैं, गीत गाते हैं, पुष्पमालाएँ अर्पित करते हैं और झण्डे फहराते हैं। इस तरह मैं भी स्कूल के इस उत्सव के दौरान सफ़ेद ड्रैस पहने वहाँ मौजूद था, और झण्डे फहराने और कविताओं का पाठ करने के बीच मैं स्वाभाविक ही मन-ही-मन सोच रहा था कि जब मैं बड़ा हो जाऊँगा, तो मैं भी एक शहीद सिपाही होना पसन्द करूँगा। आख़िरकार, अगर मैं

एक साहसी शहीद होता, जिसने इज़रायल की ख़ातिर अपनी ज़िन्दगी की क़ुर्बानी दी होती, तो आज सारे बच्चे मेरे सम्मान में कविता पाठ कर रहे होते और झण्डे फहरा रहे होते।

लेकिन फिर मैं सोचने लगा, “एक मिनिट रुको। अगर मैं मर चुका होऊँगा, तो मुझे कैसे पता चलेगा कि ये बच्चे मेरे सम्मान में कविताएँ पढ़ रहे हैं?” इसलिए मैंने एक मृतक के रूप में अपनी कल्पना करने की कोशिश की। और मैंने फ़ौज के एक स्वच्छ क़ब्रिस्तान में सफ़ेद पत्थर से ढँकी किसी क़ब्र के नीचे अपने लेटे होने और ज़मीन के ऊपर से आती कविताओं की आवाज़ को सुनने की कल्पना की, लेकिन फिर मैंने सोचा, “अगर मैं मर चुका हूँ, तो फिर मैं कोई कविताएँ नहीं सुन सकता, क्योंकि मेरे कान नहीं हैं, और मेरा मस्तिष्क नहीं है, और मैं न तो कुछ सुन सकता हूँ और न महसूस कर सकता हूँ, फिर क्या मतलब हुआ?”

इससे भी बदतर बात यह थी कि जब तक मैं तेरह का हुआ, तब तक मुझे पता चल चुका था कि ब्रह्माण्ड कुछ अरब साल पुराना है, और शायद अरबों साल तक और क़ायम रहेगा। क्या मैं सचमुच इतने लम्बे समय तक इज़रायल के वजूद में बने रहने की उम्मीद कर सकता हूँ? क्या 20 करोड़ वर्ष बाद भी सफ़ेद ड्रैस पहने *होमो सेपियन्स* बच्चे मेरे सम्मान में कविताएँ पढ़ रहे होंगे? यह पूरा मामला किसी हद तक छद्म था।

अगर आप फ़िलिस्तीनी हों, तो आत्मतुष्ट न हो जाएँ। इसकी सम्भावना भी उतनी ही कम है कि अब से 20 करोड़ साल बाद कोई फ़िलिस्तीनी बचा होगा। सचमुच, पूरी सम्भावना यही है कि तब तक कोई स्तनधारी भी न बचा रह सके। दूसरे राष्ट्रवादी आन्दोलन भी इसी तरह संकीर्ण सोच रखने वाले हैं। सर्बियाई राष्ट्रवाद जुरासिक युग की घटनाओं की कोई ख़ास परवाह नहीं करता, वहीं कोरियाई राष्ट्रवादी मानते हैं कि एशिया के पूर्वी तट का एक छोटा-सा प्रायद्वीप ही ब्रह्माण्ड का वह एकमात्र हिस्सा है, जो वास्तव में सृष्टि के विन्यास में कोई मायने रखता है।

निश्चय ही सिम्बा तक - अनन्त जीवन-चक्र के प्रति अपने सारे समर्पण के बावजूद - इस तथ्य पर कभी विचार नहीं करता कि हिरण और घास वास्तव में शाश्वत नहीं हैं। सिम्बा इस पर विचार नहीं करता कि स्तनधारियों के विकास के पहले सृष्टि का रूप कैसा था, न ही इस पर कि जब इंसान सारे शेरों को मार डालेंगे और घास के मैदानों को डामर और काँक्रीट से पाट देंगे, तब उसके प्रिय अफ़्रीकी घास के मैदान (सवाना) का क्या होगा। क्या इससे सिम्बा का जीवन निहायत अर्थहीन हो जाएगा?

सारी कहानियाँ अधूरी हैं। तब भी अपने लिए एक सुसाध्य पहचान गढ़ने के लिए और अपने जीवन को अर्थ देने के लिए, मुझे खोटों और आन्तरिक अन्तर्विरोधों से रहित किसी सम्पूर्ण कहानी की ज़रूरत नहीं है। मेरे जीवन को अर्थ देने के लिए किसी कहानी को महज़ दो शर्तों को पूरा करने की ज़रूरत है : पहली, वह मुझे कोई ऐसी भूमिका उपलब्ध कराए, जिसे मैं निभाऊँ। इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि न्यू गिनी का कोई आदिवासी

यहूदीवाद या सर्बियाई राष्ट्रवाद में विश्वास करे, क्योंकि ये कहानियाँ न्यू गिनी और उसके समाज की रत्ती-भर परवाह नहीं करतीं। फ़िल्मी सितारों की तरह इंसानों को भी वे ही पटकथाएँ पसन्द आती हैं, जिनमें उनके लिए पहले से कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका तय होती है।

दूसरी, एक अच्छी कहानी के लिए भले ही अनन्त तक विस्तार लेने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन उसका मेरे क्षितिज के परे विस्तार लेना अनिवार्य है। यह कहानी मुझे मुझसे बड़ी किसी चीज़ में स्थापित करते हुए मुझे एक पहचान उपलब्ध कराती है और मेरे जीवन को अर्थ प्रदान करती है, लेकिन यह ख़तरा हमेशा बना रहता है कि मैं यह सोचने लग सकता हूँ कि वह क्या है, जो उस 'बड़ी चीज़' के लिए अर्थ प्रदान करता है। अगर मेरे जीवन का अर्थ सर्वहारा या पोलिश राष्ट्र की मदद करना है, तो वह चीज़ ठीक-ठीक क्या है, जो सर्वहारा या पोलिश राष्ट्र को अर्थ प्रदान करती है? एक आदमी का क़िस्सा है, जिसका दावा था कि इस दुनिया को एक विशाल हाथी की पीठ पर टिकाकर उसे अपनी जगह पर रखा गया है। जब उससे पूछा गया कि वह हाथी किस चीज़ पर खड़ा है, तो उसने जवाब दिया कि एक विशाल कछुए की पीठ पर। और कछुआ? वह उससे भी बड़े एक कछुए की पीठ पर। और वह बड़ा कछुआ? वह आदमी ग़ुस्से से कड़ककर बोला : "उसकी चिन्ता मत करो। इसके बाद नीचे तक एक-के-बाद कछुए ही कछुए हैं।"

ज़्यादातर सफल कहानियों का अन्त खुला हुआ होता है। उनको यह समझाने की ज़रूरत नहीं पड़ती कि अर्थ अन्ततः कहाँ से उत्पन्न होता है, क्योंकि वे लोगों का ध्यान खींचने और उसको एक सुरक्षित क्षेत्र के भीतर बनाए रखने में बहुत दक्ष होती हैं। इसलिए, यह समझाते हुए कि दुनिया एक विशाल हाथी की पीठ पर टिकी हुई है, तो आपको मुश्किल सवालों से बचने के लिए विस्तार से इसका वर्णन चाहिए कि जब हाथी के विशालकाय कान हिलते हैं, तो वे समुद्री तूफ़ान का कारण बनते हैं, और हाथी ग़ुस्से से काँपता है, तो भूकम्प धरती की सतह को हिला देते हैं। अगर आप पर्याप्त अच्छा कपड़ा बुन लेते हैं, तो किसी के मन में यह सवाल नहीं उठेगा कि हाथी किस चीज़ पर खड़ा है। इसी तरह राष्ट्रवाद हमें बहादुरी के क़िस्सों से मोहित करता है, अतीत की तबाहियों का बयान कर हमें रुला देता है, और हमारे राष्ट्र ने जिन अन्यायों को भोगा है, उनकी विस्तार से चर्चा कर हमारे ग़ुस्से को भड़का देता है। हम इस राष्ट्रवादी महागाथा में इस क़दर डूब जाते हैं कि हम दुनिया में हुई किसी भी घटना का मूल्यांकन हमारे राष्ट्र पर पड़े उसके प्रभाव के आधार पर करने लगते हैं, और यह सवाल उठाने के बारे में ज़रा भी नहीं सोचते कि सबसे पहले तो वह क्या चीज़ है, जो हमारे राष्ट्र को इतना महत्त्वपूर्ण बनाती है।

जब आप किसी ख़ास कहानी में विश्वास करने लगते हैं, तो जहाँ वह अपने छोटे-से-छोटे ब्योरे से भी आपका मन लुभाने लगती है, वहीं आपको किसी भी उस चीज़ के प्रति अन्धा बना देती है, जो उसके दायरे में नहीं आती। साम्यवाद के सच्चे भक्त इस पर बहस

करते हुए घण्टों बिता सकते हैं कि क्या क्रान्ति के शुरुआती स्तरों पर सामाजिक लोकतन्त्रवादियों के साथ गठबन्धन करना मुनासिब है, लेकिन वे शायद ही पलभर ठहरकर इस पर विचार करते हों कि भूग्रह पर स्तनधारियों के जीवन की विकास-प्रक्रिया या ब्रह्माण्ड में जैव जीवन के विस्तार की प्रक्रिया में सर्वहारा की जगह क्या है। इस तरह की बेकार बातचीत को प्रति-क्रान्तिकारी बातों के रूप में देखा जाता है।

हालाँकि, कुछ कहानियाँ देश और काल की समग्रता को समेटने का उद्यम करती हैं, लेकिन ध्यान को नियन्त्रित करने की क्षमता बहुत-सी दूसरी सफल कहानियों को उनके दायरे में बहुत ज़्यादा विनम्र बने रहने की गुंजाइश देती हैं। क़िस्सागोई का एक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि जैसे ही कोई क़िस्सा श्रोताओं के विचारों, ज्ञान और अनुभव के दायरे के परे निकल जाता है, वैसे ही उसका चरम दायरा बहुत कम मायने रखने लगता है। लोग एक हज़ार साल पुराने राष्ट्र की ख़ातिर वैसे ही घातक कट्टरपन का परिचय दे सकते हैं, जैसा वे किसी एक अरब साल पुराने देवता की ख़ातिर देते हैं। लोग बड़ी संख्याओं के मामले में दक्ष होते ही नहीं हैं। ज़्यादातर मामलों में हमारी कल्पना बहुत थोड़ा-सा श्रम करके ही थक जाती है।

सृष्टि के बारे में हमारी सारी जानकारी के मद्देनज़र किसी भी स्वस्थ दिमाग़ वाले व्यक्ति को इस बात पर विश्वास करना निहायत असम्भव प्रतीत होगा कि इज़रायली, जर्मन या रूसी राष्ट्रवाद की - या राष्ट्रवाद-मात्र की - कहानी सृष्टि और मनुष्य का परम सत्य है। जो कहानी लगभग समूचे देश-काल, बिग बैंग, क्वांटम भौतिकी और जीवन की विकास-प्रक्रिया की अनदेखी करती है, वह सत्य का बहुत-से-बहुत एक मामूली-सा हिस्सा है। तब भी लोग इसके परे न देख पाने को मुमकिन बना ही देते हैं।

सचमुच, समूचे इतिहास के दौरान अरबों लोग यह विश्वास करते रहे कि अपने जीवन का अर्थ पाने के लिए उनको किसी राष्ट्र या किसी महान विचारधारात्मक आन्दोलन में लीन हो जाने की ज़रूरत नहीं है। सिर्फ़ 'अपने पीछे कुछ छोड़ जाना और इस तरह इतना सुनिश्चित करना भर काफ़ी है कि उनकी निजी कहानी उनकी मृत्यु के बाद भी जारी रहे, यह 'कुछ' जो मैं अपने पीछे छोड़ जाता हूँ, वह आदर्शतः मेरी आत्मा या मेरा निजी सत्व होता है। अगर मैं मृत्यु के बाद एक नई काया के साथ पुनर्जन्म ले लेता हूँ, तो फिर मृत्यु अन्त नहीं है। वह महज़ दो अध्यायों के बीच की जगह है, और जिस कथानक की शुरुआत पहले अध्याय में हुई थी, वह अगले अध्याय में जारी रहेगा। बहुत-से लोगों को इस तरह के चिन्तन में कम-से-कम एक धुँधली-सी आस्था होती है, भले ही वे इसको किसी विशिष्ट धर्मशास्त्र पर आधारित न करते हों। उनको किसी विस्तृत धर्ममत की ज़रूरत नहीं पड़ती। उनको सिर्फ़ आश्वत करने वाले इस अहसास की ज़रूरत होती है कि उनकी कहानी मृत्यु के क्षितिज के परे जारी रहेगी।

अनन्त काल तक जारी रहने वाली महागाथा के रूप में जीवन का सिद्धान्त अत्यन्त आकर्षक और आम है, लेकिन यह दो मुख्य समस्याओं का शिकार होता है: पहली, अपनी निजी कहानी को लम्बा करते हुए मैं इसको वास्तव में और अधिक अर्थपूर्ण नहीं बना देता। मैं सिर्फ़ उसको कुछ और लम्बा भर कर देता हूँ। वाक़ई, जन्म और मृत्यु के अनन्त चक्र की धारणा को स्वीकार करने वाले दो महान धर्म - हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म - इस सब कुछ की निस्सारता की भयावहता को समझते हैं। मैं लाखों बार चलना सीखता हूँ, मैं बड़ा होता हूँ, मैं अपनी सास से लड़ता हूँ, मैं बीमार पड़ता हूँ, मैं मरता हूँ - और इसके बाद यही सब फिर-से करने लगता हूँ। इसका क्या मक़सद है? अपने पिछले जन्मों में मैंने जितने भी आँसू बहाए थे, उन सबको अगर मैंने इकट्ठा किया होता, तो उन्होंने प्रशान्त महासागर को भर दिया होता, मैंने पिछले जन्मों में जितने दाँत और बाल गँवाए थे, अगर उन सबको मैंने एकत्र किया होता, तो उनका ढेर हिमालय से भी ऊँचा होता। और इस सबके बदले में मेरे पास ऐसा क्या है, जो दिखाने लायक़ हो? आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दू और बौद्ध सन्तों ने अपने ज़्यादातर उद्यमों को इस चकरघिन्नी को जारी रखने की बजाय इससे छुटकारा पाने का रास्ता खोजने पर केन्द्रित किया था।

इस सिद्धान्त की दूसरी समस्या है इसके समर्थन में साक्ष्य के अभाव की। मेरे पास इसका क्या सबूत है कि पिछले जन्म में मैं एक मध्ययुगीन किसान था, कोई निएंडरथल शिकारी था, कोई टिरैनसॉरस राजा था, या एक अमीबा था (अगर मैंने वाक़ई लाखों जीवन जिये हैं, तो कभी-न-कभी मैं डायनासौर या अमीबा भी रहा होऊँगा, क्योंकि मनुष्यों का अस्तित्व तो पिछले 25 लाख सालों से ही है)? कौन है, जो दावे के साथ इस बात को कह सकता हो कि मेरा पुनर्जन्म एक साइबोर्ग के रूप में, एक अन्तर-आकाशगंगायी खोजी के रूप में, या एक मेंढक के रूप में भी होगा? इस आश्वासन पर अपने जीवन को आधारित करना कुछ-कुछ अपने मकान को बाद की तिथि के एक ऐसे चेक के बदले बेच देने जैसा है, जिसका भुगतान बादलों के ऊपर स्थित किसी बैंक से होगा।

जो लोग इस पर सन्देह करते हैं कि किसी तरह की आत्मा या रूह सचमुच ही उनकी मृत्यु के बाद बची रहती है, वे इसीलिए अपने पीछे कोई अपेक्षाकृत ठोस चीज़ छोड़ जाना चाहते हैं। वह 'ठोस चीज़' दो तरह के रूप ले सकती है : सांस्कृतिक या जैविक। मान लीजिए कि मैं अपने पीछे कोई कविता, या अपने कुछ मूल्यवान जीन्स छोड़ जाता हूँ। मेरी ज़िन्दगी में अर्थ है क्योंकि लोग अब से सौ साल बाद भी मेरी कविता पढ़ेंगे, या इसलिए कि मेरे बच्चे और नाती-पोते मेरे बाद बने रहेंगे। और उनके जीवन का क्या अर्थ है? जो भी हो, यह उनकी समस्या है, न कि मेरी। इस तरह जीवन का अर्थ कुछ-कुछ एक जीते-जागते हैंड ग्रेनेड के साथ खेलने जैसा है। जैसे ही आप उसको किसी दूसरे के हाथ में पकड़ा देते हैं, आप सुरक्षित हो जाते हैं।

लेकिन खेद है कि 'अपने पीछे कोई चीज़ छोड़ जाने' की यह विनम्र उम्मीद शायद ही कभी पूरी हो पाती है। ज़्यादातर जीव जिनका कभी अस्तित्व रहा था, वे कोई जनेटिक विरासत छोड़े बिना ही दुनिया से लुप्त हो गए थे। उदाहरण के लिए, लगभग सारे-के-सारे डायनासौर। या एक निएंडरथल परिवार, जो सेपियन्स का नियन्त्रण क़ायम होते ही लुप्त हो गया। या मेरी नानी का पोलिश कुटुम्ब। 1934 में मेरी नानी फ़ैनी अपने माँ-बाप और दो बहनों के साथ यरुशलम आकर बस गई थीं, लेकिन उनके ज़्यादातर सम्बन्धी पोलैंड के मिएल्नीक और चेष्तोहोवा नामक नगरों में ही रुके रहे थे। कुछ साल बाद नाज़ी आए और उन्होंने उनके आख़िरी बच्चे समेत सबको मिटा डाला।

अपने पीछे कोई सांस्कृतिक विरासतें छोड़ जाने की कोशिशें भी गाहे-ब-गाहे ही कामयाब हो पाती हैं। मेरी नानी के पोलिश कुटुम्ब का, पारिवारिक एलबम के कुछ धुँधले-से चहरों के अलावा, कुछ भी शेष नहीं रहा, और छियानवे साल की उम्र में ख़ुद मेरी यह नानी तक उन चेहरों से जुड़े नामों को याद नहीं कर पातीं। मेरी श्रेष्ठतम जानकारी के मुताबिक़ वे अपने पीछे कोई सांस्कृतिक रचना नहीं छोड़ गए - न कोई कविता, न डायरी, यहाँ तक कि किराने के सामान की कोई फ़ेहरिस्त भी नहीं। आप तर्क दे सकते हैं कि यहूदी समाज या यहूदीवादी आन्दोलन की सामूहिक विरासत में उनका हिस्सा मौजूद है, लेकिन वह उनकी निजी ज़िन्दगियों के लिए शायद ही कोई अर्थ दे सकता है। इसके अलावा, यह आप कैसे जानते हैं कि वे सब-के-सब अपनी यहूदी पहचान से प्यार करते थे या यहूदीवादी आन्दोलन से सहमत थे? हो सकता है उनमें से कोई समर्पित साम्यवादी रहा हो, और उसने सोवियतों के लिए जासूसी करते हुए अपनी क़ुर्बानी दे दी हो? हो सकता है, उनमें से कोई दूसरा स्वयं को पोलिश समाज में मिला देने से ज़्यादा कुछ न चाहता रहा हो, उसने पोलिश सेना में एक अधिकारी के रूप में काम किया हो, और वह कैटिन के नरसंहार में सोवियतों के हाथों मारा गया हो? हो सकता है, उनमें से तीसरी एक उग्र नारीवादी रही हो, जिसने सारी पारम्परिक मज़हबी और राष्ट्रवादी पहचानों का तिरस्कार कर दिया हो? चूँकि वे अपने पीछे कुछ भी नहीं छोड़ गए थे, इसलिए उनकी मृत्यु के बाद उनको इस या उस ध्येय से जोड़ देना बहुत आसान है, और वे इसका विरोध भी नहीं कर सकते।

अगर हम अपने पीछे कोई ठोस चीज़ नहीं छोड़ सकते, जैसे कि कोई जीन या कोई कविता, तो क्या यह पर्याप्त नहीं कि हम दुनिया को थोड़ा बेहतर बनाने के लिए कुछ करें? आप किसी की मदद कर सकते हैं, और वह व्यक्ति किसी और की मदद करे, और इस तरह आप दुनिया को समग्रतः बेहतर बनाने में योगदान करें, और करुणा की विशाल शृंखला में एक छोटी-सी कड़ी जोड़ें। क्या यह मुमकिन नहीं है कि आप किसी मुश्किल, किन्तु प्रतिभाशाली बच्चे की सरपरस्ती करें, जो आगे चलकर एक डॉक्टर बने और सैकड़ों लोगों के जीवन की रक्षा करे। क्या यह मुमकिन नहीं कि आप किसी बूढ़ी स्त्री को सड़क पार कराएँ और उसकी ज़िन्दगी के एक पल को सुखी बना दें? हालाँकि, उसकी अपनी

ख़ूबियाँ हैं, लेकिन करुणा की विशाल शृंखला कुछ-कुछ कछुओं की विशाल शृंखला की तरह है। उसका अर्थ कहाँ से उत्पन्न होता है, यह दूर-दूर तक स्पष्ट नहीं है। एक ज्ञानी बुज़ुर्ग से पूछा गया था कि उसने जीवन के अर्थ के बारे में क्या सीखा है। उसने जवाब दिया कि "मैंने यह सीखा है कि इस धरती पर मैं दूसरे लोगों की मदद करने के लिए हूँ। जो चीज़ मेरी समझ से अभी भी परे है, वह यह है कि दूसरे लोग यहाँ किस लिए हैं।"

जो किसी विशाल शृंखला में, किसी भावी विरासत में या किसी सामूहिक महागाथा में भरोसा नहीं करते, उनके लिए सबसे सुरक्षित और सबसे किफ़ायती क़िस्सा है रोमांस, जिसका वे सहारा ले सकते हैं। यह क़िस्सा यहाँ से परे जाने की कोशिश नहीं करता। जैसा कि असंख्य प्रेम-कविताएँ साबित करती हैं, जब आप प्रेम कर रहे होते हैं, तो समूची कायनात आपकी प्रेयसी के कान की लोलकियों, बरौनियों या स्तनों के अग्रभाग में सिकुड़ जाती है। अपनी हथेली के बल अपने गाल टिकाए जूलियट की ओर देखते हुए रोमियो कहता है, "ओ, काश! मैं उस हथेली का दस्ताना होता, काश! मैं उस गाल को छू सकता!" यहाँ और अभी एक काया के साथ रिश्ता बनाते हुए आप समूचे ब्रह्माण्ड से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं।

सच्चाई यह है कि आपकी प्रेयसी महज़ एक और इंसान है, जो अपने सत्व में उस भीड़ से अलग नहीं है, जिसे आप हर रोज़ ट्रेन और सुपरमार्केट में अनदेखा करते रहते हैं, लेकिन आपके लिए वह असीम प्रतीत होती है या होता है, और आप ख़ुद को उस असीम में विलीन कर सुखी होते हैं। तमाम परम्पराओं के रहस्यवादी कवियों ने अक्सर ईश्वर का चित्रण प्रेमी के रूप में करते हुए रोमानी प्रेम को ब्रह्माण्डीय मिलन के रूप में देखा है। रोमानी कवियों ने अपने प्रेम-पात्र को देवताओं के रूप में चित्रित करते हुए इस सराहना का बदला चुकाया है। अगर आप वास्तव में किसी से प्रेम करते हैं, तो आप जीवन के अर्थ के बारे में चिंता कभी नहीं करेंगे।

और अगर आपको किसी से प्रेम नहीं है, तब? तब, अगर आप रोमांटिक कहानी में विश्वास करते हैं, लेकिन आपको किसी से प्रेम नहीं है, तो भी आप कम-से-कम इतना तो जानते ही हैं कि आपके जीवन का लक्ष्य क्या है : किसी का सच्चा प्रेम हासिल करना। इसे आपने अनगिनत फ़िल्मों में देखा है और असंख्य पुस्तकों में पढ़ा है। आप जानते हैं कि एक दिन आएगा, जब आप उस ख़ास व्यक्ति से मिलेंगे, आप दो चमकती हुई आँखों में अनन्त को झाँकता हुआ देखेंगे, आपका सारा जीवन अर्थपूर्ण हो उठेगा, और आपके मन में तब तक जितने भी सवाल उठे होंगे, उनके जवाब एक ही नाम को बार-बार दोहराने के साथ आपको मिल जाएँगे, उसी तरह जैसे *वेस्ट साइड स्टोरी* में टोनी को मिल गए थे या रोमियो को उस वक़्त मिल गए थे, जब जूलियट अपने छज्जे से उसको देख रही थी।

छप्पर का वज़न

जहाँ एक अच्छी कहानी के लिए अनिवार्य है कि वह मुझे एक भूमिका प्रदान करे, और वह मेरी आकांक्षाओं, ज्ञान और रुचियों के परे निकल जाए, वहीं उसका सच होना ज़रूरी नहीं है। एक कहानी पूरी तरह से काल्पनिक हो सकती है, और तब भी वह मुझे एक पहचान दे सकती है और मुझमें यह अहसास जगा सकती है कि मेरे जीवन का अर्थ है। वास्तव में, हमारी श्रेष्ठतम वैज्ञानिक समझ के मुताबिक़, समूचे इतिहास के दौरान विभिन्न संस्कृतियों, मज़हबों और क़बीलों द्वारा ईजाद की गई कहानियों में से कोई भी कहानी सच नहीं है। वे सब इंसान द्वारा ईजाद की गई हैं। अगर आप जीवन के सच्चे अर्थ की जिज्ञासा करें और जवाब में आपको एक कहानी मिले, तो समझ लीजिए कि वह एक ग़लत जवाब है। सटीक ब्योरे वास्तव में मायने नहीं रखते। *कोई* भी कहानी महज़ कहानी होने के नाते ग़लत है। सृष्टि किसी कहानी की तरह काम करती ही नहीं है।

तब फिर लोग इन काल्पनिक क़िस्सों में विश्वास क्यों करते हैं? एक कारण यह है कि उनकी निजी पहचान कहानी के आधार पर ही खड़ी हुई होती है। लोगों को बचपन की शुरुआत से ही कहानी में विश्वास करने की शिक्षा दी गई होती है। इसे वे सवाल उठाने और इस तरह की कहानियों की प्रामाणिकता को जाँचने के लिए आवश्यक बौद्धिक और भावनात्मक स्वाधीनता हासिल करने के बहुत पहले, अपने माँ-बाप से सुनते हैं, अपने अध्यापकों से सुनते हैं, अपने पड़ोसियों से सुनते हैं और सामान्य संस्कृति से सुनते हैं। जब तक वे बौद्धिक रूप से परिपक्व होते हैं, वे उस कहानी में इस क़दर खप चुके होते हैं कि ज़्यादा सम्भावना इसी बात की होती है कि वे अपनी बुद्धि का इस्तेमाल उस कहानी पर सन्देह करने की बजाय उसको तर्कसंगत ठहराने के लिए करें। ज़्यादातर जो लोग पहचान की खोज में निकलते हैं, वे उन बच्चों की तरह होते हैं, जो ख़ज़ाने की खोज में निकले होते हैं। उनको वही हासिल होता है, जो उनके माँ-बाप ने पहले से ही उनके लिए छिपाकर रखा होता है।

दूसरे, न सिर्फ़ हमारी निजी पहचानें, बल्कि हमारी सामूहिक संस्थाएँ भी कहानी पर खड़ी हुई हैं। नतीजतन, कहानी पर सन्देह करना अत्यन्त डरावना होता है। बहुत-से समाजों में, जो भी कोई व्यक्ति ऐसा करने की कोशिश करता है, उसको या तो समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है या उत्पीड़ित किया जाता है। अगर ऐसा नहीं भी किया जाता, तब भी समाज के इस बुनियादी ढाँचे पर सवाल उठाना बहुत ज़्यादा हिम्मत की माँग करता है, क्योंकि अगर कहानी सचमुच ही झूठी है, तो इस सारी दुनिया को जिस रूप में हम जानते हैं, उस रूप में वह अर्थहीन हो जाती है। राजकीय क़ानून, सामाजिक मानक, आर्थिक संस्थाएँ - ये सब ढह सकती हैं।

ज़्यादातर कहानियों की तर्कसंगति उनकी बुनियादों की मज़बूती की बजाय उनके छप्पर के वज़न पर आधरित होती है। ईसाई कहानी को ही लें। इसकी बुनियादें अत्यन्त कमज़ोर हैं। हमारे पास इस बात का क्या प्रमाण है कि समूची सृष्टि के रचयिता के पुत्र का जन्म लगभग 2,000 साल पहले आकाशगंगा में कहीं पर कार्बन-आधारित जीवन के रूप में हुआ था? हमारे पास इस बात का क्या प्रमाण है कि यह गैलिली में हुआ था, और उसकी माँ एक कुँवारी थी? तब भी इस कहानी पर विशाल संस्थाएँ खड़ी हुई हैं, और उनके वज़न में इतना अपार बल है कि वे इस कहानी को उसकी जगह पर बनाए रखती हैं। इस कहानी में एक शब्द-मात्र के बदलाव को लेकर पूरी-की-पूरी लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं। पश्चिमी ईसाइयों और पूर्वी परम्परावादी ईसाइयों के बीच की जो हज़ार साल पुरानी दरार, जो हाल ही में क्रोशियाइयों और सर्बों के बीच तथा सर्बों और क्रोशियाइयों के बीच की आपसी मारकाट के रूप में सामने आई है, उसकी शुरुआत एक शब्द filioque (जिसका लैटिन में मतलब है 'और पुत्र से') के साथ हुई थी। पश्चिमी ईसाई इस शब्द को ईसाई आस्था की घोषणा में शामिल करना चाहते थे, जबकि पूर्वी ईसाइयों ने इसका पुरज़ोर विरोध किया था। (इस शब्द को जोड़ने के धर्मशास्त्रीय निहितार्थ इतने रहस्यमय हैं कि यहाँ उनको सार्थक ढंग से स्पष्ट करना असम्भव होगा। अगर आपकी जिज्ञासा है, तो गूगल से पूछिए।)

जब किसी कहानी के आधार पर निजी पहचानें और समूची सामाजिक व्यवस्थाएँ खड़ी हो जाती हैं, तो उन पर सन्देह करना अकल्पनीय हो जाता है, उसको सहारा देने वाले सबूत की वज़ह से नहीं, बल्कि इसलिए कि उसका ध्वस्त होना एक निजी और सामाजिक प्रलय का कारण बन जाएगा। इतिहास में छप्पर कभी-कभी बुनियादों से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होता है।

जादू-मन्तर और विश्वास का उद्योग

हमें अर्थ और पहचान उपलब्ध कराने वाली सारी कहानियाँ काल्पनिक हैं, लेकिन इंसानों को उन पर विश्वास करना ज़रूरी है। तब फिर ऐसा क्या किया जाए, जिससे कहानी सच्ची *लगे?* यह तो ज़ाहिर-सी बात है कि मनुष्य कहानी में विश्वास *क्यों* करना चाहते हैं, लेकिन वे यह विश्वास *किस* तरह करते हैं? इसका जवाब हज़ारों साल पहले पुरोहितों और ओझाओं ने ढूँढ लिया था : अनुष्ठानों के सहारे। अनुष्ठान वह जादुई कर्म है, जो अमूर्त को मूर्त और काल्पनिक को वास्तविक में बदल देता है। अनुष्ठान का सार-तत्व है जादुई सम्मोहन 'जादू-मन्तर, **क** है **ख!'**

ईसा को उनके भक्तों के लिए वास्तविक कैसे बनाया जाए? मास के अनुष्ठान के दौरान पादरी ब्रेड का एक टुकड़ा और वाइन का गिलास उठाता है, और घोषणा करता है कि वह ब्रेड ईसा का मांस और वाइन ईसा का रक्त है, और उनको खा और पीकर आस्थावान लोग ईसा के साथ एकत्व हासिल कर लेते हैं। ख़ुद अपने मुँह से ईसा का वास्तविक स्वाद चखने से ज़्यादा वास्तविक भला और क्या हो सकता है? पारम्परिक तौर पर, पादरी ये निर्भीक घोषणाएँ लैटिन में किया करते थे, जो मज़हब, विधान और जीवन के रहस्यों की प्राचीन भाषा हुआ करती थी। एकत्र किसानों की विस्मित नज़रों के सामने पादरी ब्रेड के टुकड़े को ऊपर उठाता था और विस्मय-भरे स्वर में कहता था 'Hoc est corpus ' -'ये काया है!' - और वह ब्रेड कथित रूप से ईसा की काया बन जाती थी। उन निरक्षर किसानों के दिमाग़ में, जो लैटिन नहीं बोलते थे, 'Hoc est corpus ' का मतलब होता था *'जादू-मन्तर!'* और इस तरह उस शक्तिशाली सम्मोहन का जन्म हुआ था, जो किसी मेंढक को राजकुमार में, और एक कद्दू को रथ में बदल सकता था।

ईसाइयत के जन्म के एक हज़ार साल पहले, प्राचीन हिन्दू भी इसी तरह के करतब का इस्तेमाल करते थे। *बृहदारण्यक उपनिषद* एक घोड़े की बलि की व्याख्या ब्रह्माण्ड की समूची कथा की चरितार्थता के रूप में करता है। यह ग्रन्थ भी 'जादू-मन्तर, क ख है' ढाँचे का यह कहते हुए अनुसरण करता है कि 'बलि के अश्व का सिर भोर है, उसके नेत्र सूर्य हैं, उसकी जीवनी-शक्ति वायु है, उसका खुला हुआ मुख वैश्वानर नामक अग्नि है, और बलि के अश्व की काया वर्ष है... उसके अंग ऋतुएँ हैं, उसके सन्धि-स्थल महीने और पखवाड़े हैं, उसके पैर दिन और रात हैं, उसकी अस्थियाँ नक्षत्र हैं, उसका मांस मेघ हैं...उसकी उबासी विद्युत है, उसकी देह का कम्पन झंझावात है, उससे पानी आना वर्षा है, और उसकी हिनहिनाहट स्वर है' 'जादू-मन्तर, क है ख!' इस तरह एक नाचीज़ घोड़ा समूचा ब्रह्माण्ड बन जाता है।

मोमबत्ती जलाने, घण्टी बजाने, या जपमाला के मोती गिनने जैसे नितान्त तुच्छ-से कृत्यों को गहरे मज़हबी अर्थ देते हुए किसी भी चीज़ को एक अनुष्ठान में बदला जा सकता है। यही बात शारीरिक भंगिमाओं के सन्दर्भ में सही है, जैसे कि सिर नवाना, साष्टांग दण्डवत करना, या दोनों हाथ जोड़ना। सिख पगड़ी से लेकर मुस्लिम हिजाब तक सिर के विभिन्न परिधान इस क़दर अर्थ से भर दिए गए हैं कि उन्होंने सदियों तक आवेगपूर्ण संघर्षों को भड़काया है।

भोजन तक को भी उसके पोषक मूल्य से परे आध्यात्मिक अर्थवत्ता से मण्डित किया जा सकता है, चाहे वे ईस्टर के अण्डे हों, जो नए जीवन और ईसा के पुनरुत्थान के प्रतीक हैं, या वे कड़वी जड़ीबूटियाँ और बेस्वाद ब्रेड हों, जिनको यहूदियों को मिस्र की अपनी ग़ुलामी और उससे चमत्कारपूर्ण ढंग से अपने बच निकलने को याद करने के लिए पासओवर पर्व पर खाना अनिवार्य होता है। दुनिया में शायद ही ऐसा कोई व्यंजन हो,

जिसकी किसी चीज़ के प्रतीक के रूप में व्याख्या नहीं की गई हो। जैसे कि न्यू ईयर्स डे पर मज़हबी यहूदी शहद खाते हैं, ताकि आने वाला साल मीठा हो। वे मछलियों के सिर खाते हैं, ताकि वे मछलियों की तरह फलदायी हों और पीछे की ओर जाने की बजाय आगे की ओर बढ़ें, और वे अनार खाते हैं, ताकि उनके सत्कर्म अनार के बीजों की तरह बहुगुणित होते रहें।

इसी से मिलते-जुलते अनुष्ठानों का उपयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए भी किया गया है। हज़ारों सालों तक राजमुकुट, राजसिंहासन और राजदण्ड राजशाहियों और साम्राज्यों का प्रतिनिधित्व करते थे। 'राजमुकुट' या 'राजसिंहासन' पर अधिकार को लेकर लड़े गए नृशंस युद्धों में लाखों लोग मरे थे। शाही दरबारों ने अत्यन्त विस्तृत शिष्टाचार तैयार कर रखे थे, जो सर्वाधिक पेचीदा मज़हबी दस्तूरों से मेल खाते थे। सेना में, अनुशासन और अनुष्ठान अभिन्न होते हैं, और प्राचीन रोम से लेकर आज के ज़माने तक के सैनिक एक निर्धारित विन्यास के अन्तर्गत मार्च करने में, अपने वरिष्ठ अधिकारियों को सलाम करने में, और अपने जूते चमकाने में अनगिनत समय बिताते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि नेपोलियन का कहना था कि वह एक रंगीन फ़ीते की ख़ातिर पुरुषों को अपने जीवन का बलिदान करने को विवश कर सकता था।

अनुष्ठानों के राजनीतिक महत्त्व को कन्फ़्यूशियस से बेहतर शायद किसी ने नहीं समझा था, जिसने अनुष्ठानों (ली) के सख़्त पालन को सामाजिक समरसता और राजनीतिक स्थिरता की कुंजी के रूप में देखा था। *द बुक ऑफ़ राइट्स, द राइट्स ऑफ़ झाओ* और *द बुक ऑफ़ एटिक्रेट एंड राइट्स* जैसे कन्फ़्यूशियाई गौरव-ग्रन्थों ने किस राजकीय अवसर पर किस अनुष्ठान का निष्पादन किया जाना चाहिए आदि से लेकर उत्सव में इस्तेमाल किए जाने वाले पात्रों की संख्या, बजाए जाने वाले वाद्य-यन्त्रें के प्रकार और पहने जाने वाले लबादों के रंगों तक को पूरी बारीक़ी के साथ दर्ज़ किया था। जब भी चीन पर कोई संकट आता था, तो कन्फ़्यूशियाई अध्येता तत्काल इसका दोष अनुष्ठानों की उपेक्षा के मत्थे मढ़ दिया करते थे, उसी तरह जैसे कोई सर्जेंट मेजर सेना की पराजय का दोष उन लापरवाह सैनिकों के मत्थे मढ़ता है, जिन्होंने अपने जूते नहीं चमकाए होते।

आधुनिक पश्चिम में अनुष्ठानों के प्रति इस कन्फ़्यूशियाई सनक को अक्सर छिछलेपन और पुरातनपन्थ के संकेत के रूप में देखा गया है, लेकिन वस्तुतः, यह सम्भवतः मानवीय प्रकृति की कन्फ़्यूशियस की गहन और कालातीत समझ को प्रमाणित करता है। यह सम्भवतः संयोग नहीं है कि कन्फ़्यूशियाई संस्कृतियों ने सबसे पहले और सबसे महत्त्वपूर्ण न सिर्फ़ चीन में, बल्कि पड़ोसी कोरिया, वियतनाम और जापान में भी अत्यन्त टिकाऊ सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे तैयार किए। अगर आप जीवन का परम सत्य जानना चाहते हैं, तो अनुष्ठान और संस्कार बहुत बड़ी बाधाएँ हैं, लेकिन अगर आप कन्फ़्यूशियस की तरह सामाजिक स्थायित्व और समरसता में दिलचस्पी रखते हैं, तो सत्य जहाँ अक्सर

एक बोझ होता है, वहीं अनुष्ठान और संस्कार आपके सबसे अच्छे सहयोगियों में से होते हैं।

यह बात इक्कीसवीं सदी में उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी वह प्राचीन चीन में थी। 'जादू-मन्तर' की शक्ति हमारी आधुनिक औद्योगिक दुनिया में अभी भी क़ायम और सक्रिय है। 2018 में बहुत से लोगों के लिए कील ठोंककर एक-दूसरे से जोड़ी गई दो छड़ियाँ ईश्वर हैं, दीवार पर चिपका हुआ एक रंगीन पोस्टर क्रान्ति है, और हवा में लहराता हुआ कपड़े का एक टुकड़ा राष्ट्र है। आप फ्रांस को न सुन सकते हैं न देख सकते हैं, क्योंकि उसका अस्तित्व सिर्फ़ आपकी कल्पना में है, लेकिन आप निश्चय ही तिरंगे को देख सकते हैं और 'मार्सेलिएज़' (फ्रांस का राष्ट्रगान) को सुन सकते हैं। इसलिए एक रंगीन झण्डा फहराकर और राष्ट्र गान गाकर आप राष्ट्र को एक अमूर्त क़िस्से से एक इन्द्रिय-ग्राह्य वास्तविकता में बदल देते हैं।

हज़ारों साल पहले हिन्दू भक्त घोड़ों की बलि दिया करते थे। आज वे महँगे झण्डों के उत्पादन में पैसा लगाते हैं। भारत के राष्ट्रीय झण्डे को 'तिरंगा' के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इसमें केसरिया, सफ़ेद और हरा तीन रंग हैं। 2002 की भारत की ध्वज-संहिता घोषणा करती है कि यह झण्डा 'भारत के लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करता है। यह हमारे राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक है। पिछले पाँच दशकों के दौरान सशस्त्र बलों के सदस्यों समेत बहुत-से लोगों ने इस तिरंगे को उसकी पूरी महिमा के साथ फहराए रखने के लिए उदारतापूर्वक अपने जीवन का बलिदान किया है।' इसके बाद यह ध्वज-संहिता भारत के दूसरे राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन को उद्धृत करती है, जिन्होंने कहा था :

> केसरिया रंग त्याग या अनासक्ति को दर्शाता है। हमारे नेताओं को भौतिक उपलब्धियों के प्रति अनासक्त रहते हुए समर्पण-भाव के साथ अपना काम करना चाहिए। बीच का सफ़ेद रंग प्रकाश है, हमारे आचरण को राह दिखाने वाला सत्य का मार्ग। हरा मिट्टी के साथ हमारे रिश्ते को दर्शाता है, यहाँ के उस वानस्पतिक जीवन के साथ के हमारे रिश्ते को, जिस पर बाक़ी सारे जीवन निर्भर करते हैं। सफ़ेद के केन्द्र में स्थित अशोक चक्र धर्म-विधान का चक्र है। सत्य और धर्म उन सारे लोगों के नियामक सिद्धान्त होने चाहिए, जो इस ध्वज के अधीन कार्य करते हैं।

2017 में भारत की राष्ट्रवादी सरकार ने भारत-पाक सीमा पर स्थित अटारी में इतना बड़ा झण्डा फहराया, जिसे दुनिया के सबसे बड़े झण्डों में शुमार किया जाता है। यह एक ऐसी चेष्टा थी, जो न तो त्याग को उत्प्रेरित करने वाली थी और न अनासक्ति को, बल्कि पाकिस्तानी ईर्ष्या को उत्प्रेरित करने वाली थी। वह ख़ास तिरंगा 36 मीटर लम्बा और 24

मीटर चौड़ा था, और उसको 110 मीटर ऊँचे ध्वज-स्तम्भ पर फहराया गया था (फ़्रायड ने इसके बारे में क्या कहा होता?)। इस झण्डे को पाकिस्तानी महानगर लाहौर जितनी दूर से देखा जा सकता था। दुर्भाग्य से, तेज़ हवाएँ इस झण्डे को बार-बार फाड़ती रहीं, और राष्ट्रीय गर्व माँग करता रहा कि उसको हिन्दुस्तान के करदाताओं के पैसे से बार-बार सिला जाता। भारत सरकार अपने दुर्लभ संसाधनों का निवेश दिल्ली की झुग्गी बस्तियों में मल-निकासी-प्रणाली तैयार करने की बजाय विशाल झण्डों को बुनने पर क्यों करती है? क्योंकि झण्डा हिन्दुस्तान को जिस तरह वास्तविक शक्ल प्रदान करता है, उस तरह मल-निकासी-प्रणाली नहीं करती।

वास्तव में, यह झण्डे की क़ीमत ही होती है, जो अनुष्ठान को ज़्यादा प्रभावशाली रूप देती है। सारे अनुष्ठानों में बलिदान का अनुष्ठान सबसे ज़्यादा असरदार होता है, क्योंकि पीड़ा दुनिया की तमाम चीज़ों में सबसे ज़्यादा वास्तविक है। आप कभी भी उसको नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते या उस पर सन्देह नहीं कर सकते। अगर आप चाहते हैं कि लोग किसी काल्पनिक क़िस्से पर विश्वास करें, तो उनको उसकी ख़ातिर बलिदान करने के लिए फुसलाइए। जैसे ही आप किसी क़िस्से की ख़ातिर दुःख झेलने लगते हैं, वह आमतौर से आपको इस बात का यक़ीन दिलाने के लिए पर्याप्त होता है कि वह क़िस्सा वास्तविक है। अगर आप इसलिए उपवास करते हैं, क्योंकि ईश्वर ने आपको ऐसा करने का आदेश दिया है, तो भूख का वास्तविक अहसास ईश्वर को किसी बुत या तसवीर के मुक़ाबले ज़्यादा बेहतर ढंग से उपस्थित कर देता है। अगर आप देश-भक्ति से प्रेरित किसी युद्ध में अपने पैर गँवा देते हैं, तो आपके ठूँठ और ह्वीलचेयर राष्ट्र को उससे ज़्यादा वास्तविक शक्ल देते हैं, जितनी कोई कविता या राष्ट्रगान देता है। एक अपेक्षाकृत कम आडम्बरपूर्ण स्तर पर, हल्के दर्ज़े के स्थानीय पास्ता की बजाय ऊँचे दर्ज़े का आयातित इताल्वी पास्ता ख़रीदकर आप एक ऐसा रोज़मर्रा उत्सर्ग कर सकते हैं, जो सुपरमार्केट तक में राष्ट्र के वास्तविक होने के अहसास को जगा सकता है।

यह निश्चय ही एक तार्किक भ्रम है। अगर आप ईश्वर या राष्ट्र में अपनी आस्था की वज़ह से दुःख भोगते हैं, तो इससे यह साबित नहीं होता कि आपकी आस्थाएँ सच्ची हैं। यह भी तो मुमकिन है कि आप अपने भोलेपन की क़ीमत चुका रहे हों? लेकिन, ज़्यादातर लोग इस बात को स्वीकार करना पसन्द नहीं करते कि वे मूर्ख हैं। नतीजतन, वे किसी ख़ास विश्वास के पक्ष में जितना ही ज़्यादा उत्सर्ग करते हैं, उनकी आस्था उतनी ही मज़बूत होती जाती है। यह उत्सर्ग की रहस्यमय रसायन विद्या है। अगर बलिदान कराने वाला पुरोहित हमें अपनी शक्ति के अधीन लाना चाहता है, तो इसके लिए उसे हमें कुछ भी देने की ज़रूरत नहीं है - न वर्षा, न पैसा, न युद्ध में विजय। उलटे उसको हमसे ही कुछ छीन लेने की ज़रूरत होती है। जैसे ही वह हमें किसी तकलीफ़देह उत्सर्ग के लिए तैयार कर लेता है, हम जाल में फँस जाते हैं।

यह चीज़ वाणिज्य की दुनिया में भी काम करती है। अगर आप 2,000 डॉलर में एक सेकेंड-हैण्ड फ़िएट ख़रीदते हैं, तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि आप किसी भी उस व्यक्ति के सामने इसका दुःखड़ा रोएँ, जो आपकी बात सुनने को तैयार हो, लेकिन अगर आप 200,000 डॉलर में एक बिल्कुल नई फ़ेरारी ख़रीदते हैं, तो आप चारों तरफ़ इसका गुणगान करेंगे, इसलिए नहीं कि यह बहुत अच्छी कार है, बल्कि इसलिए कि आपने इसके लिए इतना सारा पैसा ख़र्च किया होता है कि आपको यह विश्वास करना अनिवार्य हो जाता है कि यह दुनिया की सबसे ज़्यादा अद्भुत चीज़ है। यहाँ तक कि रोमांस तक में, कोई भी प्रेमाकांक्षी रोमियो या वर्थर जानता है कि बिना बलिदान के सच्चा प्रेम नहीं होता। बलिदान सिर्फ़ आपके प्रेमी को यह यक़ीन दिलाने भर का उपाय नहीं है कि आप गम्भीर हैं - यह स्वयं आपको भी इस बात का यक़ीन दिलाने का एक उपाय है कि आप सचमुच प्रेम करते हैं। आपको क्या लगता है कि कुछ स्त्रियाँ अपने प्रेमियों से हीरे की अँगूठियाँ लाने को क्यों कहती हैं? जैसे ही प्रेमी इस तरह का एक बड़ा वित्तीय बलिदान कर देता है, वैसे ही उसको ख़ुद को यह यक़ीन दिलाना अनिवार्य हो जाता है कि उसने यह बलिदान एक सही ध्येय के लिए किया था।

आत्मबलिदान शहीदों के लिए ही बेहद यक़ीन दिलाने वाला नहीं होता, बल्कि वह तमाशबीनों के लिए भी उतना ही यक़ीनी होता है। शहीदों के बिना बहुत थोड़े-से देवता, राष्ट्र या क्रान्तियाँ स्वयं को थामे रख सकती हैं। अगर आप दैवीय नाटक, राष्ट्रवादी मिथक या क्रान्तिकारी गाथा पर सवाल उठाने का साहस करते हैं, तो आपको तत्काल फटकार लगाई जाती है : “लेकिन इन सौभाग्यशाली शहीदों ने इस चीज़ की ख़ातिर जान दी थी! क्या तुम यह कहने का दुस्साहस कर रहे हो कि उन्होंने व्यर्थ ही अपनी जान गँवाई थी? क्या तुम्हें लगता है कि ये बहादुर बेवकूफ़ थे?”

शिया मुसलमानों के लिए ब्रह्माण्ड का नाटक अशूरा के दिन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था, जो हिज्र (ईसाई कैलेंडर के मुताबिक़ 10 अक्टूबर 680) के इकसठ वर्ष बाद मुहर्रम के महीने का दसवाँ दिन था। उस दिन इराक़ के कर्बला में सत्ता का अपहरण करने वाले दुष्ट याज़िद के सैनिकों ने मोहम्मद पैग़म्बर के नवासे हुसैन इब्न अली और उनके अनुयायियों के एक छोटे-से समूह की हत्या की थी। शिया मुसलमानों के लिए हुसैन की शहादत बुराई के विरुद्ध अच्छाई और अन्याय के ख़िलाफ़ शोषितों के शाश्वत संघर्ष का प्रतीक बन गई। जिस तरह ईसाई सलीबीकरण के नाटक को बार-बार दोहराते हैं और ईसा द्वारा भोगी गई यातना का अनुकरण करते हैं, उसी तरह शिया अशूरा के नाटक को दोहराते हैं और हुसैन द्वारा भोगी गई यातना का अनुकरण करते हैं। लाखों शिया मुसलमान हर साल कर्बला की उस दरगाह में जमा होते हैं, जिसे उस जगह स्थापित किया गया है, जहाँ हुसैन शहीद हुए थे, और अशूरा के दिन सारी दुनिया में मातम मनाते हैं, और कहीं-कहीं ख़ुद को कोड़ों और चाकुओं से पीटते और काटते हैं।

लेकिन अशूरा की अहमियत किसी एक जगह या एक दिन तक सीमित नहीं है। अयातुल्लाह रुहोल्लाह ख़ोमेनी और दूसरे शिया नेताओं ने अपने अनुयायियों से बार-बार कहा है कि "हर दिन अशूरा है और हर स्थान कर्बला है।" इस तरह कर्बला में हुसैन की शहादत हर घटना को, हर कहीं, हर वक़्त अर्थपूर्ण बनाती है, और साधारण फ़ैसलों तक को भी अच्छाई और बुराई के बीच जारी विशाल ब्रह्माण्डीय संघर्ष पर असर डालने वाली घटना के रूप में देखा जाना चाहिए। अगर आप इस क़िस्से पर शक करने की गुस्ताख़ी करते हैं, तो आपको तुरन्त कर्बला की याद दिलाई जाएगी और हुसैन की शहादत पर शक करना या उसका मज़ाक़ उड़ाने से बदतर और कोई अपमान नहीं होगा।

दूसरे विकल्प के तौर पर, अगर शहीद बहुत कम हैं और लोग अपनी क़ुर्बानी देने को तैयार नहीं हैं, तो क़ुर्बानी दिलाने वाला पुरोहित उनसे किसी और की क़ुर्बानी दिला सकता है। आप बा' अल नामक प्रतिशोधी देवता के लिए एक इंसान की क़ुर्बानी दे सकते हैं, ईसा मसीह की महान महिमा की ख़ातिर किसी विधर्मी को स्टेक पर जला सकते हैं, परपुरुष-गमन करने वाली स्त्रियों को फाँसी पर लटका सकते हैं क्योंकि अल्लाह का ऐसा आदेश है, या वर्ग-शत्रुओं को गुलाग भेज सकते हैं। जैसे ही आप ऐसा करते हैं, क़ुर्बानी की एक किंचित भिन्न रसायन विद्या आप पर अपना जादू दिखाने लगती है। जब आप किसी कहानी के नाम पर ख़ुद को पीड़ा पहुँचाते हैं, तब वह आपको एक विकल्प देती है : 'या तो वह क़िस्सा सही है, या फिर मैं एक सीधा-सादा बेवकूफ़ हूँ।' जब आप दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं, तब भी आपके पास एक विकल्प होता है : 'या तो वह क़िस्सा सही है, या मैं एक क्रूर खलनायक हूँ।' और जिस तरह हम यह स्वीकार नहीं करना चाहते कि हम बेवकूफ़ हैं, उसी तरह हम यह भी स्वीकार नहीं करना चाहते कि हम खलनायक हैं, इसलिए हम यही मानना पसन्द करते हैं कि क़िस्सा सही है।

मार्च 1839 में ईरानी नगर मशहद में किसी चर्मरोग से पीड़ित एक यहूदी स्त्री से एक स्थानीय नीम-हकीम ने कहा था कि अगर वह एक कुत्ते को मारकर उसके ख़ून से अपने हाथ धो ले, तो वह चंगी हो जाएगी। मशहद एक पाक शिया नगर है, और हुआ यह कि उस स्त्री ने अशूरा के पवित्र दिन वह ख़ौफ़नाक इलाज किया। उसको कुछ शिया मुसलमानों ने वह कृत्य करते हुए देखा, जिनका विश्वास था - या जो ऐसे विश्वास का दावा करते थे कि उस स्त्री ने कर्बला की शहादत का मज़ाक़ उड़ाने के लिए कुत्ते की हत्या की थी। इस अपवित्रीकरण की अफ़वाह तेज़ी-से मशहद की सड़कों पर फैल गई। स्थानीय इमाम द्वारा भड़काई गई एक क्रोधित भीड़ यहूदियों के मोहल्ले में घुस पड़ी, जिसने सायनागॉग (यहूदियों का पूजा-स्थल) को जला दिया, और वहीं छत्तीस यहूदियों को मार डाला। मशहद में बचे हुए सारे यहूदियों को एक सख़्त विकल्प दिया गया : या तो तुरन्त इस्लाम कबूल करो या मारे जाओ। इस घृणित प्रसंग ने 'ईरान की आध्यात्मिक राजधानी' होने की मशहद की प्रतिष्ठा को कोई ख़ास नुक़सान नहीं पहुँचाया।

जब हम इंसानी क़ुर्बानी के बारे में सोचते हैं, तो सामान्यतः हमारे ध्यान में कैनानाइट या अज़्टेक देवालयों के ख़ौफ़नाक अनुष्ठान आते हैं, और आमतौर से यह तर्क दिया जाता है कि एकेश्वरवाद ने इन भयावह दस्तूरों का अन्त कर दिया था। वस्तुतः एकेश्वरवाद ने इंसानी क़ुर्बानी की प्रथा को ज़्यादातर बहुदेववादी उपासना-पद्धतियों के मुक़ाबले ज़्यादा बड़े पैमाने पर अंजाम दिया था। ईसाइयत और इस्लाम ने ईश्वर के नाम पर उससे कहीं ज़्यादा लोगों की हत्याएँ की हैं, जितनी बा'अल या ह्युट्ज़िलॉपोच्टली के अनुयायियों ने की थीं। जिस वक़्त स्पेनी विजेताओं ने अज़्टेक और इन्का देवताओं को दी जाने वाली सारी क़ुर्बानियों पर रोक लगा दी थी, उस समय स्वयं स्पेन में धर्मपरीक्षण के तहत गाड़ियों में भर-भर कर विधर्मियों को जलाया जा रहा था।

क़ुर्बानियाँ तमाम तरह के रूपाकारों में प्रकट हो सकती हैं। उनमें हमेशा चाकू चलाने वाले पुरोहित या रक्तरंजित हत्याएँ ही शामिल नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, यहूदी मज़हब में साबथ ('साबथ' का शाब्दिक अर्थ है 'बिना हिले-डुले खड़े रहना' या 'विश्राम करना') के पवित्र दिन यात्रा की मनाही है। साबथ की शुरुआत शुक्रवार को सूर्यास्त से होती है और वह शनिवार के सूर्यास्त तक जारी रहता है, और इस दौरान परम्परावादी यहूदी किसी भी तरह का काम करने से बचते हैं, जिसमें शौचालय के रोल से टॉयलेट पेपर फाड़ना तक शामिल है। (इस मुद्दे पर अत्यन्त विद्वान रब्बियों के बीच कुछ चर्चा भी हुई है, और वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि टॉयलेट पेपर का फाड़ा जाना साबथ के निषेध को भंग करेगा। नतीजतन, जो धर्मभीरु यहूदी साबथ के दिन अपना पिछला भाग पोंछना चाहते हैं, उनको पहले-से फाड़कर रखा गया टॉयलेट पेपर तैयार रखना होता है।)

इज़रायल में, मज़हबी यहूदी धर्मनिरपेक्ष यहूदियों और पूरी तरह से नास्तिक लोगों तक को इस निषेध का पालन करने को मजबूर करते हैं। चूँकि, इज़रायली राजनीति में सत्ता का सन्तुलन आमतौर से परम्परावादी राजनीतिक दलों के हाथ में होता है, इसलिए वे वर्षों से साबथ के दौरान तमाम तरह की गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगाने वाले बहुत-से क़ानून तैयार करने में कामयाब होते रहे हैं, हालाँकि, वे साबथ के समय निजी वाहनों के इस्तेमाल को ग़ैरक़ानूनी घोषित करने में असमर्थ थे, लेकिन वे सार्वजनिक परिवहन को प्रतिबन्धित करने में सफल रहे। यह राष्ट्रव्यापी मज़हबी क़ुर्बानी मुख्यतः समाज के सबसे कमज़ोर तबकों को नुक़सान पहुँचाती है, ख़ासतौर से इसलिए कि शनिवार सप्ताह का एकमात्र ऐसा दिन होता है, जिसमें कामकाजी लोग यात्रा करने और अपने दूर-दराज़ रिश्तेदारों, दोस्तों से मिलने जाने और पर्यटन-स्थलों का भ्रमण करने को आज़ाद होते हैं। एक सम्पन्न नानी को अपनी चमचमाती नई कार में सवार होकर दूसरे शहर में रह रहे अपने नाती-नातिनों से मिलने जाने में कोई समस्या नहीं होती, लेकिन एक ग़रीब नानी ऐसा नहीं कर सकती, क्योंकि उस दिन कोई बसें या ट्रेनें उपलब्ध नहीं होतीं।

सैकड़ों हज़ारों नागरिकों को इस तरह की मुश्किल में डालकर राजनीतिक दल यहूदी मज़हब के प्रति अपनी अडिग आस्था को साबित और महफ़ूज़ करते हैं, हालाँकि इसमें कोई ख़ून नहीं बहाया गया होता है, तब भी बहुत-से लोगों की ख़ुशहाली की क़ुर्बानी दी गई होती है। अगर यहूदी मज़हब महज़ एक काल्पनिक क़िस्सा है, तो एक किसी नानी को उसके नाती-नातिनों से मिलने जाने से रोकना या किसी ग़रीब छात्र को थोड़ा-सा मौज मनाने समुद्र-तट पर जाने से रोकना क्रूरता और हृदयहीनता है। तब भी ऐसा करते हुए ये राजनीतिक दल दुनिया से कहते हैं और ख़ुद से कहते हैं कि वे सचमुच यहूदी क़िस्से में विश्वास रखते हैं। क्या आपको लगता है कि वे लोगों को बेवज़ह नुक़सान पहुँचाने में आनन्द लेते हैं?

क़ुर्बानी न सिर्फ़ क़िस्से में आपकी आस्था को बल प्रदान करती है, बल्कि अक्सर उसके प्रति आपकी दूसरी तमाम ज़िम्मेदारियों के विकल्प का काम भी करती है। मानव-जाति के ज़्यादातर बड़े क़िस्सों ने ऐसे आदर्श स्थापित किए हैं, जिन पर ज़्यादातर लोग चल नहीं सकते। ऐसे कितने ईसाई हैं, जो टेन कमांडमेंट्स का अक्षरश: पालन करते हों, और कभी झूठ न बोलते हों या लालच न करते हों? ऐसे कितने बौद्ध हैं, जो अब तक निरहंकार की अवस्था में पहुँच चुके हों? ऐसे कितने समाजवादी हैं, जो अपनी अधिकतम सामर्थ्य भर काम करते हुए अपनी वास्तविक ज़रूरत से ज़्यादा न लेते हों?

क़ुर्बानी के आदर्श को जीवन में उतार पाने में असमर्थ लोग उसको एक समाधान में बदल लेते हैं। कोई हिन्दू टैक्स सम्बन्धी धोखाधड़ी में लिप्त हो सकता है, कभी-कभी वेश्या के पास जा सकता है और अपने बुज़ुर्ग माँ-बाप के साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, लेकिन यह सब करने के बाद भी वह ख़ुद को यक़ीन दिला सकता है कि वह बहुत ही नेक व्यक्ति है, क्योंकि वह अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिराए जाने का समर्थन करता है और उसने उस मस्जिद की जगह हिन्दू मन्दिर निर्माण के लिए पैसों का दान तक दिया है। जिस तरह प्राचीन काल में होता था, उसी तरह इस इक्कीसवीं सदी में भी अर्थ की मनुष्य की खोज का अन्त अक्सर ही एक-के-बाद-एक क़ुर्बानियों में होता है।

पहचान का पोर्टफ़ोलियो

प्राचीन मिस्रवासियों, कैनानाइटों और यूनानियों ने अपनी क़ुर्बानियों की घेराबन्दी कर रखी थी। उनके कई देवता थे, और अगर एक देवता काम नहीं आता था, तो वे उम्मीद करते थे कि दूसरा तो काम आएगा ही। इसलिए वे सुबह सूर्य देवता के लिए क़ुर्बानी देते थे, दोपहर में पृथ्वी देवी के लिए, और शाम को अप्सराओं और दैत्यों के एक समूह को क़ुर्बानी देते थे। इसमें भी बहुत ज़्यादा बदलाव नहीं आया है। सारे क़िस्से और देवता, जिनमें लोग

आज विश्वास करते हैं - वह चाहे याहवेह हो, मैमन हो, राष्ट्र हो, या क्रान्ति हो - अधूरे हैं, उनमें छेद हैं, और वे अन्तर्विरोधों से भरे हैं। इसलिए लोग किसी एक क़िस्से में अपनी सारी आस्था का निवेश बहुत कम करते हैं। इसकी बजाय वे कई पहचानों और कई क़िस्सों का एक पोर्टफ़ालियो अपने पास रखते हैं, और ज़रूरत के मुताबिक़ एक से दूसरे का सहारा लेते रहते हैं। इस क़िस्म की संज्ञानात्मक असंगतियाँ लगभग सारे समाजों और आन्दोलनों में स्वभावतः मौजूद होती हैं।

उदाहरण के लिए टी पार्टी आन्दोलन का समर्थन करने वाले किसी आम व्यक्ति को ही लें, जो सीना तानकर ईसा मसीह के प्रति अपनी आस्था का इज़हार करता है। इसी के साथ वह सरकार की कल्याणकारी नीतियों का तगड़ा विरोध करता है और नेशनल राइफ़ल असोसिएशन का कट्टर समर्थन करता है। क्या ईसा मसीह इस बात को लेकर कुछ ज़्यादा उत्सुक नहीं थे कि आप ख़ुद को हथियारों से लैस करने की बजाय ग़रीबों की मदद करें? यह बात कुछ असंगत-सी लग सकती है, लेकिन मानव-मस्तिष्क में बहुत सारी दराज़ें और खण्ड होते हैं, कुछ स्नायु ऐसे हैं, जो एक-दूसरे से बात ही नहीं करते। इसी तरह, आपको ऐसे ढेरों बर्नी सैंडर्स समर्थक मिल सकते हैं, जो किसी भावी क्रान्ति में धुँधला-सा विश्वास रखते हैं, लेकिन इसी के साथ-साथ वे अपने पैसे का अक़्लमन्दी के साथ निवेश करने को महत्त्व भी देते हैं। वे बहुत आसानी से दुनिया में सम्पत्ति के अन्यायपूर्ण विभाजन पर चर्चा करते-करते सहसा अपने वाल स्ट्रीट निवेशों की उपलब्धियों पर चर्चा करने लग सकते हैं।

ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति हो, जिसकी महज़ कोई एक पहचान हो। कोई भी व्यक्ति महज़ एक मुसलमान, महज़ एक इताल्वी, या महज़ एक पूँजीपति नहीं है, लेकिन आए दिन कोई कट्टरपन्थी आस्था-पद्धति प्रकट हो जाती है और ज़ोर देती है कि लोगों को सिर्फ़ एक ही क़िस्से और एक ही पहचान में विश्वास रखना चाहिए। हाल के समय में इस तरह का सबसे ज़्यादा कट्टरपन्थी मत फ़ासीवाद था। फ़ासीवाद इसका आग्रह करता था कि लोगों को राष्ट्रवादी क़िस्से के अलावा और किसी क़िस्से में विश्वास नहीं रखना चाहिए, और राष्ट्रीय पहचान के अलावा उनकी और कोई पहचान नहीं होनी चाहिए। सारे राष्ट्रवादी फ़ासीवादी नहीं हैं। ज़्यादातर राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र के क़िस्से में प्रबल आस्था रखते हैं, और अपने राष्ट्र की अनूठी ख़ासियतों और अपने राष्ट्र के प्रति अपने अनूठे दायित्वों पर बल देते हैं, लेकिन इसके बावजूद वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके राष्ट्र के अलावा भी दुनिया में बहुत कुछ है। मैं इताल्वी राष्ट्र के प्रति विशेष कर्तव्यों के बोध से युक्त एक वफ़ादार इताल्वी हो सकता हूँ, और तब भी मेरी दूसरी पहचानें हो सकती हैं। मैं एक समाजवादी, एक कैथोलिक, एक पति, एक पिता, एक वैज्ञानिक और एक शाकाहारी भी हो सकता हूँ। इनमें से हर पहचान अतिरिक्त दायित्वों की माँग करती है। कभी-कभी मेरी

कई पहचानें मुझे अलग-अलग दिशाओं की ओर खींचती हैं, और मेरे कुछ दायित्व एक-दूसरे के आड़े आते हैं, लेकिन किसने कहा है कि जीवन आसान है?

जब राष्ट्रवाद दूसरी पहचानों और दायित्वों से इंकार करते हुए जीवन को अपने लिए बहुत आसान बनाना चाहता है, तब फ़ासीवाद सामने आता है। हाल के दिनों में फ़ासीवाद के ठीक-ठीक अर्थ को लेकर ख़ासा भ्रम रहा है। लोग लगभग उस हर किसी को 'फ़ासिस्ट' कहते हैं, जिसको वे पसन्द नहीं करते। यह पद तमाम तरह के दुरुपयोगों द्वारा विकृत हो जाने के ख़तरे में है। तब इसका वास्तविक अर्थ क्या है? संक्षेप में, जहाँ राष्ट्रवाद मुझे यह सीख देता है कि मेरा राष्ट्र अनूठा है और इसके प्रति मेरे कुछ विशेष दायित्व हैं, वहीं फ़ासीवाद कहता है कि मेरा राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है, और यह कि मेरे राष्ट्र के प्रति ही मेरे एकमात्र दायित्व हैं। मुझे कभी भी अपने राष्ट्र के हितों पर किसी समूह या व्यक्ति के हितों को प्राथमिकता नहीं देनी चाहिए, चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न हों। यहाँ तक कि अगर मेरा राष्ट्र किसी सुदूर मुल्क के लाखों अजनबियों को भारी पीड़ा पहुँचाकर महज़ एक तुच्छ-सा लाभ कमाने को तैयार होता है, तब भी मुझे अपने राष्ट्र का समर्थन करने से गुरेज़ नहीं करना चाहिए, अन्यथा, मैं एक निन्दनीय राजद्रोही हूँ। अगर मेरा राष्ट्र माँग करता है कि मैं लाखों लोगों की हत्या कर दूँ, तो मुझे लाखों लोगों की हत्या कर देनी चाहिए। अगर मेरा राष्ट्र माँग करता है कि मैं सत्य और सौन्दर्य के साथ छल करूँ, तो मुझे सत्य और सौन्दर्य के साथ छल करना चाहिए।

एक फ़ासिस्ट कला का मूल्यांकन किस तरह करता है? कोई फ़ासिस्ट यह बात किस तरह जानता है कि कोई फ़िल्म अच्छी है या नहीं? बहुत आसान है। इसका एक ही पैमाना है। अगर फ़िल्म राष्ट्र का हित साधती है, तो वह अच्छी फ़िल्म है। अगर फ़िल्म राष्ट्र का हित नहीं साधती, तो वह एक बुरी फ़िल्म है। और फ़ासिस्ट यह कैसे तय करता है कि बच्चों को स्कूल में क्या पढ़ाया जाना चाहिए? यहाँ भी वह उसी पैमाने का इस्तेमाल करता है। बच्चों को वह पढ़ाओ जो राष्ट्र के हित में हो : सच इसमें कोई मायने रखता।

राष्ट्र की पूजा अत्यन्त आकर्षक होती है, महज़ इसलिए नहीं कि यह बहुत-सी मुश्किल दुविधाओं को सरल बना देती है, बल्कि इसलिए भी कि लोगों के मन में यह अहसास जगाती है कि वे दुनिया की सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे सुन्दर चीज़ - राष्ट्र - से ताल्लुक़ रखते हैं। दूसरे विश्वयुद्ध और होलोकास्ट की भयावहताएँ इस विचार-प्रणाली के ख़ौफ़नाक नतीजों की ओर संकेत करती हैं। दुर्भाग्य से, जब लोग फ़ासीवाद की बुराइयों की चर्चा करते हैं, तो वे अक्सर बहुत दयनीय नतीजों पर पहुँचते हैं, क्योंकि वे फ़ासीवाद को एक ख़ौफ़नाक राक्षस के रूप में चित्रित करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, जबकि वे यह स्पष्ट करने से चूक जाते हैं कि उसमें बेहद सम्मोहक चीज़ क्या होती है। यही वज़ह है कि आज लोग कभी-कभी अनजाने ही फ़ासीवादी विचारों को अपना लेते हैं। लोग सोचते हैं "मुझे

सिखाया गया था कि फ़ासीवाद घिनौना होता है, और जब मैं आईने में झाँकता हूँ, तो मुझे बहुत ख़ूबसूरत कुछ दिखाई देता है, इसलिए मैं फ़ासिस्ट नहीं हो सकता।"

यह कुछ-कुछ उसी तरह की ग़लती है, जो हॉलीवुड की फ़िल्में उस वक़्त करती हैं, जब वे बुरे लोगों - वोल्डेमार्ट, लॉर्ड सोरॉन, डार्थ वडेर - को कुरूप और कुत्सित रूप में चित्रित करती हैं। वे आमतौर से अपने सबसे ज़्यादा वफ़ादार समर्थकों के साथ भी क्रूरता और नीचतापूर्ण व्यवहार करते हैं। इस तरह की फ़िल्में देखते हुए जो चीज़ मेरी समझ से परे होती है, वह यह है कि कोई भी व्यक्ति वोल्डेमार्ट जैसे घृणित केंचुए का अनुसरण करने के बहकावे में कैसे आ सकता है?

बुराई के साथ समस्या यह है कि ज़रूरी नहीं कि वास्तविक जीवन में वह बदसूरत दिखाई देती हो। वह बहुत सुन्दर भी दिखाई दे सकती है। ईसाइयत इस बात को हॉलीवुड से बेहतर समझती थी, इसीलिए पारम्परिक ईसाई कला शैतान को अत्यन्त सुहावनी शक्ल में चित्रित करने की कोशिश करती थी। यही वज़ह है कि शैतान के बहकावे से बच पाना इतना मुश्किल होता है। यही इस बात की भी वज़ह है कि फ़ासीवाद के साथ निपटना मुश्किल होता है। जब आप फ़ासिस्ट आईने में झाँकते हैं, तो वहाँ आपको जो दिखाई देता है, वह क़तई बदसूरत नहीं होता। जब 1930 के दशक में जर्मनों ने फ़ासिस्ट आईने में झाँककर देखा था, तो उनको जर्मनी दुनिया की सबसे सुन्दर चीज़ की तरह दिखाई दी थी। अगर आज रूसी फ़ासिस्ट आईने में झाँककर देखें, तो उनको रूस दुनिया की सबसे सुन्दर चीज़ की तरह दिखाई देगा। और अगर इज़रायली फ़ासिस्ट आईने में झाँककर देखें, तो उनको इज़रायल दुनिया की सबसे ख़ूबसूरत चीज़ की तरह दिखाई देगा। इसके बाद वे उस ख़ूबसूरत समूह में पूरी तरह डूब जाना चाहेंगे।

'fascism ' ('फ़ासिज़्म') शब्द लैटिन भाषा के 'fascis ' से आया है, जिसका मतलब है 'डण्डों का गट्ठर'। यह दुनिया के इतिहास की सबसे ज़्यादा क्रूर और घातक विचारधारा के सन्दर्भ में किंचित सादा प्रतीक लगता है, लेकिन इसमें एक गहरा और मनहूस अर्थ निहित है। एक डण्डा बहुत कमज़ोर होता है, और आप उसको बहुत आसानी से तोड़कर दो टुकड़ा कर सकते हैं, लेकिन जब आप बहुत-से डण्डों को इकट्ठा कर fascis में बदल देते हैं, तो उनको तोड़ना लगभग असम्भव हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि एक की कोई अहमियत नहीं होती, लेकिन जब तक समूह आपस में जुड़ा रहता है, तब तक वह बहुत शक्तिशाली होता है। फ़ासिस्ट इसीलिए समूह के हितों को व्यक्ति के हितों पर अहमियत देने में विश्वास करते हैं, और माँग करते हैं, ताकि कोई भी एक डण्डा कभी भी गट्ठर की एकता को भंग करने का दुस्साहस न करे।

निश्चय ही, यह कभी स्पष्ट नहीं होता कि एक इंसानी 'डण्डों के गट्ठर' का अन्त कहाँ होता है और दूसरे की शुरुआत कहाँ होती है। मैं उस इटली को डण्डों के गट्ठर के रूप में क्यों देखूँ, जहाँ का मैं निवासी हूँ? मेरे परिवार, या फ़्लोरेंस नगर, या टस्केनी प्रान्त, या

यूरोप महाद्वीप, या समूची मान-जाति को क्यों न इस रूप में देखूँ? राष्ट्रवाद के अपेक्षाकृत नरम रूप मुझसे कहेंगे कि निश्चय ही इटली के प्रति मेरे विशेष दायित्वों के साथ-साथ अपने परिवार के प्रति, फ़्लोरेंस के प्रति, यूरोप के प्रति और समूची मानव-जाति के प्रति मेरे दायित्व हो सकते हैं। इसके विपरीत इताल्वी फ़ासिस्ट मुझसे सिर्फ़ इटली के प्रति सम्पूर्ण वफ़ादारी की माँग करेंगे।

मुसोलिनी और उसकी फ़ासिस्ट पार्टी की श्रेष्ठतम कोशिशों के बावजूद, ज़्यादातर इताल्वी इटली को अपने परिवारों (famiglia) से ज़्यादा अहमियत देने को लेकर उदासीन बने रहे। जर्मनी में नाज़ियों के सरकारी प्रचारतन्त्र ने कहीं ज़्यादा भरपूर उद्यम किए, लेकिन हिटलर तक लोगों की स्मृति से तमाम वैकल्पिक क़िस्सों को पोंछने में कामयाब नहीं हो सका। नाज़ी दौर के सबसे ज़्यादा काले दिनों में भी लोगों ने सरकारी क़िस्से के अलावा कुछ बैक-अप क़िस्सों को बरक़रार रखा था। यह बात 1945 में एकदम साफ़ तौर पर ज़ाहिर हो गई थी। आप शायद सोचते होंगे कि नाज़ी ब्रेनवॉशिंग के बारह वर्षों के बाद ज़्यादातर जर्मन युद्ध के बाद के अपने जीवन को समझ पाने में असमर्थ रहे होंगे। एक महान क़िस्से के प्रति अपनी सारी आस्था समर्पित कर चुकने के बाद, उस समय क्या किया जाए, जब उस क़िस्से की धज्जियाँ उड़ गई हों? लेकिन ज़्यादातर जर्मन चकित कर देने वाली रफ़्तार से उसके असर से बाहर आ गए थे। उन्होंने अपने दिमाग़ के किन्हीं हिस्सों में दुनिया के बारे में दूसरे क़िस्से बचा रखे थे, और जैसे ही हिटलर ने अपने सिर में गोली दागी, वैसे ही बर्लिन, हैम्बर्ग और म्यूनिख़ के लोगों ने नई पहचानें अपना लीं और जीवन का नया अर्थ हासिल कर लिया।

यह सही है कि लगभग 20 % नाज़ी गाउलेइटरों (क्षेत्रीय पार्टी के नेताओं) ने आत्महत्याएँ कर ली थीं, जैसे कि लगभग 10 % जनरलों ने की थीं। लेकिन इसका मतलब है कि 80 % गाउलेइटर और लगभग 90 % जनरल जीवित बने रहकर पूरी तरह सुखी थे। कार्ड-धारी नाज़ियों और एसएस सैन्य पदाधिकारियों तक का बहुत बड़ा वर्ग न तो पागल हो गया था, न ही उसने ख़ुद को ख़त्म कर लिया था। वे उसके बाद कारगर किसानों, अध्यापकों, डॉक्टरों और बीमा एजेंटों के रूप में काम करते रहे।

सच तो यह है कि आत्महत्या भी किसी एकमात्र कहानी के प्रति सम्पूर्ण प्रतिबद्धता को साबित नहीं करती। 13 नवम्बर 2015 को इस्लामिक स्टेट ने पेरिस में एक साथ कई आत्मघाती हमलों को अंजाम दिया था, जिनमें 130 लोग मारे गए थे। इस उग्रवादी संगठन का कहना था कि उसने यह फ़्रांसीसी वायुसेना द्वारा सीरिया और इराक़ में इस्लामिक स्टेट के लड़ाकों पर बरसाए गए बमों का इंतक़ाम लेने के लिए, और इस उम्मीद से किया था कि इससे फ़्रांस भविष्य में इस तरह की बमबारी से बाज़ आएगा। इसी साँस में इस्लामिक स्टेट ने यह ऐलान भी किया था कि फ़्रांसीसी वायु सेना द्वारा मारे गए सारे मुसलमान शहीद हैं, जो अब जन्नत में शाश्वत आनन्द ले रहे हैं।

यहाँ कोई ऐसी बात है, जो समझ से परे है। अगर फ़्रांसीसी वायुसेना द्वारा मारे गए शहीद सचमुच अब जन्नत में हैं, तो फिर किसी को भी उनका इंतक़ाम लेने की क्या ज़रूरत है? ठीक-ठीक किस चीज़ का इंतक़ाम ? लोगों को जन्नत भेजने का? अगर आपको ख़बर मिले कि आपके प्रिय भाई ने दस लाख डॉलर की लॉटरी जीत ली है, तो क्या आप इंतक़ाम लेने के लिए लॉटरी की दुकानों को बम से उड़ाना शुरू कर देंगे? तब फिर महज़ इसलिए कि फ़्रांसीसी वायुसेना ने आपके कुछ बन्धुओं को जन्नत के एकतरफ़ा टिकिट मुहैया करा दिए थे, पेरिस में यह हिंसक उत्पात करने की क्या ज़रूरत थी? और अगर आप फ़्रांसीसियों को सीरिया में आगे ज़्यादा बमबारी करने से रोक देते हैं, तो यह और भी बदतर होगा, क्योंकि उस सूरत में और भी कम मुसलमान जन्नत जा पाएँगे।

हमारे मन में यह निष्कर्ष निकालने का लोभ जाग सकता है कि इस्लामिक स्टेट के लड़ाके वास्तव में इसमें विश्वास नहीं करते कि शहीद जन्नत में जाते हैं। इसीलिए जब उन पर बम बरसाए जाते हैं और वे मारे जाते हैं, तो वे क्रोधित होते हैं, लेकिन अगर ऐसा है, तब फिर क्या वज़ह है कि उनमें से कुछ अपने शरीर पर विस्फोटक बेल्ट बाँध लेते हैं और ख़ुद को विस्फोट में उड़ाकर टुकड़ा-टुकड़ा कर लेते हैं? पूरी सम्भावना है कि इसका जवाब यह है कि वे दो परस्पर विरोधी क़िस्सों में, उनकी असंगतियों के बारे में बहुत ज़्यादा सोच-विचार किए बिना विश्वास करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है कि कुछ स्नायुओं के बीच आपस में बोलचाल के रिश्ते नहीं होते।

सीरिया और इराक़ के इस्लामिक स्टेट के गढ़ों पर फ़्रांसीसी वायुसेना की बमबारी के आठ सदी पहले, एक अन्य फ़्रांसीसी सेना ने उस कार्यक्रम के तहत मध्य पूर्व पर आक्रमण किया था, जिसे बाद की पीढ़ियों के लोग 'सातवें धर्मयुद्ध' ('द सेवेन्थ क्रूसेड') के नाम से जानते हैं। सन्तवत सम्राट लुई IX के नेतृत्व में इन धर्मयोद्धाओं ने नील घाटी पर विजय हासिल करने और मिस्र को एक ईसाई रक्षा-कवच में बदल देने की उम्मीद की थी, लेकिन वे मंसूरा की लड़ाई में पराजित कर दिए गए थे और ज़्यादातर धर्मयोद्धाओं को बन्धक बना लिया गया था। एक धर्मयोद्धा नाइट ज़्याँ दे ज़ावीले ने बाद में अपने संस्मरण में लिखा था कि जब युद्ध में पराजय हुई और उन लोगों ने आत्मसमर्पण करने का फ़ैसला किया, तब उनके एक आदमी ने कहा, "मैं इस फ़ैसले से सहमत नहीं हो सकता। मेरी सलाह तो यह है कि हम सबको स्वयं को मार दिए जाने की छूट दे देनी चाहिए, क्योंकि इस तरह हम स्वर्ग में जाएँगे।" इस पर ज़ावीले रूखे ढंग से टिप्पणी करते हैं कि "हममें से किसी ने भी उसकी सलाह पर ध्यान नहीं दिया।"

ज़ावीले यह स्पष्ट नहीं करते कि उन लोगों ने उस सलाह से इंकार क्यों कर दिया था। आख़िरकार, ये वे लोग थे, जिन्होंने मध्य पूर्व में एक लम्बे और ख़तरनाक अभियान की ख़ातिर फ़्रांस के अपने आरामदेह महल मुख्यतः इसीलिए त्याग दिए थे, क्योंकि वे शाश्वत मुक्ति के आश्वासन में विश्वास करते थे। तब फिर, जब वे स्वर्ग के उस शाश्वत परम आनन्द

से पलभर की दूरी पर थे, तो उन्होंने उसकी बजाय मुसलमानों द्वारा बन्धक बनाए जाने का विकल्प क्यों चुना? ऊपरी तौर पर, ये धर्मयोद्धा यद्यपि मुक्ति और स्वर्ग में विश्वास करते थे, लेकिन सच्चाई के क्षण में उन्होंने यह भूल न करने का विकल्प चुना।

एल्सिनोर में सुपरमार्केट

समूचे इतिहास के दौरान लगभग सारे इंसान एक ही वक़्त में कई क़िस्सों में विश्वास करते रहे, और उन्होंने इनमें से किसी भी एक क़िस्से की सच्चाई पर अन्तिम रूप से यक़ीन नहीं किया। इस अनिश्चय की सरसराहट ज़्यादातर मज़हबों में मौजूद रही है, जो इसीलिए आस्था को एक आधारभूत गुण की तरह और सन्देह को यथासम्भव निन्दनीय पापों में से एक पाप की तरह देखते रहे हैं। मानो बिना किसी प्रमाण के चीज़ों में विश्वास करना सहज रूप से अच्छी बात हो, लेकिन आधुनिक संस्कृति के उद्भव के साथ स्थिति पूरी तरह बदल गई। आस्था उत्तरोत्तर मानसिक ग़ुलामी जैसी लगने लगी, जबकि सन्देह को स्वतन्त्रता की प्राथमिक शर्त की तरह देखा जाने लगा।

1599 और 1602 के बीच कभी विलियम शेक्सपियर ने *द लायन किंग* के अपने संस्करण का लेखन किया था, जिसे *हैमलेट* के नाम से बेहतर जाना जाता है, लेकिन सिम्बा से भिन्न, हैमलेट जीवन के चक्र को पूरा नहीं करता। वह अन्त तक शंकालु और दुविधाग्रस्त बना रहता है, और कभी नहीं जान पाता कि जीवन का अर्थ आख़िर क्या है, और कभी यह निश्चय नहीं कर पाता कि होना बेहतर है या न होना। इस मामले में हैमलेट आधुनिक नायक का प्रतिमान है। आधुनिकता ने उन अनन्त क़िस्सों को ख़ारिज़ नहीं किया था, जो उसको अतीत से विरासत में प्राप्त हुए थे। इसकी बजाय उसने उनके लिए एक सुपरमार्केट खोल दिया। आधुनिक मनुष्य उन सबका स्वाद लेकर जाँचने के लिए, और अपनी रुचि के मुताबिक़ उनमें से चुनने या उनका कोई मिश्रण तैयार करने के लिए स्वतन्त्र है।

कुछ लोग इतनी ज़्यादा स्वतन्त्रता और अनिश्चय को बर्दाश्त नहीं कर पाते। फ़ासीवाद जैसे आधुनिक सर्वसत्तावादी आन्दोलनों ने सन्दिग्ध विचारों के सुपरमार्केट पर हिंसक ढंग से प्रतिक्रिया की, और एक एकल क़िस्से में सम्पूर्ण आस्था की माँग करने के मामले में पारम्परिक मज़हबों तक को पीछे छोड़ दिया, लेकिन ज़्यादातर आधुनिक लोगों ने इस सुपरमार्केट के प्रति अपनी पसन्द विकसित कर ली। जब आपको यह समझ में नहीं आता कि कुल मिलाकर जीवन का अर्थ क्या है और कौन-से क़िस्से पर भरोसा किया जाए, तब आप क्या करते हैं? तब आप चुनने की सामर्थ्य-मात्र को एक पवित्र चीज़ मानने लगते हैं। आप चुनने की शक्ति और स्वतन्त्रता से लैस होकर हमेशा के लिए इस सुपरमार्केट के

गलियारे में जाकर खड़े हो जाते हैं, अपने सामने रखे उत्पादों को जाँचते-परखते रहते हैं, और...दृश्य फ़्रीज़, कट। द एंड। पर्दे पर क्रेडिट्स की फ़ेहरिस्त।

उदारवादी मिथक-विद्या के मुताबिक़ अगर आप उस विशाल सुपरमार्केट में पर्याप्त लम्बे समय तक खड़े रहते हैं, तो आपको आगे-पीछे उदारवादी दिव्य-दर्शन की अनुभूति होगी, और जीवन के सच्चे अर्थ का बोध हो जाएगा। इस सुपरमार्केट के शेल्फ़ों में रखे हुए सारे क़िस्से नक़ली हैं। जीवन का अर्थ कोई तैयारशुदा उत्पाद नहीं है। कोई अलौकिक पटकथा नहीं है, और मुझसे बाहर की कोई चीज़ मेरे जीवन को अर्थ प्रदान नहीं कर सकती। यह मैं हूँ, जो अपने स्वतन्त्र चुनावों के माध्यम से और अपनी ख़ुद की अनुभूतियों के माध्यम से हर चीज़ को अर्थ से रंगता रहता हूँ।

फ़न्तासी फ़िल्म *विलो* - जॉर्ज लुकास की एक नीरस क़िस्म की परीकथा - में इसी नाम का नायक एक साधारण बौना है, जो एक महान जादूगर बनने और अस्तित्व के रहस्यों में महारत हासिल करने का ख़्वाब पाले हुए है। एक दिन ऐसा ही एक जादूगर किसी चेले की तलाश में बौनों के उस गाँव से गुज़रता है। विलो और दो अन्य उम्मीदवार बौने स्वयं को उसके सामने पेश करते हैं, और वह जादूगर इन उम्मीदवारों से एक छोटी-सी परीक्षा लेता है। वह अपना दायाँ हाथ आगे करता है, अपनी अंगुलियाँ फैलाता है और योदा-नुमा आवाज़ में पूछता है, “दुनिया को नियन्त्रित करने की ताक़त किस अंगुली में है?” तीनों बौने अलग-अलग अंगुलियाँ पकड़ते हैं, लेकिन वे तीनों ही ग़लत अंगुली चुनते हैं। तब भी जादूगर विलो में कोई ख़ास चीज़ लक्ष्य करता है, और बाद में उससे पूछता है, “जब मैंने अपनी अंगुलियाँ फैलाई थीं, तब तुम्हारे मन में सबसे पहले क्या भावना पैदा हुई थी?” “वह बहुत ही मूर्खतापूर्ण थी,” विलो ने शर्मिन्दा होते हुए कहा, “मेरी अपनी अंगुली पकड़ने की।” “अहा!” जादूगर ने विजय के भाव से पुकारते हुए कहा, “वह सही जवाब था! तुममें आत्मविश्वास का अभाव है।” उदारवादी मिथक-विद्या इस सीख को दोहराते हुए कभी नहीं थकती।

ये हमारी अपनी अंगुलियाँ हैं, जिन्होंने बाइबल, कुरान और वेद लिखे हैं, और यह हमारा अपना दिमाग़ है, जो इन क़िस्सों को शक्ति प्रदान करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सुन्दर क़िस्से हैं, लेकिन इनकी सुन्दरता पूरी तरह से देखने वाले की आँख में होती है। यरुशलम, मक्का, वाराणसी और बोध गया तीर्थ-स्थल हैं, लेकिन सिर्फ़ उन भावनाओं की वज़ह से हैं, जिनको मनुष्य वहाँ जाने पर अनुभव करते हैं। सृष्टि अपने आप में अणुओं का गड़बड़झाला है। कोई भी चीज़ सुन्दर, पवित्र या कामोत्तेजक नहीं है, लेकिन मनुष्य की अनुभूतियाँ उनको वैसा बना देती हैं। ये केवल मानवीय अनुभूतियाँ हैं, जो एक लाल सेब को सम्मोहक और मल के टुकड़े को घिनौना बनाती हैं। अगर आपसे मानवीय भावनाओं को छीन लिया जाए, तो आप अणुओं (मॉलिक्यूल्स) के एक समूह में बदलकर रह जाएँगे।

हम स्वयं को सृष्टि के बारे में किसी तैयारशुदा क़िस्से में फिट करके अर्थ हासिल करने की उम्मीद करते हैं, लेकिन दुनिया की उदारवादी व्याख्या के मुताबिक़, सच्चाई इसके एकदम विपरीत है। सृष्टि हमें अर्थ प्रदान नहीं करती। मैं सृष्टि को अर्थ प्रदान करता हूँ। यह मेरा ब्रह्माण्डीय उद्यम है। मेरी कोई तयशुदा नियति या धर्म नहीं है। अगर मैं स्वयं को सिम्बा या अर्जुन जैसी स्थिति में पाता हूँ, तो मैं किसी राज्य के सिंहासन के लिए युद्ध करने का चुनाव कर सकता हूँ, लेकिन मुझे ऐसा करने की ज़रूरत नहीं है। मैं एक घुमन्तू सर्कस में भी शामिल हो सकता हूँ, किसी संगीत-नाटिका में गाने के लिए ब्रॉडवे जा सकता हूँ, या फिर सिलिकॉन वैली में जाकर किसी नई कम्पनी की शुरुआत कर सकता हूँ। मैं अपना ख़ुद का धर्म रचने के लिए आज़ाद हूँ।

इस प्रकार, दूसरे ब्रह्माण्डीय क़िस्सों की ही तरह, उदारवादी क़िस्सा भी एक सृष्टि-कथा के साथ शुरू होता है। वह कहता है कि सृष्टि हर पल घटित होती है, और मैं सृष्टा हूँ। तब फिर मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? भावनाओं के सहारे, चिन्तन के सहारे, आकांक्षाओं के सहारे, और आविष्कारों के सहारे अर्थ की सृष्टि करना। ऐसी कोई भी चीज़ जो महसूस करने, सोचने, आकांक्षा करने और आविष्कार करने की मानवीय स्वतन्त्रता को सीमित करती है, वह सृष्टि के अर्थ को सीमित करती है। इसलिए इस तरह की सीमाओं से आज़ादी परम आदर्श है।

व्यावहारिक पदावली में बात करें, तो जो लोग इस उदारवादी क़िस्से में विश्वास करते हैं। वे दो धर्मादेशों का पालन करते हैं : रचो, और आज़ादी के लिए लड़ो। रचनात्मकता कविता लिखने, अपनी काम-भावना को अनुभव करने, किसी नई एप्लीकेशन का आविष्कार करने, या किसी अज्ञात रसायन की खोज करने में अपनी अभिव्यक्ति पा सकती है। आज़ादी की लड़ाई में वह कोई भी चीज़ शामिल है, जो लोगों को सामाजिक, जैविक या भौतिक बाधाओं से मुक्त करती है, वह चाहे क्रूर तानाशाहों के ख़िलाफ़ प्रदर्शन हो, लड़कियों को पढ़ने की शिक्षा देना हो, कैंसर का इलाज खोजना हो, या कोई अन्तरिक्ष-यान तैयार करना हो। उदारवादी नायकों की देवमण्डली में लुई पाश्चर और राइट ब्रदर्स के साथ-साथ रोज़ा पार्क्स और पाब्लो पिकासो तक शामिल हैं।

यह सैद्धान्तिक तौर पर बहुत उत्तेजक और गहरी बात लगती है, लेकिन दुर्भाग्य से, मानवीय स्वतन्त्रता और मानवीय सृजनात्मकता वे चीज़ें नहीं हैं, जिनकी कल्पना उदारवादी क़िस्सा करता है। हमारी श्रेष्ठतम वैज्ञानिक समझ के अनुसार, हमारे चयनों और रचनाओं के पीछे कोई जादू नहीं है। वे जैवरासायनिक संकेतों का आदान-प्रदान करते अरबों स्नायुओं की उपज हैं, और अगर आप मनुष्यों को कैथोलिक चर्च और सोवियत यूनियन की दासता से आज़ाद कर देते हैं, तब भी उनके चयन जैवरासायनिक ऐल्गरिदमों द्वारा उतनी ही निर्ममता से निर्देशित होते रहेंगे, जितनी निर्ममता से उनको धर्मपरीक्षण और केजीबी नियन्त्रित करते थे।

उदारवादी क़िस्सा मुझे अभिव्यक्ति की आज़ादी की खोज करने और आत्मबोध की शिक्षा देता है, लेकिन 'आत्म' और स्वतन्त्रता, दोनों ही प्राचीन युग की परीकथाओं से उधार ली गई कल्पनाएँ हैं। उदारवाद में ख़ासतौर से 'स्वतन्त्र इच्छाशक्ति' की भ्रामक धारण निहित है। ज़ाहिर है कि मनुष्यों में इच्छा होती है, उनमें आकांक्षाएँ होती हैं, और वे कभी-कभी अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए स्वतन्त्र भी होते हैं। अगर 'स्वतन्त्र इच्छाशक्ति' से आपका अभिप्राय वह करने की स्वतन्त्रता से है, जो आप करना चाहते हैं - तब हाँ, मनुष्यों में स्वतन्त्र इच्छाशक्ति होती है, लेकिन अगर 'स्वतन्त्र इच्छाशक्ति' से आपका अभिप्राय वह चुनने की स्वतन्त्रता से है, जो आप चाहते हैं - तब नहीं, मनुष्य की कोई स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं है।

अगर मैं पुरुषों के प्रति काम-आकर्षण महसूस करता हूँ, तो मैं अपनी कल्पनाओं को साकार रूप देने के लिए आज़ाद हूँ, लेकिन मैं पुरुषों की जगह स्त्रियों के प्रति आकर्षण महसूस करने के लिए आज़ाद नहीं हूँ। कुछ मामलों में मैं अपनी काम-भावनाओं को संयमित करने या 'यौन-परिवर्तन' चिकित्सा कराने तक का निर्णय ले सकता हूँ, लेकिन अपनी काम-भावना की दिशा को बदलने की आकांक्षा-मात्र एक ऐसी चीज़ है ,जो मुझ पर मेरे उन स्नायुओं द्वारा डाली गई है, जो शायद सांस्कृतिक और मज़हबी पक्षपातों द्वारा उत्प्रेरित हैं। क्या कारण है कि एक व्यक्ति अपनी काम-भावना को लेकर शर्मिन्दगी महसूस करता है और उसको बदलना चाहता है, जबकि दूसरा व्यक्ति किसी तरह के अपराध-बोध के बिना उन्हीं काम-भावनाओं का जश्न मनाता है? आप कह सकते हैं कि पहले वाले में दूसरे के मुक़ाबले प्रबल धार्मिक भावनाएँ हो सकती हैं, लेकिन क्या लोग प्रबल या कमज़ोर मज़हबी भावनाएँ रखने का चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र हैं? एक बार फिर, कोई व्यक्ति अपनी कमज़ोर मज़हबी भावनाओं को मज़बूत करने की सचेत कोशिश के तहत हर इतवार को चर्च जाने का फ़ैसला कर सकता है, लेकिन ऐसा क्यों है कि एक व्यक्ति ज़्यादा मज़हबी होने की आकांक्षा करता है, जबकि दूसरा नास्तिक बने रहने को लेकर पूरी तरह ख़ुश होता है? यह कितनी ही सांस्कृतिक और वंशानुगत प्रवृत्तियों का नतीजा हो सकता है, लेकिन यह 'स्वतन्त्र इच्छाशक्ति' का परिणाम कभी नहीं होता।

जो बात काम-आकांक्षाओं के बारे में सही है, वही तमाम दूसरी आकांक्षाओं पर, और वास्तव में तमाम अनुभूतियों और विचारों पर लागू होती है। ज़रा उस अगले ही विचार को लें, जो आपके दिमाग़ में सहसा प्रकट हुआ है। यह कहाँ से आया? क्या आपने स्वतन्त्र ढंग से उसके बारे में सोचने का चुनाव किया था, और उसके बाद ही उसको सोचा था? निश्चय ही नहीं। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया बहुत साधारण-सी चीज़ों के साथ शुरू होती है, और क्रमश: सख़्त होती जाती है। शुरू में, हमें इस बात का अहसास होता है कि अपने से बाहर की दुनिया को हम नियन्त्रित नहीं करते। यह फ़ैसला मैं नहीं करता कि बारिश कब हो। इसके बाद हमें इस बात का अहसास होता है कि जो कुछ भी हमारी काया के भीतर घटित

होता है, उसको हम नियन्त्रित नहीं करते। मैं अपने रक्तचाप को नियन्त्रित नहीं करता। इसके बाद, हम इस बात को समझते हैं कि हमारे स्वयं के मस्तिष्क पर भी हमारा शासन नहीं है। मैं स्नायुओं से यह नहीं कहता कि वे कब उत्तेजित हों। अन्ततः हमें इस बात को समझना ज़रूरी होता है कि हमारा अपनी आकांक्षाओं, या इन आकांक्षाओं पर अपनी प्रतिक्रियाओं तक पर नियन्त्रण नहीं होता।

इस सबका अहसास हमारी अपनी धारणाओं को लेकर, अपनी अनुभूतियों को लेकर, और अपनी आकांक्षाओं को लेकर हमारी आसक्ति को कम करने में मदद कर सकता है। हमारी कोई स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नहीं है, लेकिन हम अपनी इच्छा-शक्ति की यातना से कुछ आज़ाद हो सकते हैं। मनुष्य सामान्यतः अपनी आकांक्षाओं को इतनी ज़्यादा अहमियत देते हैं कि वे अपनी आकांक्षाओं के मुताबिक़ सारी दुनिया को नियन्त्रित करने और आकार देने की कोशिश करते हैं। अपनी लालसाओं को सन्तुष्ट करने की कोशिश में मनुष्य चन्द्रमा तक उड़ान भरता है, युद्ध छेड़ता है, और समूचे पारिस्थितिकीय तन्त्र को तहस-नहस कर देता है। अगर हम इस बात को समझ लेते हैं कि हमारी आकांक्षाएँ स्वतन्त्र चयन की जादुई अभिव्यक्तियाँ नहीं, बल्कि जैवरासायनिक प्रक्रियाओं की उपज हैं (जो प्रक्रियाएँ उन सांस्कृतिक कारकों से प्रभावित होती हैं, जो स्वयं भी हमारे नियन्त्रण से परे हैं), तो उनमें हमारी तल्लीनता कम हो सकती है। बजाय इसके कि जो भी दिवास्वप्न हमारे दिमाग़ों में पैदा होते हैं, हम उनको साकार करने की कोशिश करें, उससे बेहतर यह है कि ख़ुद को, अपने दिमागों और अपनी आकांक्षाओं को समझें।

लोग कभी-कभी ऐसी कल्पना करने लगते हैं कि अगर हम स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति में अपना विश्वास त्याग देंगे, तो हम पूरी तरह से उदासीन हो जाएँगे, और किसी कोने में घुटने मोड़ बैठे-बैठे भूखे मर जाएँगे। वस्तुतः, इस भ्रम का त्याग गहन जिज्ञासा उकसाने वाला है। जब तक आप ख़ुद को अपने दिमाग़ में उभरने वाले जिन किन्हीं भी विचारों और आकांक्षाओं के साथ दृढ़तापूर्वक जोड़े रखते हैं, तब तक आपको ख़ुद को जानने की बहुत ज़्यादा कोशिश करने की ज़रूरत नहीं होती। आप सोचते हैं आपको तो मालूम ही है कि आप कौन हैं, लेकिन जब आपको इस बात का अहसास हो जाता है कि “अरे, मैं ये विचार नहीं हूँ। ये तो महज़ कुछ जैवरासायनिक स्पन्दन हैं!”, वैसे ही आपको यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आपको इसका कोई इल्म नहीं है कि आप कौन - या क्या - हैं। यह एक खोज-अभियान के ऐसे अत्यन्त रोमांचक सफ़र की शुरुआत हो सकती है, जिस पर कोई भी इंसान निकल सकता है।

इस सफ़र का एक निर्णायक क़दम इस बात को क़बूल करना है कि ‘स्व’ एक ऐसा काल्पनिक क़िस्सा है, जिसको हमारे दिमाग़ की पेचीदा प्रक्रियाएँ लगातार गढ़ती रहती हैं, नया रूप देती रहती हैं और नए सिरे से लिखती रहती हैं। मेरे दिमाग़ में एक कथाकार बैठा हुआ है, जो बताता रहता है कि मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मैं कहाँ जा रहा हूँ, और

ठीक इस वक़्त क्या हो रहा है। शब्दों की कलाबाज़ी में माहिर सरकार के उन लोगों की तरह, जो ताज़ा राजनीतिक उथल-पुथल की व्याख्या करते रहते हैं, यह अन्दर बैठा कथाकार भी चीज़ों को लगातार ग़लत समझता रहता है, लेकिन अपनी ग़लतियों को शायद ही कभी स्वीकार करता है। और जिस तरह सरकार झण्डों, प्रतीकों और परेडों की मदद से राष्ट्रीय मिथक गढ़ती रहती है, ठीक उसी तरह मेरा अन्दरूनी प्रचार-तन्त्र अत्यन्त मूल्यवान स्मृतियों और पोसकर रखे गए सदमों की मदद से एक ऐसा निजी मिथक गढ़ता रहता है, जो अक्सर सच्चाई से बहुत कम मेल खाता है।

फ़ेसबुक और इन्स्टाग्राम के युग में मिथक-निर्माण की इस प्रक्रिया को आप पहले के किसी भी वक़्त के मुक़ाबले ज़्यादा स्पष्ट ढंग से समझ सकते हैं, क्योंकि इस प्रक्रिया का कुछ हिस्सा दिमाग़ की जगह कम्प्यूटर को सौंप दिया गया है। ऐसे लोगों को देखना आकर्षक और भयानक है, जो एक अचूक स्वत्व को ऑनलाइन गढ़ने और सँवारने में अनगिनत घण्टे बिताते हुए अपनी ही इस रचना से मोहित होते रहते हैं, और इसको अपनी सच्चाई समझने की भूल करते रहते हैं। यह वह प्रक्रिया है, जिससे ट्रैफ़िक जामों, क्षुद्र क़िस्म के झगड़ों और तनावपूर्ण ख़ामोशियों से भरा पारिवारिक छुट्टी का एक दिन ख़ूबसूरत दृश्यों, उत्तम क़िस्म के डिनरों और मुस्कराते चेहरों के गुच्छे में बदल जाता है। हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं, उसका 99 % कभी भी स्वत्व की कहानी का हिस्सा नहीं बन पाता।

यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हमारे परिकल्पित स्वत्व में बहुत दृष्यात्मक होने की प्रवृत्ति होती है, जबकि हमारे वास्तविक अनुभव दैहिक होते हैं। अपनी परिकल्पना में आप अपने मन में या कम्प्यूटर-स्क्रीन पर एक दृश्य देखते हैं। आप ख़ुद को एक उष्णकटिबन्धीय समुद्र-तट पर खड़ा हुआ देखते हैं, जहाँ आपके पीछे नीला समुद्र लहरें मार रहा होता है, आपके चेहरे पर बड़ी-सी मुस्कराहट होती है, आपके एक हाथ में कॉकटेल थमा होता है, और दूसरा हाथ आपके प्रेमी की कमर को घेरे होता है। स्वर्ग। यह दृश्य जो चीज़ें नहीं दिखाता, वे हैं आपके पैरों में डंक चुभाती परेशान करती मक्खी, सड़ी हुई मछली का सूप पीने से आपके पेट में जागती मरोड़ का अहसास, बड़ी मुस्कराहट का ढोंग रचने की कोशिश से आपके जबड़े में पैदा होता तनाव, और वह भद्दा झगड़ा जो इस सुखी युगल के बीच पाँच मिनिट पहले हुआ था। काश! हम उस चीज़ को महसूस कर पाते, जिसे तसवीरों में दिखाई देते लोगों ने इन तसवीरों को लेते समय महसूस किया था!

इसलिए अगर आप वास्तव में ख़ुद को समझना चाहते हैं, तो आपको स्वयं को अपने फ़ेसबुक अकाउंट या स्वत्व की आन्तरिक कहानी से जोड़कर नहीं देखना चाहिए। इसकी बजाय, आपको देह और दिमाग़ के वास्तविक प्रवाह को लक्ष्य करना चाहिए। तब आप विचारों, भावनाओं और आकांक्षाओं को बिना किसी ख़ास तर्क के और आपसे मिले किसी निर्देश के बिना प्रकट और लुप्त होते देखेंगे, ठीक उस तरह जैसे इस या उस दिशा से

अलग-अलग हवाएँ बहकर आती हैं और आपके बाल बिखराकर चली जाती हैं। और जिस तरह आप ये हवाएँ नहीं हैं, ठीक उसी तरह आप उन विचारों, भावनाओं और आकांक्षाओं का घालमेल नहीं हैं, जिनको आप अनुभव करते हैं, और आप वह साफ़-स्वच्छ बना दी गई कहानी तो नहीं ही हैं, जो आप उनके बारे में बाद में उनको याद करते हुए सुनाते हैं। आप उन सबको अनुभव तो करते हैं, लेकिन आप उनको नियन्त्रित नहीं करते, उन पर आपका स्वामित्व नहीं होता, और आप वह नहीं होते, जो वे हैं। लोग पूछते हैं 'मैं कौन हूँ?' और कोई क़िस्सा सुनाए जाने की उम्मीद करते हैं। जो चीज़ आपके लिए सबसे पहले जानना ज़रूरी है, वह यह है कि आप कोई क़िस्सा नहीं हैं।

कोई क़िस्सा नहीं

उदारवाद ने सारे ब्रह्माण्डीय नाटकों से इंकार करने का क्रान्तिकारी क़दम उठाया था, लेकिन मनुष्य के भीतर उस नाटक की पुनर्रचना कर दी - सृष्टि का कोई कथानक नहीं है, इसलिए अब यह हम मनुष्यों की ज़िम्मेदारी है कि हम एक कथानक रचें, और यही हमारे उपयुक्त काम है और हमारे जीवन का अर्थ है। हमारे उदारवादी युग के हज़ारों साल पहले प्राचीन बौद्ध धर्म ने इससे भी आगे जाकर न सिर्फ़ सारे ब्रह्माण्डीय नाटकों से इंकार किया था, बल्कि मानव-रचित आन्तरिक नाटक से भी इंकार किया था। सृष्टि में कोई अर्थ नहीं है, और मानवीय अनुभूतियों में भी कोई अर्थ नहीं है। वे किसी महान ब्रह्माण्डीय कहानी का हिस्सा नहीं हैं - वे महज़ क्षणभंगुर स्पन्दन हैं, जो बिना किसी ध्येय के प्रकट होते हैं और लुप्त हो जाते हैं। यही सत्य है। इसी पर विजय पाओ।

बृहदारण्यक उपनिषद हमसे कहता है कि 'बलि के अश्व का सिर भोर है, उसके नेत्र सूर्य हैं...उसके अंग ऋतुएँ हैं, उसके सन्धि-स्थल महीने और पखवाड़े हैं, उसके पैर दिन और रात हैं, उसकी अस्थियाँ नक्षत्र हैं, उसका मांस मेघ है।' इसके विपरीत, प्रमुख बौद्ध ग्रन्थ *महासतिपत्थान सुत्त* व्याख्या करता है कि जब कोई मनुष्य ध्यान करता है, जब वह सावधानीपूर्वक अपनी काया का पर्यवेक्षण करता है, लक्ष्य करता है कि 'इस काया में सिर पर बाल हैं, त्वचा पर बाल हैं, नाख़ून हैं, दाँत हैं, त्वचा है, मांस है, ऊतक हैं, हड्डियाँ हैं, मज्जा है, गुर्दे हैं, हृदय है... लार है, नाक है... मल और मूत्र है। इस तरह काया को लक्ष्य करता हुआ उस पर मनन करता है... अब उसकी समझ विकसित होती है : "यह है काया!" बाल, हड्डियाँ या मूत्र किसी चीज़ को ज़ाहिर नहीं करते। वे वही हैं, जो हैं।

एक-के-बाद-एक अंश में यह ग्रन्थ इस बात की व्याख्या करता चलता है कि ध्यानकर्ता काया या दिमाग़ में जिस किसी भी चीज़ को लक्ष्य करता हो, वह उसको उसके यथावत रूप में समझता/समझती है। इस प्रकार जब ध्यानकर्ता साँस लेता है, 'गहरी साँस

लेता हुआ वह ठीक-ठीक समझता है कि "मैं गहरी साँस ले रहा हूँ।" उथली साँस लेता हुआ वह ठीक-ठीक समझता है कि "मैं उथली साँस ले रहा हूँ।"' लम्बी साँस ऋतुओं और छोटी साँस दिनों का निरूपण नहीं करती। वे महज़ काया में होने वाले स्पन्दन हैं।

बुद्ध ने सीख दी थी कि सृष्टि की तीन आधारभूत वास्तविकताएँ ये हैं कि हर चीज़ निरन्तर परिवर्तनशील है, किसी चीज़ में कोई टिकाऊ सत्त्व नहीं है, और कोई भी चीज़ पूरी तरह से सन्तोषप्रद नहीं है। आप अपनी काया, या अपने दिमाग़ की सुदूर आकाशगंगा तक की छानबीन कर डालें, लेकिन आपको कभी कोई ऐसी चीज़ नहीं मिलेगी, जो परिवर्तित न होती हो, जिसमें कोई शाश्वत सत्त्व हो, और जो आपको पूरी तरह से सन्तुष्ट कर सकती हो।

दुःख इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि लोग इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाते। उनका विश्वास होता है कि कहीं कोई शाश्वत सत्त्व है, और अगर वे उसका पता लगा लें और उससे सम्बन्ध जोड़ लें, तो वे पूरी तरह से सन्तुष्ट हो जाएँगे। इस शाश्वत सत्त्व को कभी ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है, कभी राष्ट्र के नाम से पुकारा जाता है, कभी आत्मा के नाम से पुकारा जाता है, कभी प्रामाणिक स्वत्व के नाम से पुकारा जाता है, और कभी सच्चे प्रेम के नाम से पुकारा जाता है - और लोग जितना ही इससे आसक्त होते जाते हैं, उतना ही उसको पाने में नाकामयाब होने की वज़ह से वे निराश और दयनीय होते जाते हैं। इससे भी बदतर यह है कि यह आसक्ति जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही अधिक घृणा इस तरह के लोग किसी भी उस व्यक्ति, समूह या संस्था के प्रति विकसित कर लेते हैं, जो उनके और उनके प्रिय लक्ष्य के आड़े आते प्रतीत होते हैं।

इस तरह, बुद्ध के अनुसार जीवन में कोई अर्थ नहीं है, और लोगों को कोई अर्थ पैदा करने की ज़रूरत नहीं है। उनको सिर्फ़ इतना भर समझ लेना ज़रूरी है कि कोई अर्थ नहीं है, और इस प्रकार आसक्तियों और अर्थशून्य घटनाओं के साथ हमारे जुड़ाव के कारण पैदा होने वाले दुःख से मुक्ति पा लेना ज़रूरी है। "मुझे क्या करना चाहिए?" लोग पूछते हैं, और बुद्ध परामर्श देते हैं : "कुछ मत करो। बिल्कुल कुछ भी नहीं।" सारी समस्या यह है कि हम निरन्तर कुछ करते रहते हैं। ज़रूरी नहीं कि शारीरिक स्तर पर ही करते हों। हम घण्टों आँखें बन्द किए स्थिर बैठे रह सकते हैं, तब भी मानसिक स्तर पर हम क़िस्से और पहचानें गढ़ने में, युद्ध लड़ने और जीतें हासिल करने में अत्यन्त व्यस्त रहते हैं। सचमुच कुछ न करने का अर्थ है कि दिमाग़ भी कुछ न करे और कुछ न गढ़े।

दुर्भाग्य से यह भी बहुत आसानी से एक महान वीरगाथा में बदल जाता है। अगर आप आँखें मूँदकर बैठ जाते हैं और अपनी नाक से आती-जाती साँसों को लक्ष्य करते रहते हैं, तब भी आप शायद उसके बारे में क़िस्से गढ़ना शुरू कर सकते हैं। 'मेरी साँस थोड़ी अस्वाभाविक-सी है, और अगर मैं और भी शान्तिपूर्वक साँस ले सकूँ, तो मैं और भी स्वस्थ हो जाऊँगा' या 'अगर मैं सिर्फ़ अपनी साँस को लक्ष्य करना जारी रखूँ और कुछ भी न

करूँ, तो मुझे बोध की प्राप्ति हो जाएगी, और मैं दुनिया का सबसे अधिक प्रज्ञावान और सबसे ज़्यादा सुखी व्यक्ति बन जाऊँगा।' इसके बाद यह महागाथा विस्तार लेना शुरू कर देती है, और लोग न केवल ख़ुद को अपनी असक्तियों से मुक्त करने, बल्कि दूसरों को भी वैसा ही करने को तैयार करने के अभियान पर निकल पड़ते हैं। यह स्वीकार कर लेने के बाद कि जीवन का कोई अर्थ नहीं है, मुझे दूसरों को यह बात समझाने, अविश्वासियों से तर्क करने, सन्देहवादियों को भाषण देने, मठों के निर्माण के लिए पैसे का दान करने आदि में अर्थ दिखाई देने लगता है। 'कोई क़िस्सा नहीं' भी बहुत आसानी से एक और क़िस्सा बन सकता है।

बौद्ध धर्म का इतिहास इस बात के हज़ारों दृष्टान्त उपलब्ध कराता है कि किस तरह सब कुछ की क्षणभंगुरता और शून्य में, और किसी तरह की आसक्ति न रखने के महत्त्व में विश्वास करने वाले लोग किसी मुल्क की हुकूमत को लेकर, किसी इमारत के स्वामित्व को लेकर, या किसी शब्द के अर्थ तक को लेकर तक़रार और लड़ाई कर सकते हैं। दूसरे लोगों से इसलिए लड़ना, क्योंकि आप एक शाश्वत ईश्वर की महिमा में विश्वास रखते हैं, दुर्भाग्यपूर्ण किन्तु समझ में आने वाली बात है, लेकिन दूसरे लोगों से इसलिए लड़ना, क्योंकि आप सब कुछ की शून्यता में विश्वास रखते हैं, सचमुच विचित्र बात है, लेकिन वह उतनी ही इंसानी भी है।

अठारहवीं सदी में, बर्मा और पड़ोसी सियाम के राजवंश बुद्ध के प्रति अपनी भक्ति पर नाज़ करते थे, और उन्होंने बौद्ध आस्था की रक्षा कर वैधता हासिल की थी। राजा मठों को आर्थिक इमदाद देते थे, पैगोडाओं (स्तूपनुमा बौद्ध देवालयों) का निर्माण कराते थे, और हर सप्ताह उन ज्ञानी भिक्षुओं को सुनने जाते थे, जो हर मनुष्य की पाँच आधारभूत प्रतिज्ञाओं - हत्या, चोरी, व्यभिचार, छल, और नशे से परहेज़ - के बारे में भावपूर्ण उपदेश दिया करते थे। तब भी दोनों राजवंश निरन्तर आपस में लड़ते रहे। 7 अप्रैल 1767 को बर्मा के राजा सिन्ब्यूशिन की सेना लम्बी घेराबन्दी के बाद सियाम की राजधानी में घुस गई। विजयी सेनाओं ने हत्याएँ कीं, लूटपाट की, बलात्कार किए और शायद जहाँ-तहाँ नशे में भी झूमे। इसके बाद उन्होंने नगर के ज़्यादातर हिस्सों को जला दिया। इनमें महल, मठ, और पैगोडा तक शामिल थे और वहाँ से हज़ारों ग़ुलाम और सोना तथा जेवरात गाड़ियों में लादकर अपने घर ले आए।

ऐसा नहीं था कि राजा सिन्ब्यूशिन बौद्ध धर्म को हल्के-फुल्के ढंग से लेता था। अपनी इस महान विजय के सात साल बाद राजा ने विशाल नदी इरावड्डी के तटों की शाही यात्रा की, मार्ग के सारे महत्त्वपूर्ण पैगोडाओं में पूजा-अर्चना की, और बुद्धि से प्रार्थना की कि वे उसकी सेना को और भी विजयों का आशीर्वाद प्रदान करें। जब सिन्ब्यूशिन रंगून पहुँचा, तो वहाँ पर उसने समूचे बर्मा के सबसे पवित्र देवालय - श्वेडागॉन पैगोडा - का पुनरुद्धार और विस्तार किया। इसके बाद उसने इस विशाल प्रासाद को अपने स्वयं के वज़न जितने

सोने से मढ़वाया, और पैगोडा के शिखर पर सोने की एक मीनार खड़ी की और उस पर बेशक़ीमती रत्न जड़वाए (जो शायद सियाम से लूटे गए थे)। इस अवसर का इस्तेमाल करते हुए उसने बन्धक राजा पेगू, उसके भाई और बेटे को फाँसी दे दी।

1930 के दशक के जापान के लोगों ने तो बौद्ध धर्मसिद्धान्तों का मिश्रण राष्ट्रवाद, सैन्यवाद और फ़ासीवाद तक से करने के रास्ते ढूँढ निकाले थे। निस्शो इनॉय, इक्की कीता और तनाका चिगाकु जैसे क्रान्तिकारी बौद्ध चिन्तकों का तर्क था कि अपनी अहंकारपूर्ण आसक्तियों को भंग करने के लिए लोगों को स्वयं को पूरी तरह से सम्राट के प्रति समर्पित कर देना चाहिए, सारे निजी सोच-विचार से काट लेना चाहिए, पूरी तरह से राष्ट्र के प्रति वफ़ादार हो जाना चाहिए। इस तरह के विचारों से अनेक कट्टर राष्ट्रवादी प्रेरित हुए, जिनमें एक मतान्ध सैन्य संगठन भी शामिल था, जो राजनीतिक हत्याओं की मुहिम के माध्यम से जापान की अनुदार राजनीतिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहता था। उन्होंने पूर्व वित्तमन्त्री, मित्सुई कॉपरिशन के महानिदेशक, और अन्ततः प्रधानमन्त्री इनुकाई सियोशी की हत्या कर दी। इस तरह उन लोगों ने सैन्य तानाशाही में जापान के रूपान्तरण की प्रक्रिया को गति दी। इसके बाद जब सेना ने युद्ध का आगाज़ किया, तो बौद्ध भिक्षुओं और ध्यान के ज़ेन गुरुओं ने राज्य सत्ता के प्रति निःस्वार्थ आज्ञापरायणता का उपदेश दिया और युद्ध के उद्यम की ख़ातिर आत्मबलिदान का परामर्श दिया। इसके विपरीत, करुणा और अहिंसा की बौद्ध शिक्षाओं को किसी तरह भुला दिया गया, और इन मूल्यों का नानजिंग, मनीला या सोल में जापानी सेनाओं पर कोई स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं दिया। आज बौद्ध म्यांमार का मानवाधिकार रिकॉर्ड दुनिया में सबसे ख़राब है, और एक बौद्ध भिक्षु अशिन विराथू देश के मुसलमान-विरोधी आन्दोलन का नेता है। उसका दावा है कि उसका एकमात्र ध्येय म्यांमार और बौद्ध धर्म की मुसलमानों के जिहादी षड्यन्त्रें से रक्षा करना है, लेकिन उसके धर्मोपदेश और लेख इतने भड़काऊ होते हैं कि फ़रवरी 2018 में फ़ेसबुक ने घृणा फैलाने वाले बयानों पर प्रतिबन्ध का हवाला देते हुए उसके पेज़ को हटा दिया था। 2017 में *गार्जियन* को दिए गए साक्षात्कार में उसने उड़ते हुए मच्छर के प्रति भी करुणा बरतने का उपदेश दिया था, लेकिन जब उसको इन आरोपों का सामना करना पड़ा कि म्यांमार की सेनाओं द्वारा मुसलमान स्त्रियों के साथ बलात्कार किए गए हैं, तो वह हँस पड़ा और बोला, "असम्भव। उनके शरीर बहुत घिनौने होते हैं।"

इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि जैसे ही 8 अरब मनुष्य नियमित रूप से ध्यान करने लग जाएँगे, तो सारी दुनिया में शान्ति और सार्वभौमिक समरसता स्थापित हो जाएगी। अपने बारे में सत्य को लक्ष्य करना बहुत मुश्किल है! अगर आप किसी तरह ज़्यादातर इंसानों को इसके लिए तैयार कर लें, तो भी हममें से बहुत-से लोग जल्दी ही इस सत्य को नायकों, खलनायकों और शत्रुओं से भरे किसी क़िस्से में विकृत कर देंगे, और युद्ध के लिए वाक़ई कोई अच्छा बहाना ढूँढ लेंगे।

वास्तविकता की परीक्षा

भले ही ये सारे बड़े क़िस्से हमारे दिमाग़ों द्वारा पैदा की गई कल्पनाएँ हों, तो भी हताश होने की कोई वज़ह नहीं है। वास्तविकता तब भी मौजूद है। आप किसी गढ़े हुए नाटक में कोई भूमिका नहीं सकते, लेकिन आप ऐसा करना ही क्यों चाहते हैं? मनुष्य के सामने जो बड़ा सवाल है, वह यह नहीं है कि "जीवन का अर्थ क्या है?" बल्कि यह है कि "दु:ख से छुटकारा कैसे पाया जाए?" जब आप सारे मनगढ़न्त क़िस्सों को त्याग देते हैं, तो आप वास्तविकता को पहले की तुलना में कहीं ज़्यादा स्पष्टता के साथ देख सकते हैं, और अगर आप वाक़ई अपनी और दुनिया की सच्चाई को जानते हैं, तो ऐसी कोई चीज़ नहीं जो आपको दु:खी कर सके, लेकिन यह कहना जितना आसान है, करना उतना ही कठिन है।

हम मनुष्यों ने काल्पनिक क़िस्सों को गढ़ने और उन पर विश्वास करने की अपनी क़ाबिलियत के बूते दुनिया को जीत लिया है। इसलिए हम विशेष रूप से कल्पना और वास्तविकता के बीच के फ़र्क़ को समझने के मामले में बुरे हैं। इस फ़र्क़ को नज़रअन्दाज़ करना हमारे लिए जीवित बने रहने का मसला रहा है। इसके बावजूद अगर आप इस फ़र्क़ को समझना चाहते हैं, तो इसकी शुरुआत दु:ख के स्थल से करने की ज़रूरत है, क्योंकि दु:ख दुनिया में सबसे ज़्यादा वास्तविक चीज़ है।

जब आपका सामना किसी महान क़िस्से से होता है, और आप जानना चाहते हैं कि यह क़िस्सा वास्तविक है या कल्पना की उपज है, तो जो मुख्य सवाल आपको पूछना चाहिए, वह यह है कि क्या इस क़िस्से का केन्द्रीय नायक दु:ख झेल सकता है। उदाहरण के लिए, अगर कोई आपको पोलिश राष्ट्र का क़िस्सा सुनाता है, तो पलभर ठहर कर सोचिए कि क्या पोलैंड दु:ख उठा सकता है। महान रोमांटिक कवि और आधुनिक पोलिश राष्ट्रवाद के जनक अदम मित्स्केविच का वह कथन प्रसिद्ध है, जिसमें उन्होंने पोलैंड को 'राष्ट्रों का ईसा' ('द क्राइस्ट ऑफ़ नेशन्स') कहा था। रूस, प्रशिया और ऑस्ट्रिया में पोलैंड के विभाजन के दशकों बाद, और 1830 में रूसियों द्वारा पोलिश विद्रोह के क्रूरतापूर्वक कुचले जाने के कुछ ही समय बाद, 1832 में लिखते हुए मित्स्केविच ने स्पष्ट किया था कि पोलैंड की भीषण यन्त्रणा समूची मानवता के पक्ष में दी गई क़ुर्बानी का नतीजा थी, जो ईसा की क़ुर्बानी जैसी थी, और ईसा की ही तरह पोलैंड भी पुनर्जीवित हो उठेगा।

अपने एक प्रसिद्ध अंश में मित्स्केविच ने लिखा था :

> पोलैंड ने (यूरोप के लोगों से) कहा था, "जो भी कोई मेरे पास आएगा, वह आज़ाद और बराबरी का हक़दार होगा, क्योंकि मैं स्वतन्त्रता हूँ।" लेकिन जब राजाओं ने इस बात को सुना, तो उनके दिल दहल गए, और उन्होंने पोलैंड को सूली पर लटका दिया और उसे उसकी क़ब्र में डाल दिया, यह चिल्लाते हुए कि

> “हमने स्वतन्त्रता का वध कर उसको दफ़ना दिया है।” लेकिन उनकी यह चीख़ मूर्खतापूर्ण थी...क्योंकि पोलिश राष्ट्र मरा नहीं था...। तीसरे दिन आत्मा काया में वापस लौट आएगी, और राष्ट्र उठ खड़ा होगा और यूरोप के सारे लोगों को ग़ुलामी से आज़ाद कर देगा।

क्या वाक़ई कोई राष्ट्र यातना भोग सकता है? क्या किसी राष्ट्र की आँखें, हाथ, इन्द्रियाँ, आसक्तियाँ और लालसाएँ होती हैं? अगर आप उसको काँटा चुभाएँ, तो क्या उसको ख़ून निकलेगा? ज़ाहिर है, नहीं। अगर वह युद्ध में पराजित होता है, उसमें कोई प्रान्त गँवा देता है, या अपनी स्वाधीनता भी खो बैठता है, तब भी वह पीड़ा, उदासी या किसी भी दूसरे तरह का दुःख महसूस नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी कोई काया, कोई दिमाग़ या किसी तरह के कोई जज़्बात नहीं होते। वास्तव में वह महज़ एक रूपक है। सिर्फ़ कुछ इंसानों की कल्पना में ही पोलैंड दुःख भोगने में सक्षम एक वास्तविक सत्ता है। पोलैंड बना रहता है, क्योंकि ये इंसान उसको अपनी कायाएँ उधार देते हैं - सिर्फ़ पोलैंड की फ़ौज में सैनिकों के रूप में काम करते हुए ही नहीं, बल्कि राष्ट्र के सुखों और दुःखों को रूपायित करते हुए। जब मई 1831 में ऑस्त्रेलेका की लड़ाई में पोलैंड की पराजय की ख़बर वारसा पहुँची, तो मनुष्यों के पेट क्लेश से ऐंठ गए, मनुष्यों की छातियाँ पीड़ा से भारी हो उठीं, मनुष्यों की आँखें छलछला उठीं।

निश्चय ही, यह सब रूसी आक्रमण को उचित नहीं ठहरा देता, न ही यह एक स्वाधीन राष्ट्र की स्थापना करने और अपने ख़ुद के क़ानूनों और रीति-रिवाजों का फ़ैसला करने के पोलैंडवासियों के हक़ को कमज़ोर करता है। तब भी इसका यह मतलब है कि अन्ततः पोलिश राष्ट्र का क़िस्सा यथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि पोलैंड का अस्तित्व-मात्र इंसानी दिमाग़ों में निर्मित छवियों पर टिका है।

इसके विपरीत, वारसा की उस स्त्री की नियति पर विचार करें, जिसको आक्रमणकारी रूसी फ़ौजों द्वारा लूटा गया था और जिसके साथ बलात्कार किया गया था। पोलिश राष्ट्र की रूपक यातना से भिन्न, उस स्त्री की यातना बहुत वास्तविक थी। यह पीड़ा शायद रूसी राष्ट्रवाद, परम्परावादी ईसाइयत, और मर्दाना शूरवीरता जैसे विभिन्न काल्पनिक क़िस्सों में इंसानी विश्वासों द्वारा पहुँचाई गई थी, जिन सबने बहुत-से रूसी राजपुरुषों और फ़ौजियों को प्रेरणा दी थी, लेकिन इससे पैदा हुई यातना तब भी 100 % वास्तविक थी।

जब भी कभी राजनेता रहस्यवादी पदावली में बात करने लगें, तो सावधान रहें। बहुत मुमकिन है कि वे वास्तविक पीड़ा को समझ से परे भारी-भरकम शब्दों में लपेटते हुए उसको छिपाने और उससे मुकरने की कोशिश कर रहे हों। इन चार शब्दों से विशेष रूप से सावधान रहें : क़ुर्बानी, शाश्वतता, पवित्रता, पुनः बहाली। अगर आप इनमें से कोई भी शब्द सुनें, तो चेतावनी की घण्टी बजाएँ। और अगर आप संयोग से किसी ऐसे मुल्क में रहते हों,

जिसका नेता नियमित रूप से इस तरह की बातें करता हो कि 'उनकी क़ुर्बानी हमारे शाश्वत राष्ट्र की पवित्रता को पुनः बहाल करेगी,' तो समझ लीजिए की आप भारी मुश्किल में हैं। अपने दिमाग़ी सन्तुलन की रक्षा के लिए हमेशा इस तरह की बकवास का वास्तविक पदावली में अनुवाद करने की कोशिश कीजिए : कोई सैनिक घोर पीड़ा से कराह रहा है, किसी स्त्री को पीटा जा रहा है और उसके साथ नृशंसता बरती जा रही है, कोई बच्चा भय से काँप रहा है।

इसलिए अगर आप सृष्टि का सत्य जानना चाहते हैं, जीवन का अर्थ जानना चाहते हैं, और अपनी पहचान के बारे में जानना चाहते हैं, तो इसकी शुरुआत करने के लिए श्रेष्ठ स्थान है दुःख को लक्ष्य करना और यह छानबीन करना है कि वह क्या है।

इसका जवाब कोई क़िस्सा नहीं है।

21

ध्यान

सिर्फ़ अवलोकन कीजिए

इतने सारे क़िस्सों, मज़हबों और विचारधाराओं की आलोचना करने के बाद उचित यही है कि मैं ख़ुद को भी आलोचना का विषय बनाऊँ, और यह स्पष्ट करूँ कि इस क़दर सन्देहों से भरे होने के बावजूद कोई व्यक्ति सुबह प्रफुल्लित चित्त के साथ कैसे जाग सकता है। मैं ऐसा करने से किसी हद तक तो आत्म-मुग्घता के भय से हिचकिचाता हूँ, और किसी हद तक इसलिए कि मैं यह ग़लतफ़हमी पैदा नहीं करना चाहता कि जो चीज़ मेरे लिए कारगर है, वह हर किसी के लिए कारगर होगी। मैं इस बात के प्रति बहुत सचेत हूँ कि मेरे जीन्स, स्नायुओं, निजी अतीत और धर्म की विचित्रताओं को हर कोई साझा नहीं करता, लेकिन यह अच्छा होगा कि पाठक कम-से-कम इस बात को जान लें कि वे कौन-से रंग हैं, जो मेरे उस चश्मे पर चढ़े हुए हैं, जिनकी मार्फ़त मैं दुनिया को देखता हूँ, और जो इस तरह मेरी नज़र और मेरे लेखन को विकृत करते हैं।

जब मैं किशोरावस्था में था, तो मैं एक अशान्त और बेचैन व्यक्ति हुआ करता था। मुझे दुनिया बेमानी लगती थी, और ज़िन्दगी को लेकर जो सवाल मेरे मन में उठते थे, उनके कोई जवाब मुझे नहीं सूझते थे। ख़ासतौर से, मुझे यह समझ में नहीं आता था कि दुनिया और ख़ुद मेरे जीवन में इतना ज़्यादा दुःख क्यों है, और इससे निजात पाने के लिए क्या किया जा सकता है। अपने आस-पास के लोगों और जो पुस्तकें मैंने पढ़ रखी थीं, उनसे मुझे सिर्फ़ विशाल गल्प (फ़िक्शन्स) ही हासिल हुए थे : देवताओं और स्वर्ग के बारे में मज़हबी मिथक, मातृभूमि और उसके ऐतिहासिक अभियानों के बारे में राष्ट्रवादी मिथक, प्रेम और साहसिक कारनामों के बारे में रोमानी मिथक या वे पूँजीवादी मिथक, जो आर्थिक वृद्धि के बारे में और इस बारे में प्रचलित हैं कि किस तरह चीज़ों को ख़रीदना और उनका

उपभोग करना मुझे सुखी बना देगा। मुझमें इस बात को समझने लायक़ पर्याप्त अक़्ल तो थी कि ये सम्भवतः सारे के सारे गल्प हैं, लेकिन सच्चाई को कैसे जाना जाए, इसका मुझे कोई इल्म नहीं था।

जब मैंने विश्वविद्यालय में पढ़ना शुरू किया, तो मुझे लगा कि यह जवाबों को पाने के लिए आदर्श जगह होगी, लेकिन मुझे निराशा ही हाथ लगी। वहाँ की अकादमिक दुनिया ने मुझे मनुष्य द्वारा तब तक रचे गए सारे मिथकों को विखण्डित (डिकॉन्स्ट्रक्ट) करने के लिए सशक्त औज़ार तो उपलब्ध कराए, लेकिन उसने जीवन के बड़े सवालों के सन्तोषजनक जवाब उपलब्ध नहीं कराए। इसके विपरीत, इसने मुझे उत्तरोत्तर संकुचित सवालों पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए ही प्रोत्साहित किया। अन्ततः मैंने स्वयं को यूनिवर्सिटी ऑफ़ ऑक्सफ़ोर्ड में मध्ययुगीन सैनिकों के आत्मकथात्मक मज़मूनों के बारे में शोध-प्रबन्ध लिखते हुए पाया। इस काम के अलावा अतिरिक्त रुचि के तौर पर मैंने दर्शन की ढेरों पुस्तकें पढ़ना और ढेरों दार्शनिक बहसों में भाग लेना जारी रखा, लेकिन इस चीज़ ने हालाँकि मुझे अन्तहीन बौद्धिक मनोरंजन तो उपलब्ध कराया, लेकिन इससे मुझे कोई अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकी। यह बेहद हताश करने वाली बात थी।

अन्ततः मेरे बहुत अच्छे दोस्त रोन ने मुझे सुझाव दिया कि कम-से-कम कुछ दिनों के लिए मुझे सारी पुस्तकें और बौद्धिक चर्चाएँ एक तरफ़ रखकर विपश्यना ध्यान का पाठ्यक्रम आज़माकर देखना चाहिए। (प्राचीन भारत की पाली भाषा में 'विपश्यना ' का अर्थ होता है 'अन्तरावलोकन'।) मुझे लगा कि यह नए युग की कोई बकवास है, और चूँकि एक और मिथक-विद्या को सुनने में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं रह गई थी, इसलिए मैंने उस पाठ्यक्रम में जाने से मना कर दिया, लेकिन मेरा वह दोस्त पूरे सालभर तक धीरज के साथ मुझे उस ओर धकियाता रहा, जिसके नतीजे में वह आख़िरकार अप्रैल 2000 में मुझे दस दिन के एक विपश्यना केन्द्र में भेजने में कामयाब रहा।

इसके पहले तक मैं ध्यान के बारे में बहुत कम जानता था, और मानकर चलता था कि इसमें तमाम तरह के पेचीदा रहस्यवादी सिद्धान्त निहित होंगे। इसलिए उस प्रशिक्षण की व्यावहारिकता को देखकर मैं चकित रह गया। उस पाठ्यक्रम के संचालक अध्यापक एस. एन. गोयनका ने विद्यार्थियों को पालथी मारकर और आँखें बन्द कर बैठने और अपना पूरा ध्यान नाक से आती-जाती साँसों पर एकाग्र करने का निर्देश दिया। 'और कुछ भी मत करो,' वे लगातार कहते रहते, 'अपनी साँस को नियन्त्रित करने या किसी ख़ास ढंग से साँस लेने की कोशिश मत करो। सिर्फ़ वर्तमान क्षण की वास्तविकता पर ध्यान दो, वह वास्तविकता जो भी हो। जब साँस अन्दर आ रही हो, तो तुम्हें सिर्फ़ इस बारे में सचेत रहना है कि साँस अन्दर आ रही है। जब साँस बाहर निकल रही हो, तो तुम्हें सिर्फ़ इस बारे में सचेत रहना है कि अब साँस बाहर जा रही है।' यह वह सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी, जो किसी ने मुझसे पहली बार कही थी।

जब लोग जीवन के बारे में बड़े सवाल पूछते हैं, तो आमतौर से यह जानने में उनकी क़तई कोई दिलचस्पी नहीं होती कि कब उनकी साँस उनकी नाक के अन्दर आ रही है और कब वह बाहर जा रही है। इसकी बजाय, वे इस तरह की चीज़ें जानना चाहते हैं कि मरने के बाद क्या होता है, लेकिन जीवन की असली पहेली यह नहीं है कि आपके मरने के बाद क्या होता है, असल पहेली यह है कि आपके मरने के पहले क्या होता है। अगर आप मृत्यु को समझना चाहते हैं, तो आपको जीवन को समझना ज़रूरी है।

लोग पूछते हैं, "जब मैं मर जाऊँगा, तो क्या मैं पूरी तरह से मिट जाऊँगा? क्या मैं स्वर्ग जाऊँगा? क्या एक नई काया के साथ मेरा पुनर्जन्म होगा?" ये सवाल इस मान्यता पर आधारित हैं कि कोई एक ऐसा 'मैं' है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक जस-का-तस बना रहता है, और सवाल यह है कि 'मरने पर इस 'मैं' का क्या होगा?' लेकिन ऐसा क्या है, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक जस-का-तस बना रहता हो? काया हर पल बदलती रहती है, मस्तिष्क हर पल बदलता रहता है, दिमाग़ हर पल बदलता रहता है। आप ख़ुद को जितना ही ज़्यादा क़रीब से देखते हैं, उतनी ही यह बात ज़ाहिर होती जाती है कि ऐसा कुछ भी नहीं है, जो एक पल से दूसरे पल तक भी जस-का-तस बना रहता हो। तब फिर वह क्या चीज़ है, जो एक समूचे जीवन को बाँधे रखती है? अगर आप इस सवाल का जवाब नहीं जानते, तो आप जीवन को नहीं समझते, और निश्चय ही इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि आप मृत्यु को समझ पाएँगे। और अगर कभी आपको यह पता चल जाता है कि वह क्या चीज़ है, जो जीवन को बाँधे रखती है, तो मृत्यु के महान प्रश्न का जवाब भी स्पष्ट हो जाएगा।

लोग कहते हैं, "आत्मा जन्म से मृत्यु तक जस-की-तस बनी रहती है और इस तरह वही जीवन को बाँधे रखती है", लेकिन यह महज़ एक क़िस्सा है। क्या आपने कभी आत्मा का अवलोकन किया है? आप इसकी छानबीन सिर्फ़ मृत्यु के क्षण में ही नहीं, बल्कि किसी भी क्षण कर सकते हैं। अगर आप इस बात को समझ सकते हैं कि जब एक पल समाप्त होता है और दूसरा पल शुरू होता है, तब आपके साथ क्या घटित होता है, तो आप इस बात को भी समझ लेंगे कि मृत्यु के क्षण में आपके साथ क्या होगा। अगर आप स्वयं का सचमुच एक साँस के आने-जाने के दौरान अवलोकन कर सकें, तो आपको यह सब कुछ समझ में आ जाएगा।

अपनी साँस पर ध्यान एकाग्र करने की प्रक्रिया में जो पहली चीज़ मैंने सीखी, वह यह थी कि जो सारी पुस्तकें मैंने पढ़ रखी थीं और विश्वविद्यालय की जिन तमाम कक्षाओं में मैं शामिल रहा था, उन सबके बावजूद मैं अपने दिमाग़ के बारे में लगभग कुछ भी नहीं जानता था, और उस पर मेरा बहुत कम नियन्त्रण था। अपनी श्रेष्ठतम कोशिशों के बावजूद, मैं अपनी नाक से आती-जाती साँसों को दस सेकेंड से ज़्यादा देर तक लक्ष्य नहीं कर सका और मेरा दिमाग़ भटकने लगा। मैं वर्षों से यह मानकर चलता आ रहा था कि मैं अपने जीवन का मालिक, और अपने निजी ब्रांड का सीईओ था, लेकिन ध्यान के वे कुछ

क्षण ही मुझे यह बताने के लिए पर्याप्त थे कि अपने ऊपर मेरा शायद ही कोई नियन्त्रण था। मैं सीईओ तो नहीं ही था। मैं ठीक से एक चौकीदार भी नहीं था। मुझसे मेरी काया के द्वार यानी नथुनों पर खड़े रहने और उस द्वार से जो कुछ भी आता-जाता है, उस पर नज़र रखने के लिए कहा गया था, लेकिन कुछ ही पलों के बाद मेरा ध्यान भटक गया और मैंने अपनी चौकी को त्याग दिया। यह एक आँखें खोल देने वाला अनुभव था।

जैसे-जैसे वह पाठ्यक्रम आगे बढ़ता गया, साधकों को न सिर्फ़ उनकी साँसों पर, बल्कि उनकी समूची काया की अनुभूतियों पर भी ध्यान एकाग्र करना सिखाया गया। परम आनन्द और आह्लाद की विशेष अनुभूतियों पर नहीं, बल्कि अत्यन्त सांसारिक और साधारण अनुभूतियों पर : गर्मी, दबाव, दर्द आदि। विपश्यना की तकनीक इस अन्तर्दृष्टि पर आधारित है कि दिमाग़ का प्रवाह शारीरिक अनुभूतियों से बहुत निकट रूप से जुड़ा हुआ है। मेरे और दुनिया के बीच हमेशा शारीरिक अनुभूतियाँ होती हैं। मैं बाहर की दुनिया की घटनाओं पर कभी प्रतिक्रिया नहीं करता। मैं हमेशा अपनी ही काया की अनुभूतियों पर प्रतिक्रिया करता हूँ। जब अनुभूति अप्रिय होती है, तो मैं प्रतिक्रिया करते हुए विमुख होता हूँ। जब अनुभूति सुखद होती है, तो मैं प्रतिक्रिया में वैसी ही और अधिक अनुभूति की लालसा करता हूँ। यहाँ तक कि जब हम सोचते हैं कि हमने किसी अन्य व्यक्ति के किए, जैसे राष्ट्रपति ट्रम्प के ताज़ा ट्वीट, या अपने बचपन की किसी सुदूर स्मृति पर प्रतिक्रिया की होती है, तब भी सच्चाई यह है कि हम अपनी मौजूदा दैहिक अनुभूतियों पर प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं। अगर हम इस बात पर रुष्ट होते हैं कि किसी व्यक्ति ने हमारे राष्ट्र या हमारे देवता का अपमान किया है, तो उस अपमान को असहनीय बनाने वाली चीज़ हमारे पेट के निचले हिस्से में सुलगती अनुभूति और हमारे हृदय को जकड़ लेने वाली पीड़ा की तरंग होती है। हमारा राष्ट्र कुछ भी महसूस नहीं करता, लेकिन हमारी काया को सचमुच आघात पहुँचता है।

आप जानना चाहते हैं कि क्रोध क्या है? ठीक है, ज़रा उन अनुभूतियों पर ध्यान दीजिए, जो क्रोध के क्षणों में आपके शरीर में उत्पन्न और सक्रिय होती हैं। जब मैं इस केन्द्र में गया था, तब मैं चौबीस साल का था, और उसके पहले मैं शायद 10,000 बार क्रोध को अनुभव कर चुका था, लेकिन मैंने यह जानने की परवाह कभी नहीं की थी कि क्रोध वास्तव में महसूस कैसे होता है। जब कभी मैं क्रोधित होता था, तो मैं अपना ध्यान क्रोध की ऐन्द्रिय वास्तविकता की बजाय अपने क्रोध के विषय पर केन्द्रित करता था। उस चीज़ पर जो किसी ने की या कही होती थी।

मैं समझता हूँ कि मैंने उन दस दिनों में अपनी अनुभूतियों को लक्ष्य करते हुए अपने बारे में और मनुष्य-मात्र के बारे में जितना सीखा, उतना तब तक के अपने पूरे जीवन में नहीं सीखा था। और वह सीखने के लिए मुझे किसी क़िस्से, सिद्धान्त, या मिथकों को स्वीकार नहीं करना पड़ा। मुझे महज़ यथार्थ को उसके मूल रूप में लक्ष्य करना पड़ा। जिस

सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ का मुझे अहसास हुआ, वह यह थी कि मेरे दुःख का सबसे गहरा स्रोत मेरे अपने दिमाग़ की बनावट में है। जब मैं कुछ चाहता हूँ और वह नहीं होता, तो मेरा दिमाग़ प्रतिक्रिया में दुःख को जन्म देता है। दुःख बाहरी दुनिया में स्थित कोई वस्तुनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) परिस्थिति नहीं है। दुःख मेरे अपने दिमाग़ द्वारा उत्पन्न की गई मानसिक प्रतिक्रिया है। इस बात को जान लेना अधिक दुःख पैदा होने से रोकने की दिशा में पहला क़दम है।

2000 के उस पहले कोर्स के बाद से मैंने हर दिन दो घण्टे ध्यान करना शुरू कर दिया, और हर साल मैं एक या दो महीने ध्यान के लिए केन्द्र में जाता हूँ। यह वास्तविकता से पलायन नहीं है। मैं हर दिन कम-से-कम दो घण्टे वास्तविकता को उसके मूल रूप में लक्ष्य करता हूँ, वहीं बाक़ी बाइस घण्टे मैं ई-मेलों, ट्वीटों और क्यूट-पपी वीडियो में डूबा रहता हूँ। इस अभ्यास से मिलने वाली एकाग्रता और स्पष्टता के बिना मैं *सेपियन्स* और *होमो डेयस* न लिख सका होता।

मैं निश्चय ही ऐसा नहीं सोचता कि ध्यान दुनिया की सारी समस्याओं का जादुई समाधान है। दुनिया को बदलने के लिए आपको कर्म करने की ज़रूरत होती है, और इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि आपको संगठित होने की ज़रूरत होती है। 500 व्यक्ति अलग-थलग सक्रिय रहते हुए जितना कुछ काम सकते हैं, उससे कहीं ज़्यादा किसी संगठन में मिल-जुलकर काम करने वाले पचास लोग कर सकते हैं। अगर आप वाक़ई किसी चीज़ की परवाह करते हैं, तो किसी उपयुक्त संगठन में शामिल हो जाइए। यह काम इसी हफ़्ते कर डालिए।

लेकिन कर्म करना और प्रभावशाली ढंग से सहयोग करना तब ज़्यादा आसान होता है, जब आप मनुष्य के दिमाग़ को समझें, अपने ख़ुद के दिमाग़ को समझें, और इस बात को समझें कि अपने अन्दर के डरों, पूर्वाग्रहों और ग्रन्थियों से किस तरह निपटा जाए। ध्यान यह सब करने के लिए एकमात्र विधि क़तई नहीं है। कुछ लोगों के लिए मानसिक उपचार, कला या खेल ज़्यादा कारगर हो सकते हैं। इंसानी दिमाग़ के रहस्यों से सरोकार रखते समय ध्यान को हमें एक रामबाण की तरह नहीं देखना चाहिए, बल्कि वैज्ञानिक औज़ारों के बक्से के एक अतिरिक्त औज़ार की तरह देखना चाहिए।

दोनों छोरों से खुदाई

विज्ञान के लिए दिमाग़ के रहस्यों को सुलझाने में व्यापक तौर पर इसलिए कठिनाई पैदा होती है, क्योंकि हमारे पास कारगर औज़ारों की कमी है। बहुत-से लोग, जिनमें बहुत-से वैज्ञानिक शामिल हैं, दिमाग़ को मस्तिष्क से भ्रमित करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, लेकिन ये

दोनों वास्तव में बहुत अलग-अलग चीज़ें हैं। मस्तिष्क स्नायुओं, सिनेप्सों और जैवरसायनों का भौतिक ताना-बाना है। दिमाग़ पीड़ा, आनन्द, क्रोध और प्रेम जैसे व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) अनुभवों का प्रवाह है। जीवविज्ञानी मानकर चलते हैं कि मस्तिष्क किसी रूप में दिमाग़ को उत्पन्न करता है, और अरबों स्नायुओं में होने वाली जैवरासायनिक प्रतिक्रियाएँ पीड़ा और प्रेम जैसे अनुभवों को उत्पन्न करती हैं। लेकिन, अब तक हमारे पास इस सवाल का क़तई कोई समाधान नहीं है कि दिमाग़ किस तरह मस्तिष्क से उत्पन्न होता है। ऐसा क्यों है कि जब अरबों स्नायु एक ख़ास ढंग से विद्युत संकेतों की बौछार कर रहे होते हैं, तो मैं पीड़ा का अनुभव करता हूँ, और जब स्नायु अलग ढंग से यही बौछार कर रहे होते हैं, तो मैं प्रेम का अनुभव करता हूँ? हमारे पास इसका सुराग़ नहीं है। इसलिए अगर दिमाग़ मस्तिष्क से उत्पन्न भी होता है, तो भी कम-से-कम अब तक दिमाग़ का अध्ययन मस्तिष्क के अध्ययन से भिन्न उपक्रम है।

सूक्ष्मदर्शियों, मस्तिष्क स्कैनरों और शक्तिशाली कम्प्यूटरों की मदद के चलते मस्तिष्क सम्बन्धी अनुसन्धान बहुत तेज़ी के साथ प्रगति कर रहा है, लेकिन हम दिमाग़ को किसी सूक्ष्मदर्शी या मस्तिष्क स्कैनर में नहीं देख सकते। ये उपकरण हमें मस्तिष्क की जैवरासायनिक और विद्युत गतिविधियों को पहचानने में तो सक्षम बना सकते हैं, लेकिन इन गतिविधियों से जुड़े व्यक्तिनिष्ठ अनुभवों तक हमारी पहुँच मुमकिन नहीं बनाते। अभी 2018 तक, जिस एकमात्र दिमाग़ तक मैं अपनी पहुँच बना सकता हूँ, वह मेरा अपना दिमाग़ है। अगर मैं जानना चाहता हूँ कि दूसरे चेतन प्राणी क्या अनुभव कर रहे हैं, तो यह मैं दूसरे के बयानों के आधार पर ही जान सकता हूँ, जो स्वाभाविक ही अनेक विकृतियों और सीमाओं से ग्रस्त होते हैं।

बेशक, हम विभिन्न लोगों से ऐसे बहुत-से बयान एकत्र कर सकते हैं, और पुनरावर्ती सिलसिलों की शिनाख़्त करने के लिए आँकड़ों का इस्तेमाल कर सकते हैं। इस तरह की पद्धतियों ने मनोवैज्ञानिकों और मस्तिष्क-विज्ञानियों को दिमाग़ की न सिर्फ़ ज़्यादा बेहतर समझ हासिल करने, बल्कि लाखों लोगों के जीवन को चंगा करने और उनको बचाने तक में सक्षम बनाया है, लेकिन, सिर्फ़ दूसरे लोगों के बयानों का इस्तेमाल करते हुए एक निश्चित मक़ाम से आगे जाना मुश्किल है। विज्ञान में, जब आप किसी ख़ास तथ्य की पड़ताल करते हैं, तो उसको प्रत्यक्ष घटित होते देखना सबसे अच्छा होता है। उदाहरण के लिए मानवविज्ञानी परोक्ष स्रोतों का व्यापक इस्तेमाल करते हैं, लेकिन अगर आप सचमुच ही समोआई संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो आगे-पीछे आपको अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर समोआ की यात्रा पर जाना ही होगा।

निश्चय ही सिर्फ़ यात्रा काफ़ी नहीं है। पीठ पर थैला लटकाकर समोआ घूम आने वाले द्वारा लिखे गए ब्लॉग को मानववैज्ञानिक अध्ययन नहीं माना जाएगा, क्योंकि इस तरह थैला लटकाकर घूमने वाले बहुत-से लोगों में प्रशिक्षण और आवश्यक औज़ारों का अभाव

होता है। उनके पर्यवेक्षण बहुत बेतरतीब और पूर्वाग्रहों से युक्त होते हैं। एक विश्वसनीय मानवविज्ञानी होने के लिए हमें यह सीखना अनिवार्य है कि मानवीय संस्कृतियों का पूर्वधारणाओं तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त, सुव्यवस्थित और वस्तुनिष्ठ ढंग से पर्यवेक्षण कैसे किया जाए। मानवविज्ञान विभाग में आप इसी का अध्ययन करते हैं, और यही वह चीज़ है, जिसने मानवविज्ञानियों को विभिन्न संस्कृतियों के बीच के अन्तरालों को पाटने में सक्षम बनाया।

दिमाग़ का वैज्ञानिक अध्ययन इस मानववैज्ञानिक आदर्श का अनुसरण बहुत कम करता है। जहाँ मानवविज्ञानी सुदूर द्वीपों और रहस्यमय देशों की अपनी यात्राओं का अक्सर विवरण देते हैं, वहीं चेतना के अध्येता दिमाग़ के इलाक़ों की ऐसी निजी यात्राएँ बहुत कम करते हैं, क्योंकि जिस दिमाग़ को मैं प्रत्यक्ष तौर पर लक्ष्य कर सकता हूँ, वह मेरा अपना होता है, और समोआई संस्कृति को पक्षपातों और पूर्वाग्रहों के बिना लक्ष्य करना कितना ही मुश्किल क्यों न हो, मेरे अपने दिमाग़ को वस्तुनिष्ठ ढंग से लक्ष्य करना और भी कठिन है। एक सदी से भी ज़्यादा समय की कड़ी मेहनत के बाद मावनविज्ञानियों के पास आज वस्तुनिष्ठ पर्यवेक्षण की ऐसी सशक्त पद्धतियाँ हैं, जिनका इस्तेमाल वे कर सकते हैं। इसके विपरीत, भले ही दिमाग़ के अध्येताओं ने दूसरों के बयानों को एकत्र करने और उनका विश्लेषण करने के लिए बहुत-से औज़ार विकसित किए, लेकिन जब हमारे अपने दिमाग़ों के पर्यवेक्षण का मसला सामने आता है, तो पता चलता है कि हम सतह को भी नहीं कुरेद सके हैं।

दिमाग़ के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण की आधुनिक पद्धतियों के अभाव में, हम पूर्वआधुनिक संस्कृतियों द्वारा विकसित कुछ औज़ारों को आज़मा सकते हैं। बहुत-सी प्राचीन संस्कृतियों ने दिमाग़ के अध्ययन पर बहुत ध्यान दिया था, और उन्होंने दूसरों के बयानों को एकत्र करने पर भरोसा नहीं किया था, बल्कि उन्होंने लोगों को अपने दिमाग़ की गतिविधियों को व्यवस्थित ढंग से लक्ष्य करने के लिए प्रशिक्षित किया था। उनके द्वारा विकसित इन पद्धतियों को 'ध्यान' नामक सामान्य संज्ञा के अन्तर्गत समेटा गया है। आज इस पद को अक्सर मज़हब और रहस्यवाद से जोड़कर देखा जाता है, लेकिन सिद्धान्ततः ध्यान अपने दिमाग़ के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण की कोई भी विधि हो सकती है। बहुत-से मज़हबों ने सचमुच ही ध्यान की विभिन्न तकनीकों का व्यापक इस्तेमाल किया है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि ध्यान अनिवार्यतः मज़हबी चीज़ है। बहुत-से मज़हबों ने ग्रन्थों का भी व्यापक इस्तेमाल किया है, तब भी इसका यह मतलब नहीं है कि ग्रन्थों का इस्तेमाल करना कोई मज़हबी दस्तूर है।

सहस्राब्दियों के दौरान मनुष्यों ने ध्यान की सैकड़ों तकनीकों को विकसित किया है, जो अपने सिद्धान्तों और प्रभाव पैदा करने के मामले में बिल्कुल अलग-अलग हैं। मुझे सिर्फ़ एक ही तकनीक विपश्यना का निजी अनुभव है, इसलिए मैं इसी के बारे में

प्रामाणिक ढंग से बात कर सकता हूँ। ध्यान की दूसरी अनेक तकनीकों की ही तरह विपश्यना के बारे में कहा जाता है कि इसकी खोज प्राचीन भारत में बुद्ध द्वारा की गई थी। सदियों के दौरान बुद्ध के नाम से अनेक सिद्धान्त और कथाएँ जानी जाती रही हैं, जिनके पक्ष में अक्सर कोई साक्ष्य नहीं रहे हैं, लेकिन ध्यान के लिए आपको इनमें से किसी पर भी विश्वास करने की ज़रूरत नहीं है। जिन गुरु गोयनका से मैंने विपश्यना की शिक्षा ली है, वे बहुत ही व्यावहारिक क़िस्म के मार्गदर्शक थे। वे शिष्यों को बार-बार यह निर्देश देते थे कि जब भी वे दिमाग़ को लक्ष्य कर रहे हों, तो उनको तमाम परोक्ष व्याख्याओं, धार्मिक मतों और दार्शनिक अटकलों को एक तरफ़ रख देना चाहिए, और अपने निजी अनुभव तथा जिस किसी भी वास्तविकता से उनका सचमुच सामना हो रहा हो, उस पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। हर दिन बहुत-से शिष्य उनका मार्गदर्शन हासिल करने और उनसे सवाल पूछने उनके कमरे में आते थे। उस दरवाज़े पर लगी पट्टी पर लिखा हुआ था : “कृपया सैद्धान्तिक और दार्शनिक बहसों से बचें, और अपने प्रश्नों को आपके वास्तविक अभ्यास से ताल्लुक़ रखने वाले मसलों पर ही केन्द्रित रखें।”

वास्तविक अभ्यास का मतलब है शारीरिक अनुभूतियों और इन अनुभूतियों की दिमाग़ी प्रतिक्रियाओं को व्यवस्थित, निरन्तर और वस्तुनिष्ठ ढंग से लक्ष्य करना, और इस तरह दिमाग़ की गतिविधियों के बुनियादी ढंग को उजागर करना। लोग कभी-कभी ध्यान को परम आनन्द और आह्लाद की खोज में बदल लेते हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि चेतना सृष्टि का महानतम रहस्य है, और गर्मी या खुजलाहट की नितान्त तुच्छ अनुभूतियाँ उतनी ही रहस्यमय हैं, जितनी परमानन्द या ब्रह्माण्डीय अद्वैत की अनुभूतियाँ हैं। विपश्यना का ध्यान करने वालों को चेतावनी दी जाती है कि वे कभी भी विशेष अनुभवों की खोज में न निकलें, बल्कि अपने दिमाग़ की वास्तविकता को समझने पर ध्यान केन्द्रित करें, फिर वह वास्तविकता चाहे जो भी हो।

हाल के वर्षों में दिमाग़ और मस्तिष्क, दोनों के ही अध्येताओं ने इस तरह की ध्यान तकनीकों में उत्तरोत्तर दिलचस्पी दिखाई है, लेकिन अधिकांश अध्येताओं ने इस उपकरण का इस्तेमाल सिर्फ़ परोक्ष ढंग से ही किया है। एक सामान्य वैज्ञानिक दरअसल ध्यान का अभ्यास स्वयं नहीं करती। इसकी बजाय, वह अनुभवी ध्यानकर्ताओं को अपनी प्रयोगशाला में आमन्त्रित करती है, उनके सिरों को इलेक्ट्रोडों से ढँक देती है, उनसे ध्यान करने को कहती है, और उसके परिणामस्वरूप होने वाली मस्तिष्क की गतिविधियों को लक्ष्य करती है। यह चीज़ हमें मस्तिष्क के बारे में बहुत-सी दिलचस्प चीजें सिखा सकती है, लेकिन अगर उद्देश्य दिमाग़ को समझने का है, तो हम कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टियों से वंचित हो रहे हैं। यह कुछ-कुछ उस व्यक्ति की तरह है, जो आवर्धक लैंस की मदद से पत्थर को देखते हुए पदार्थ की संरचना को समझने की कोशिश करता है। आप इस व्यक्ति के पास जाएँ, उसको माइक्रोस्कोप थमाएँ, और कहें, “इसको आज़माकर

देखिए। आप शायद ज़्यादा बेहतर देख सकें।" वह माइक्रोस्कोप लेता है, अपना विश्वसनीय आवर्धक लैंस उठाता है, और उस आवर्धक लैंस की मार्फ़त सावधानी के साथ उस पदार्थ को देखता है, जिससे माइक्रोस्कोप बना है...। ध्यान दिमाग़ के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण का एक उपकरण है। आप इसमें निहित ज़्यादातर सम्भावनाओं से वंचित रह जाएँगे, अगर आप स्वयं ध्यान करने की बजाय किसी अन्य ध्यानकर्ता के मस्तिष्क की विद्युतीय गतिविधियों का निरीक्षण करेंगे।

मैं निश्चय ही मस्तिष्क के अनुसन्धान के मौजूदा उपकरणों और प्रयोगों को त्याग देने की सलाह नहीं दे रहा हूँ। ध्यान उनकी जगह नहीं लेता, लेकिन यह उनके पूरक की भूमिका निभा सकता है। ये कुछ-कुछ इंजीनियरों द्वारा एक विशाल पर्वत को खोदकर उसमें सुरंग बनाने जैसा है। एक ही तरफ़ से खुदाई क्यों की जाए? क्यों न एक साथ दोनों छोरों से खोदा जाए? अगर मस्तिष्क और दिमाग़ वाक़ई एक और समान हैं, तो दोनों ओर से खोदी जा रही सुरंगें अवश्य मिल जाएँगी। और अगर मस्तिष्क और दिमाग़ एक ही नहीं हैं? तब यह और भी महत्त्वपूर्ण है कि दिमाग़ में खुदाई की जाए, सिर्फ़ मस्तिष्क में नहीं।

कुछ विश्वविद्यालयों और प्रयोगशालाओं ने सचमुच ही ध्यान को महज़ मस्तिष्क के अध्ययन के उद्देश्य की बजाय अनुसन्धान के एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है, लेकिन यह प्रक्रिया अभी भी अपनी शैशवावस्था में है, आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि यह अध्येताओं के पक्ष से असाधारण निवेश की माँग करती है। गम्भीर ध्यान बहुत अधिक अनुशासन की माँग करता है। अगर आप वस्तुनिष्ठ ढंग से अपनी अनुभूतियों का पर्यवेक्षण करने की कोशिश करते हैं, तो जो पहली चीज़ आप लक्ष्य करेंगे, वह यह है कि दिमाग़ किस क़दर बेक़ाबू और अधीर होता है। अगर आप अपनी नाक से आती-जाती साँसों जैसी एक अपेक्षाकृत सुस्पष्ट अनुभूति को लक्ष्य करने पर भी ध्यान केन्द्रित करते हैं, तो आपका दिमाग़ यह काम आमतौर से कुछ पलों से ज़्यादा नहीं कर सकता और वह अपनी एकाग्रता खोकर विचारों, स्मृतियों और सपनों में भटकना शुरू कर देता है।

जब कोई माइक्रोस्कोप अपना फ़ोकस खो देता है, तो हमें सिर्फ़ उसके छोटे हैंडिल को घुमाने भर की ज़रूरत होती है। अगर हैंडल टूटा हो, तो हम तकनीशियन को बुलाकर उसको ठीक करा सकते हैं, लेकिन जब दिमाग़ अपनी एकाग्रता खो देता है, तो हम उसे इतनी आसानी से ठीक नहीं कर सकते। मस्तिष्क इतना शान्त और एकाग्र हो सके कि वह सुव्यवस्थित और वस्तुपरक ढंग से अपना पर्यवेक्षण शुरू कर सके, इसके लिए आमतौर से बहुत ज़्यादा प्रशिक्षण की ज़रूरत होती है। शायद भविष्य में हम जल्दी से गोली निगलकर तत्काल एकाग्रता हासिल कर सकें, लेकिन चूँकि ध्यान का लक्ष्य दिमाग़ पर एकाग्र होने की बजाय उसकी छानबीन करना है, इसलिए इस तरह के सुविधाजनक तरीक़े विपरीत प्रभाव पैदा करने वाले हो सकते हैं। गोली हमें बहुत चौकन्ना और एकाग्र तो बना सकती है,

लेकिन इसी के साथ-साथ वह हमें दिमाग़ के समूचे परिदृश्य की छानबीन करने से रोक भी सकती है। आख़िरकार, हम आज भी टीवी पर एक अच्छी रोमांचक फ़िल्म देखकर अपने दिमाग़ को आसानी से एकाग्र कर सकते हैं, लेकिन उस दशा में दिमाग़ फ़िल्म पर इस क़दर एकाग्र होता है कि वह अपनी ख़ुद की गतिशीलता को लक्ष्य नहीं कर सकता।

लेकिन अगर हम इस तरह की प्रौद्योगिक युक्तियों पर भरोसा न भी कर सकते हों, तब भी हमें हार नहीं मान लेनी चाहिए। हम मानवविज्ञानियों, प्राणीविज्ञानियों और अन्तरिक्ष-यात्रियों से प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। मानवविज्ञानी और प्राणीविज्ञानी अन्तहीन बीमारियों और ख़तरों का सामना करते हुए सुदूर द्वीपों पर सालों गुज़ारते हैं। अन्तरिक्षयात्री सालों मुश्किल प्रशिक्षण के दौर से गुज़रते हुए बाहरी स्पेस की ख़तरनाक यात्राओं की तैयारी करते हैं। अगर हम विजातीय संस्कृतियों, अज्ञात प्रजातियों और सुदूर ग्रहों को समझने के लिए इस तरह के उद्यम करने को तैयार होते हैं, तो अपने ख़ुद के दिमाग़ को समझने के लिए उतना ही कठोर श्रम भी करने योग्य हैं। और बेहतर होगा कि इसके पहले कि ऐल्गरिदम हमारे दिमाग़ों की जगह ले लें, हम अपने दिमाग़ों को समझ लें।

आत्मावलोकन कभी भी आसान नहीं रहा है, लेकिन यह समय बीतने के साथ और भी कठिन हो सकता है। जैसे-जैसे इतिहास उजागर होता गया, वैसे-वैसे मनुष्य अपने बारे में पेचीदा क़िस्से गढ़ते गए, जिन्होंने इस बात को समझना उत्तरोत्तर मुश्किल बना दिया कि हम वास्तव में क्या हैं। इन क़िस्सों का उद्देश्य बड़ी संख्या में लोगों को संगठित करना, शक्ति संचित करना, और सामंजस्य बनाए रखना था। वे अरबों भूखे लोगों का पेट भरने और इस बात को सुनिश्चित करने के सन्दर्भ में अनिवार्य थे कि वे लोग एक-दूसरे का गला न काटते। जब लोग ख़ुद का पर्यवेक्षण करने की कोशिश करते थे, तो उनको आमतौर पर जो हाथ लगता था, वे ये तैयार-शुदा क़िस्से ही होते थे। खुली छानबीन बहुत ख़तरनाक होती थी। वह सामाजिक व्यवस्था की बुनियादों को खोखला करने का ख़तरा पैदा करती थी।

जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी उन्नत होती गई, तो दो घटनाएँ हुईं। पहली यह कि जैसे-जैसे चकमक पत्थर से बने चाकू धीरे-धीरे विकसित होते हुए परमाणु प्रक्षेपास्त्रों में बदलते गए, वैसे-वैसे सामाजिक व्यवस्था का अस्थिर होना और भी ख़तरनाक होता गया। दूसरी यह कि जैसे-जैसे गुफ़ा चित्र धीरे-धीरे टेलीविज़न प्रसारणों के रूप में विकसित होते गए, वैसे-वैसे लोगों को छलना आसान होता गया। निकट भविष्य में, ऐल्गरिदम इस प्रक्रिया को उसकी पूर्णाहुति तक पहुँचाते हुए लोगों के लिए उनकी अपनी वास्तविकता को लक्ष्य करना लगभग असम्भव बना देंगे। ये ऐल्गरिदम होंगे, जो हमारे लिए यह तय करेंगे कि हम कौन हैं और हमें अपने बारे में क्या जानना चाहिए।

कुछ वर्षों या दशकों तक हमारे पास अभी भी विकल्प हैं। अगर हम कोशिश करें, तो हम अभी भी इस बात की पड़ताल कर सकते हैं कि हम वास्तव में कौन हैं, लेकिन अगर

हम इस अवसर का लाभ उठाना चाहते हैं, बेहतर होगा कि हम यह अभी करें।

आभार

मैं उन सभी लोगों का शुक्रिया अदा करना चाहूँगा, जिन्होंने लिखने में - और ग़ैर ज़रूरी बातें हटाने में भी मेरी मदद की :

यूनाइटेड किंगडम के पेंगुइन रेंडम हाउस की मेरी प्रकाशक मिचेल शावित का, जिन्होंने सबसे पहले इस पुस्तक का विचार सामने रखा, और जिन्होंने इसके लिखने की लम्बी प्रक्रिया के दौरान मेरा मार्गदर्शन किया, और पेंगुइन रेंडम हाउस की पूरी टीम का भी, जिन्होंने कड़ी मेहनत की और सहयोग दिया।

डेविड मिलनर का, जिन्होंने हमेशा की तरह पाण्डुलिपि के सम्पादन का ज़बरदस्त काम किया। कभी-कभी मुझे महज़ इतना भर सोचने की ज़रूरत होती थी कि मज़मून पर अतिरिक्त मेहनत करने के सिलसिले में डेविड क्या कहेंगे।

पेंगुइन रेंडम हाउस की मेरी क्रिएटिव डायरेक्टर सुज़ान डीन का, जो पुस्तक की जैकेट के पीछे की सक्रिय प्रतिभा हैं।

राइअट कम्युनिकेशन्स की प्रीणा गढीर और उनके सहकर्मियों का, जिन्होंने एक अद्भुत जनसम्पर्क मुहिम की योजना को अंजाम दिया।

स्पीगल एंड ग्राव की सिन्डी स्पीगल का, उनकी प्रतिक्रिया के लिए और अटलांटिक के पार उनकी देखरेख के लिए।

(अंटार्किटिका को छोड़) दुनिया के सारे महाद्वीपों के मेरे दूसरे प्रकाशकों का, जिन्होंने मेरे प्रति भरोसा जताया, समर्पित और व्यावसायिक ढंग से काम किया।

मेरे शोध-सहायक इदान शेरर का, जिन्होंने प्राचीन सायनागॉगों से लेकर आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस तक हर चीज़ को जाँचा।

श्मुएल रोज़नर का, जिन्होंने निरन्तर सहयोग और अच्छा परामर्श दिया।

यीगल बोरोशॉव्स्की और सराइ आरोनी का, जिन्होंने पाण्डुलिपि को पढ़ा और मेरी ग़लतियाँ सुधारने तथा चीज़ों को नए परिप्रेक्ष्य में देखने में मुझे सक्षम बनाया।

डैनी ऑर्बाच, युड़ी सबाक़, योराम योवेल और रॉन मेरम का, कामिकेज़, निगरानी, मनोविज्ञान और ऐल्गारिदमों के बारे में उनके गहरे ज्ञान के लिए।

मेरी समर्पित टीम के सदस्यों इदो अयाल, माया ऑर्बाच, नामा वार्टेनबर्ग और इलोना एरिएल का, जिन्होंने मेरे ई-मेल अकाउंट के नर्क में कई दिन गुज़ारे।

अपने सारे दोस्तों और परिवार के सदस्यों का, उनके धैर्य और स्नेह के लिए।

अपनी माँ नीना और सास हन्ना का, जिन्होंने मुझे अपना वक़्त और अनुभव प्रदान किया।

मेरे जीवन-साथी और मैनेजर इत्ज़िक के लिए, जिनके बिना यह कुछ भी मुमकिन न हुआ होता। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि पुस्तक कैसे लिखी जाती है। बाक़ी सब उन्होंने किया है।

और अन्त में, अपने सारे पाठकों का, उनके द्वारा ली गई रुचि, उनके द्वारा दिए गए वक़्त और उनकी टिप्पणियों के लिए। अगर कोई पुस्तक शेल्फ़ में रखी रहे और उसको कोई न पढ़े, तो क्या वह कोई प्रभाव पैदा करती है?

*

जैसा कि इस पुस्तक की भूमिका में कहा गया है कि यह पुस्तक जनता के साथ संवाद के आधार पर लिखी गई है। बहुत-से अध्याय उन सवालों के जवाब में लिखे गए हैं, जो मुझसे पाठकों, पत्रकारों और मेरे सहकर्मियों ने पूछे थे। कुछ हिस्सों के शुरुआती प्रारूप इस पुस्तक से पहले निबन्धों और लेखों के रूप में प्रकाशित हो चुके थे, जिन्होंने मुझे प्रतिक्रियाएँ प्राप्त करने और अपने तर्कों को धार देने का अवसर उपलब्ध कराया। इन शुरुआती प्रारूपों में नीचे अंकित निबन्ध और लेख शामिल हैं :

‘If We Know Meat Is Murder, Why Is It So Hard For Us to Change and Become Moral ?’, Haaretz, 21 June 2012 .

‘The Theatre of Terror ’, Guardian, 31 January 2015 .

‘Judaism Is Not a Major Player in the History of Humankind ’, Haaretz, 31 July 2016 .

‘Yuval Noah Harari on Big Data, Google and the End of Free Will ’, FT.com , 26 August 2016 .

‘Isis is as much an offshoot of our global civilisation as Google ’, Guardian, 9 September 2016 .

‘Salvation by Algorithm: God, Technology and New 21st Century Religion ’, New Statesman, 9 September 2016 .

‘Does Trump’s Rise Mean Liberalism’s End ?’, New Yorker, 7 October 2016 .

‘Yuval Noah Harari Challenges the Future According to Facebook ’, Financial Times, 23 March 2017 .

‘Humankind: The Post-Truth Species ’, Bloomberg.com , 13 April 2017 .

‘People Have Limited Knowledge. What’s the Remedy? Nobody Knows ’, New York Times, 18 April 2017 .

‘The Meaning of Life in a World Without Work ’, Guardian, 8 May 2017 .

‘In Big Data vs. Bach, Computers Might Win ’, Bloomberg View, 13 May 2017 .

‘Are We About to Witness the Most Unequal Societies in History ?’, Guardian, 24 May 2017 .

‘Universal Basic Income is Neither Universal Nor Basic ’, Bloomberg View, 4 June 2017 .

‘Why It’s No Longer Possible For Any Country to Win a War ’, Time.com , 23 June 2017. 386

‘The Age of Disorder: Why Technology is the Greatest Threat to Humankind ’, New Statesman, 25 July 2017 .

‘Reboot for the AI Revolution ’, Nature News, 17 October 2017 .

अनुवाद के बारे में

मदन सोनी हिन्दी के लेखक हैं जो मुख्यतः साहित्यालोचना के क्षेत्र में सक्रिय हैं। आलोचना पर केन्द्रित उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं तथा उन्होंने विश्व के कई शीर्षस्थ लेखकों और चिन्तकों की रचनाओं के अनुवाद किये हैं जिनमें शेक्सपियर, लोर्का, नीत्शे, एडवर्ड बॉण्ड, मार्ग्रेट ड्यूरास, ज़ाक देरीदा, एडवर्ड सईद, उम्बर्तो एको (द नेम ऑफ़ द रोज़) आदि शामिल हैं। मंजुल प्रकाशन के लिए उनके द्वारा किये गये अनुवादों में हरमन हेस्स का उपन्यास *सिद्धार्थ* , विश्व के प्रसिद्ध लेखकों की कहानियों का संचयन *चुग़लख़ोर दिल और अन्य कहानियाँ,* डैन ब्राउन का उपन्यास *दि द विंची कोड,* युवाल नोआ हरारी की पुस्तक *सेपियन्स : मानव-जाति का संक्षिप्त इतिहास* और *होमो डेयस,* प्रमोद कपूर की पुस्तक *गाँधी : एक सचित्र जीवनी,* शीला रेड्डी की पुस्तक मिस्टर एंड मिसेस जिन्ना और एस. हुसैन ज़ैदी की पुस्तकें *डोगरी टु दुबई* (डोगरी से दुबई तक) तथा *बायकला टु बैंकॉक* (बायकला से बैंकॉक तक) शामिल हैं।

भोपाल स्थित राष्ट्रीय कला-केन्द्र भारत भवन के मुख्य प्रशासनिक अधिकारी के पद से सेवा-निवृत्त सोनी को अनेक सम्मान और पुरस्कार प्राप्त हुए हैं, जिनमें मानव संसाधन विकास मन्त्रलय, संस्कृति विभाग की वरिष्ठ अध्ययन-वृत्ति और रज़ा फ़ाउण्डेशन पुरस्कार शामिल हैं। वे नान्त (फ़्रांस) के उच्च अध्ययन संस्थान के फ़ैलो भी रहे हैं। आपसे madansoni12@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।